यात्रा-साहित्य
का
उद्भव और विकास

[आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक
डा० सुरेन्द्र माथुर
एम. ए., पी-एच. डी.

१९६२
साहित्य-प्रकाशन
मालीवाड़ा, दिल्ली

Travel

प्रकाशक :
साहित्य प्रकाशन,
मालीवाड़ा,
दिल्ली ।

मूल्य : रु० १२·५०
बारह रुपये पचास न० पै०

मुद्रक
रसिक प्रिंटर्स,
५, सन्त नगर, करौलबाग,
नई दिल्ली-५

प्राक्कथन

सन् १९५७ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त मेरी इच्छा शोध-कार्य करने की हुई। इस ओर विचार करने पर मेरे मस्तिष्क में कई विषय आए। एक विषय 'यात्रा-साहित्य का अध्ययन' भी था। अपनी सैलानी रुचि-अनुकूल मेरा मन इस पर बहुत जमा, यद्यपि मुझे स्वयं सन्देह था कि मैं इसे कार्यरूप में परिणत कर सकूँगा अथवा नहीं, इसी ऊहापोह में पड़ा हुआ मैं, हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आदरणीय डाक्टर दीनदयालुजी गुप्त के सम्मुख उपस्थित हुआ और उन्हें अपना विचार बतलाया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस विषय का उन्होंने पूर्ण अनुमोदन किया। एक तो यह विषय अभी तक अछूता था और दूसरे मेरी रुचि तथा उत्साह भी इस ओर विशेष था। मुझे इनका समर्थन प्राप्त करके अतीव प्रसन्नता हुई और मैंने कार्य आरम्भ किया।

मुझे उक्त विषय की सामग्री के सम्बन्ध में यद्यपि कुछ सन्देह था किन्तु जब मैंने खोज-ढूँढ प्रारम्भ की तो ऐसा प्रतीत हुआ कि सामग्री इतनी प्रचुर है कि मैं उसे इस छोटी-सी कृति में कैसे समाविष्ट कर पाऊँगा। वास्तव में यात्रा-साहित्य के सूत्र हमें वेदों से ही उपलब्ध होते हैं, उन वेदों में जो आर्यों की यात्राओं के मध्य में ही रचे गए थे।

हिन्दी में यात्रा-साहित्य लिखने की चेतना के साथ 'यात्रा-साहित्य' का निर्माण नहीं हो सका था। पाश्चात्य संसार के सम्पर्क, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास, भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसके फलस्वरूप विदेशियों का भारत-भ्रमण, स्वतन्त्र भारत की नीति तथा जीवन में परिवर्तन, नवीन स्थानों की खोज आदि ने हिन्दी यात्रा-साहित्य को विकसित कर इसमें आधुनिकता का सूत्रपात किया। हिन्दी यात्रा-साहित्य का आधुनिक तथा वर्तमान प्रगतिशील रूप केवल बीसवीं शताब्दी की देन है, इसके पूर्व जो कुछ भी साहित्य है वह जीवन में की गई यात्राओं की अस्पष्ट घटनाओं का केवल उल्लेख मात्र है, जिनमें रचयिताओं की श्रद्धा-भक्ति, धार्मिकता और स्थानों की प्रशंसात्मकता से पूर्ण भावनाओं की चर्चा मुख्य रूप से थी। आज की भाँति तब न उनमें वर्णनात्मक प्रणाली के दर्शन होते थे, न वैज्ञानिक विश्लेषण के।

हिन्दी यात्रा-साहित्य की ओर आलोचकों की उदासीनता ही रही है। क्योंकि अभी तक किसीने भी 'यात्रा-साहित्य' का एक साथ गवेषणात्मक अध्ययन नहीं किया है।

लेखक को यात्रा-साहित्य सम्बन्धी विविध प्रकार की प्रचुर सामग्री के एकत्रित करने में विभिन्न स्थानों की यात्राएँ भी करनी पड़ी हैं। सामग्री के लिए विविध संग्रहालयों, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; विधान सभा पुस्तकालय; गंगाप्रसाद मेमोरियल पुस्तकालय; अमरुद्दौला पुस्तकालय; टैगोर पुस्तकालय (लखनऊ); हिन्दी सभा, सीतापुर आदि से लेखक को सहायता मिली है। इसके साथ ही लेखक को यात्रा-साहित्य के मूल लेखकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने पर बहुत-कुछ मौलिक सामग्री प्राप्त हो सकी है। अनेकों ग्रंथ जो अब अप्राप्य-से हैं, लेखक को इन्हीं लोगों की कृपा से प्राप्त हो सके है। जीवनी-अंश मूलरूप से यात्रा-साहित्य के लेखकों की कृपा का फल है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखकों, उनकी रचनाओं, जीवनियों एव उनके साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है। प्रबन्ध में सभी प्रकार का परिचय दिया गया है, यह तो उसके अवलोकन से ही मालूम होगा और इसे दुराग्रह कहा जा सकता है, क्योंकि सभी देने पर सभी बातें अपूर्ण रहती है।

हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत मे जितने भी महत्त्वपूर्ण यात्रा-ग्रंथ सुलभ थे, मैंने उनसे मधु-संचय करने का यही प्रयत्न किया है और 'क्वचिदन्यतोपि' कहने की तो आवश्यकता ही नहीं।

आज स्वतन्त्र भारत के उन्मुक्त वातावरण में और हिन्दी के राष्ट्र-भाषा स्वीकार हो जाने से हिन्दी यात्रा-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल प्रकाश का आभास देता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में यात्रा के स्वरूप, अर्थ तथा क्षेत्र पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में यात्रा-परम्परा का विवेचन किया गया है। इसमें वैदिक काल से लेकर, पौराणिक, रामायण, महाभारत तथा ऐतिहासिक युग तक पाई जाने वाली यात्रा-परम्परा को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही इसमें प्राचीन ग्रंथों में पाये जानेवाले यात्रा-प्रसंगों को भी प्रमाण-सहित उद्धृत किया गया है।

तीसरे अध्याय को तीन खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में यात्रा-साहित्य की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है जिनमें ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन के साथ ही यातायात के साधन, प्रमुख यात्रा-मार्ग एवं यात्रा-उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। दूसरे खण्ड में यात्रा-साहित्य का काल-क्रम के अनुसार विभाजन किया गया है। तीसरे खण्ड में विषय के अनुसार यात्रा-साहित्य का वर्गीकरण किया गया है।

चौथे अध्याय में यात्रा-साहित्य के लेखकों की जीवनी तथा उनकी कृतियों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है।

पाँचवाँ अध्याय मूलरूप से तीन खण्डों में विभाजित है। इस अध्याय में समस्त हिन्दी यात्रा-साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में—स्वदेश-विदेश की यात्राएँ ली गई हैं। दूसरे खण्ड में—वर्णन-शैली के बाह्य रूपों का मूल्यांकन किया गया है। इसमें विभिन्न रूपों में पाए जानेवाले यात्रा-साहित्य (जैसे—काव्य के रूप में, वर्णनात्मक निबन्धों के रूप में, पत्रों के रूप में, डायरी के रूप में) का साहित्यिक मूल्यांकन किया गया है। तीसरे खण्ड में—वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन, वहिर्दर्शन एवं भाषा पर विचार किया गया है।

अन्त में उपसंहार के साथ ही प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में प्राचीन हस्तलिखित यात्रा-ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है।

इस ग्रंथ के प्रणयन में मेरे योग्य निर्देशक—गुरुवर डाक्टर ब्रजकिशोरजी मिश्र का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। उन्होंने अपने सुलझे हुए विचारों से मुझे महत्त्व-पूर्ण सुझाव दिए हैं और आलोचना की दिशा में मुझे स्वच्छ दृष्टि प्रदान की है। साथ ही डाक्टर दीनदयालुजी गुप्त ने समय-समय पर मुझे अमूल्य सुझावों के साथ सदैव प्रोत्साहन दिया है, इन दोनों गुरुवरों की कृपा के कारण ही यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका।

—लेखक

★

विषय-सूची

★

: १ :

यात्रा का स्वरूप, अर्थ तथा क्षेत्र

यात्रा-अन्तर्दर्शन—'यात्रा' शब्द की व्युत्पत्ति या+ष्ट्रन शब्द से हुई है। व्याकरण[1] के अनुसार यह स्त्रीलिंग शब्द है। इस शब्द के विभिन्न विद्वानों ने अनेक अर्थ दिए हैं। इनमें से कुछ विद्वानों के अर्थों को यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

पण्डित गणेशदत्त शास्त्री के मतानुसार यात्रा शब्द का अर्थ : "जीतने की इच्छा से राजाओं का जाना, धावा करना या देवता के उद्देश्य से एक प्रकार का उत्सव" माना गया है।[2]

परन्तु चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्माजी इसका अर्थ : "सफर, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया (यथा—यात्रा चैवहि लौकिकी) से लगाते हैं।[3]

शर्माजी का यह अर्थ कहीं तक सही सिद्ध होता है। परन्तु हिन्दी विश्व-कोषकार श्री नगेन्द्रनाथ बसु के मत का इस अर्थ से साम्य नहीं बैठता। वह हिन्दी विश्वकोष में इसका अर्थ निम्न प्रकार से देते हैं :—

> **(सं० स्त्री) या हुयामाशुभ्रसिम्यस्त्रन्। उण् ४।१६७) इति ष्ट्रन्-टाप्। विजय की इच्छा से कहीं जाना, चढ़ाई पर्याय व्रज्या, अभिनिर्याण, प्रस्थान, गमन, गम, प्रस्थिति। दर्शनार्थ देवस्थानों को जाना, तीर्थाटन। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की क्रिया आदि।**[4]

वास्तव में यह अर्थ उपर्युक्त सभी अर्थों से अधिक वैज्ञानिक और ठोस है। इसी प्रकार का अर्थ अंग्रेजी साहित्य का विद्वान् मेकडोनल भी देता है।[5] परन्तु बेनजे

---

१. पद्मचन्द्र कोष—पृ० ४०२, तृतीय संस्करण, १९२५ ई०

२. वही

३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ—पृ० ६८९-९०, प्रथम संस्करण १९२८ ई०

४. हिन्दी विश्वकोष—१८वाँ भाग—पृ० ६३०, सं० १९२९ कलकत्ता

५. Going, departure, journey, march, military expedition, festive trains, procession, pilgrimage (to the shrine of a deity), festivity, livelihood, maintenance, kind of dramatic entertainment, selling forth on a journey or march—" A practical Sanskrit Dictionary.
—Dr. Arthur Anthony Mecdonell, M. A., Ph. D., LL. D.,
Page 244, Oxford Press—1924.

अपने कोष में इस शब्द का अर्थ कुछ और ही देता है।[१] उपर्युक्त सभी अर्थों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यात्रा का वास्तविक अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया ही अधिक न्यायसंगत और उपयुक्त है। उपयुक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यात्रा का प्रमुख लक्षण है संचरणशीलता—एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना, निरन्तर स्थान परिवर्तन करना। संसार ही इस यात्रा का क्षेत्र है।

संसार-मूलाधार—पण्डित गणेशदत्त शास्त्री के मतानुसार संसार शब्द का अर्थ "देह को आरम्भ करने हारा अदृष्ट-विशेष—आधारे घुज् विश्व दुनिश्रां, भावे घुज्" संगति से है।[२] विश्वकोषकार[३] इसका अर्थ—"ससंख्यस्मादिति संसृगतौ घुज् से लगाता है, जिसका अर्थ है मिथ्याज्ञान की वासना। मिथ्याज्ञान का जो संस्कार है उसका नाम संसार है। स्वादृष्टोपनिबद्ध शरीर परिग्रह को भी संस्कार कहते हैं। बौद्ध के मत से जन्म-मरण परिग्रह रूप गति का नाम ही संसार माना गया है। तभी कहा भी गया है :—

संसरणं संसारः, जन्ममरण परस्परेत्यर्थः।
अथवा संसरन्त्यस्मिन् सत्वाइति संसारः॥

संसार तथा यात्रा—यात्रा से संसार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव अपने-अपने अदृष्ट द्वारा जो शरीर धारण करता है उसीका नाम संसार है, अर्थात् महाअदृष्टानुसार जन्म ग्रहण करने को ही संसार कहते हैं। प्राणीमात्र को संसार का मिथ्याज्ञान जन्म-वासना द्वारा होता है। अतएव मिथ्याज्ञान-जन्य संस्कार ही इसका कारण है। इसी कारण निवृत्ति होने से संस्कारों की निवृत्ति भी हो जाती है। जब तक संस्कार विनष्ट नहीं होता, तब तक प्राणी की जीवन-यात्रा के लिए संसार अवश्यम्भावी है, क्योंकि प्राणीमात्र से संसार का मूल सम्बन्ध है। वह इस सम्बन्ध से अलग भी नहीं हो सकता। क्योंकि मिथ्याज्ञान से वह मुक्त नहीं हो सकता है। यह मिथ्याज्ञान, ज्ञान द्वारा ही निवृत्त होता है, अतएव जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक प्राणी की सांसारिक यात्रा से निवृत्ति नहीं होती। प्राणी की जीवन-यात्रा में नाना प्रकार के दुख हैं जिनमें वह सदैव बद्ध रहता है। इसका मूल कारण संसार ही है। जब तक जीव का संसरण अर्थात् यातायात या जन्म-मरण का आवागमन रहता है, तब तक वह अपनी जीवन-यात्रा में दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता। इस कारण जब तक संसार रहता है, तब तक दुःख रहता है, संसार की निवृत्ति होने से प्राणीमात्र के दुःख की भी निवृत्ति होती है। वास्तव में इसका यही कारण है कि संसार का मूल ही अज्ञान

---

१. "The march of an assailing force, the procession of ideals passing away time."

—Sanskrit English Dictionary—Theodore Benjey, Page 741, London 1866.

२. पद्मचन्द्र कोष—पं० गणेशदत्त शास्त्री, पृ० ५०४

३. हिन्दी विश्वकोष—नगेन्द्रनाथ बसु, त्रयोविंश भाग, पृ० ४३४—१९३० ई०

है। इस जीवन-चक्र में आकर प्राणीमात्र संसार की नाना योनियों में बद्ध हो जाता है और नाना योनियों में भ्रमण करता है। इस प्रकार वह संसार से भी घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए हुए है और इस आवागमन की यात्रा-परम्परा को भी प्रश्रय दे रहा है।

संसार की संचरणशीलता—संसार गतिमान है, यह सर्वविदित है; पर संचरण एवं गति है क्या, यह देखना चाहिए। संचरण-गति के अनुभव में तीन उपादान होते हैं—देश, काल तथा द्रव्य का अनुभव। वास्तव में मन में कुछ सम्बद्ध अवस्थाओं के पारम्पर्य्य की अनुभूति को गति या संचरणशीलता कहते हैं। संसार की संचरणशीलता की अनुभूति बलों के विशेष पारस्परिक सम्बन्ध की अनुभूति के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। ससारी जीव के शरीर में अंशों के परस्पर के सम्बन्ध से जो गतियाँ उत्पन्न होती है, उन्हींकी अनुभूति जीवधारी में सबसे पहले उत्पन्न होती है। इस प्रकार से उत्पन्न संचरणशीलता कभी ध्वंस नहीं हो सकती वरन् वह केवल संसार में रूपान्तरित होती रहती है। संसार की यह संचरणशीलता कभी एक वस्तु से दूसरी में संचरित होती है, कभी एक आकार से दूसरे आकार में परिवर्तित होती है और कभी एक आत्मा से दूसरी आत्मा में गतिमान हो जाती है।

दार्शनिक तथा भौतिक दृष्टि—दर्शन जीवन की आलोचना है। संसार का प्रत्येक प्राणी जन्मता है, उसीमें पलता-पनपता है और अंत में उसीमें अपनी संसारी जीवन-यात्रा समाप्त करता हुआ लीन हो जाता है। वास्तव में यह मानवी जीवन के स्वरूप, तात्पर्य, प्रयोजन, प्रारम्भ तथा अत के प्रश्नों में प्रविष्ट होता है। यह संसारी जीवन उसके मूल्य तथा उसके तात्पर्य की व्याख्या है। उसके उद्गम तथा लाभ से दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दार्शनिक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संचरणशील होने के कारण प्रत्येक प्राणी संसार में भ्रमण करता है। उसी गतिशील प्राणी के चरम आदर्शों का मूल्यांकन और अन्वेषण ही दर्शन है।

जीवों में सचरण-शक्ति जन्मजात रहती है। भले ही वह शक्ति पेड़-पौधों की जड़ों अथवा लज्जावती की शाखा की तरह सीमित हो, अथवा जानवरों, पशु-पक्षियों की तरह व्यापक। इस संचरण-शक्ति के फलस्वरूप संसारी जीव उत्तेजनशील, संचरणशील और प्रतिक्रियाशील होते हैं तथा अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं। एक जीव से दूसरा जीव जन्म लेता है, अतएव जीवन में सतत धारावाहिकता गतिशीलता उत्पन्न होती है। सौ वर्ष पूर्व मानव का विश्वास था और आज भी बहुत-से लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने या प्रकृति ने उसको ऐसा ही बनाया है। हिन्दू-मत के अनुसार विष्णु भगवान् की नाभि से एक कमल-नाल की उत्पत्ति हुई जिसके दूसरे सिरे पर ब्रह्मा बैठे थे। फिर ब्रह्माजी ने सृष्टि-रचना की। अर्थात् सब ही जीव अनादि काल से ब्रह्मा की सृष्टि के फलस्वरूप संसार में संचरण कर रहे हैं। ईसाई और मुसलमान-ग्रंथ भी ईश्वर की सृष्टि से जीवों की उत्पत्ति और संचरणशीलता का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक और भौतिक दोनों ही

दृष्टियों से यह स्पष्ट है कि संसार संचरणशील है और उसमें संसारी व्यक्ति सदैव गतिमान रहता है।

विकासवाद : शरीर-विकास की अद्भुत यात्रा—साधारणतः लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने सारे संसार के जानवरों, कीड़ों और पेड़ों की सृष्टि एक ही समय में की है, परन्तु विचारवान् विद्वानों का कथन है कि संसार के सभी प्राणियों की उत्पत्ति एक ही पदार्थ, एक छोटे-से कोष से हुई है। व्यक्ति के विकास का सिद्धांत बड़ा सरल है। हमारी पृथ्वी तथा उस पर रहनेवाले सभी जीवों का जीवन प्रारम्भ से ही परिवर्तनशील रहा है। व्यक्ति के विकास में यह परिवर्तन आज भी हो रहा है। संसार के सभी जीव और पदार्थ एक ही वस्तु से बने हुए है, और निकटवर्ती भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण इनमें तारतम्य देख पड़ता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का सभी लोगों पर सभी समयों में प्रभाव पड़ता है। अतएव अवस्था, काल और क्रमिक विकास के कारण ही एक छोटा-सा कोष मनुष्य का आकार ग्रहण कर सकता है और इसीसे व्यक्ति का विकास हो रहा है।

विकासवाद के सभी प्रमाणों को एकत्रित कर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट करनेवाले विद्वान् चार्ल्स डारविन थे। ए० आर० वालेस भी डारविन की ही भाँति जीवों का विकास प्राकृतिक निर्वाचनवाद से मानते है। डारविन तथा वालेस के प्राकृतिक निर्वाचनवाद की नींव तीन तथ्यों और उनसे निकले हुए दो परिणामों में है :—

प्रथम तथ्य : जीव में सन्तानोत्पत्ति की बृहत् शक्ति, अर्थात् जीव में एक से दो, दो से चार और इसी प्रकार बढ़ते रहने की शक्ति।

दूसरा तथ्य : जीवों की जन्म-संख्या की स्थिरता, अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की बृहत् शक्ति होने पर भी जीवों की संख्या का लगभग उतना ही रहना।

डारविन के विकासवादी सिद्धान्त में निम्नलिखित तीन बातें आती हैं :—

(१) **आकस्मिक अथवा स्वतः परिवर्तन**—शरीर के कोष्ठों में आकस्मिक अथवा स्वतः होनेवाले परिवर्तन लगातार होते रहते हैं, जो प्रौढ़ शरीर में भी परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। कुछ परिवर्तन अनुकूल और कुछ प्रतिकूल होते हैं। यदि अनुकूल परिवर्तन अधिक होते हैं तो वह जाति जीवन-संघर्ष में विजयी होकर जीवित रहती है।

(२) **वंश-परम्परा द्वारा आकस्मिक परिवर्तनों से अगली पीढ़ी में परिवर्तन।**

(३) **प्राकृतिक चुनाव व योग्यतम अवशेष**—प्राकृतिक साधनों के पर्याप्त न होने से उनमें भोजन के लिए संघर्ष होता है। इस संघर्षमय जीवन में प्रकृति योग्यतम अथवा बलिष्ठ का ही चुनाव करती है। जीवन-संघर्ष में बलवान् या योग्यतम का

अवशिष्ट रहना ही अलंकारमयी भाषा में प्राकृतिक चुनाव कहलाता है। परिणाम यह होता है कि प्रतिकूल परिवर्तनों के आधिक्यवाला नष्ट हो जाता है।[1]

प्रकृति विकास के कार्यों को किस प्रकार धीरे-धीरे कर रही है ? किस प्रकार एक जीव दूसरे जीव का आकार ग्रहण कर लेता है ? किस प्रकार समुद्र के एक छोटे-से कीड़े से मानव की उत्पत्ति हुई ? आदि प्रश्नों का उत्तर १६वीं शताब्दी के मध्य में वैज्ञानिक अन्वेषण और अध्ययन के बाद डारविन ही देने में सफल हो सके थे। उनके कथानानुसार कोई भी एक ही जाति के दो पशु या पौधे एक प्रकार के नहीं होते; थोड़ा-सा प्रभेद दो मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार का बना देता है। जीवन-होड़ में वही प्राणी जीवित रह सकते हैं, जो सब प्रकार से योग्य हैं। अयोग्यों की अकाल मृत्यु हो जाती है। जो जीवित रहते हैं वे अपने गुण अपनी आगे आनेवाली संतानों को दे जाते है। यही क्रम जारी रहता है। क्रमिक-विकास का प्रत्येक काल हमें यात्रा-वृत्ति से प्रेरित ही दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण जीव और वातावरण की परिवर्तनशीलता है।

सरल आकृति के जीवों से जटिल आकृति के विकसित जीवों की उत्पत्ति हुई और क्रम से जीवों का आविर्भाव होता गया। यात्रा-वृत्ति से प्रेरित मानव का क्रमिक विकास ठीक उसी भाँति हुआ जिस प्रकार वृक्ष के तने से शाखाएँ और उनसे उपशाखाएँ निकलती रहती हैं। प्राणी के इस क्रमिक-विकास-क्रम में अनेक परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनो के साथ-साथ यात्रा-वृत्ति भी परिवर्तित होती गई। क्रमिक-विकास के साथ कैनोज़ाइक काल में पृथ्वी के धरातल और वातावरण में बहुत बडे परिवर्तन भी हुए। इन्हीं परिवर्तनो के द्वारा हिमालय, एल्पस आदि ऊँचे-ऊँचे पर्वत बने हैं। कैनोजाइक की अंतिम हिम-युग की सर्दी से आधुनिक काल उष्णता की ओर गया और धीरे-धीरे प्राणी से मानव का क्रमिक-विकास पूर्ण विकसित रूप में आगया। मानव के इस विकास-क्रम के साथ-साथ अन्य स्तनपोषी जीव भी विकसित हुए। परन्तु इस युग के सभी जीवों में मानव सबसे अधिक विकसित जीव है। दयानन्द पंतजी इस सम्बन्ध मे लिखते है :—

"मानव, वानर, कपि आदि किसी भी आधुनिक समय में विद्यमान जन्तु से विकसित नहीं हुआ। मानव, वानर, कपि आदि का पूर्वज एक ही था जो विलुप्त है।"[2]

प्राणी से क्रमशः मानव रूप में विकसित हो जाने पर मानव का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास भी हुआ। धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और उन पूर्तियों के लिए उसे नई-नई परिस्थितियों का

१. इण्ट्रोडक्शन टू फिलासफी—जी० टी० डब्लू पेट्रिक, पृ० १३१
२. विकासवाद—दयानन्द पंत, पृ० ४८

सामना करना पड़ा, जिससे उसके जीवन में शिल्प, कला और विज्ञान का विकास हुआ। इसके साथ ही मनुष्य में भाषण-गुणों की, सादृश्य एवं सामान्य अनुमान की शक्ति भी समाहित होती गई। इन गुणों द्वारा वह अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाता रहा है। मानव का यह गुण हमें दूसरे जीवों में नहीं मिल सकता है। प्राणी से मानव का इस अवस्था तक यात्रा का क्रमिक-विकास संस्कृति से पूर्ण है, क्योंकि संस्कृति मनुष्य की उपज है, जो अपना प्रभाव बहुत दूर तक डालती है। यदि उसमें संस्कृति का अभाव हो तो वह बुद्धिहीन पशु के समान है। कुछ विद्वान् प्राणी से मानव के इस क्रमिक विकास में धार्मिक स्वरूप को अमान्य एवं अवैज्ञानिक घोषित करते हैं। आगस्टे कामटे ही एक ऐसा प्रथम दार्शनिक विद्वान् था जिसने सर्वप्रथम इस विचार-धारा को घोषित किया कि, "वे सभी अवस्थाएँ जिनमें से मानवीय समाज अपना विकास करता चला आया है, अब भी पृथ्वी के सभी सजीव प्राणियों में दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ तक क्रमिक-विकास के साथ ऐतिहासिक परिवर्तनों का सम्बन्ध है, मानव जाति में अनेक परिवर्तन हुए, परन्तु सांस्कृतिक विकास के मार्ग में भूत और वर्तमान का तारतम्य एक समान रहा है।[1] मानव की जीवन-यात्रा के इस क्रमिक विकास का प्रश्न शताब्दियों से वैज्ञानिकों की खोज का विषय रहा है और उन्होंने अपने विभिन्न मत इस सम्बन्ध में प्रकट किए हैं। कई विकासवादियों के अनुसार तो मानव-विकास का प्रारम्भ पशु-जगत् से ही माना जाता है। उनके कथनानुसार मानव प्रारम्भ में लंगूर की शक्ल में था, परन्तु विकासवाद के इस सिद्धान्तानुसार उसके रूप में परिष्कृत परिवर्तन होते गए और कालान्तर के बाद वह इस रूप में आ सका। अतएव इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानव का विकास-क्रम हमें पृथ्वी और चट्टानों के बीच में से उपलब्ध होनेवाले निरवातक (Fossils) की पूरी जानकारी कर लेने से भली-भाँति प्राप्त हो सकता है। प्राणिशास्त्र के विकास द्वारा भी यह पता चलता है कि मनुष्य का क्रमिक-विकास लंगूर से जोड़ना हास्यास्पद है। कोई भी वैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि वर्तमान काल का मनुष्य गोरिल्ला और गिब्बन की सन्तान रहा होगा।

निष्कर्षतः मानव-जीवन का विकास-क्रम हमें उस अनादि काल से चली आती हुई यात्रा-परम्परा का परिचय देता है जो उसके जीवन में बद्धमूल है।

व्यक्ति का मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास : अन्तर-यात्रा—अपनी जीवन-शिला पर स्थिर हो जाने के पश्चात् मानव ने अपने मन पर भी बल दिया और उसने मानसिक चिन्तन प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यही मानसिक चिन्तन उसके मानसिक विकास में सहायक सिद्ध हुआ। अपने इसी विकास के कारण आज वह वायुयान द्वारा ब्रह्मलोक की यात्रा भी कर आता है। वेदकालीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानव की बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक विकास का, जिस पर

---

१. विश्वभारती—सीतलाप्रसाद सक्सेना का लेख—पृ० ६९-७० सं० १९९६

भक्ति-मार्ग के अचल शिलाधार की मूल-भित्ति खड़ी है, उसका अस्तित्व बहुत प्राचीन है। वह कर्मकाण्ड का युग था, जबकि आर्य प्रत्येक प्राकृतिक घटना या वस्तु में किसी-न-किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा में यज्ञ आदि कर्मों का अनुष्ठान करते रहते थे। व्यक्ति के जीवन के विकास-काल में प्रार्थना या विनय के द्वारा वे अपने दैनिक जीवन को आनन्द के साथ व्यतीत करने की ही इच्छा व्यक्त किया करते थे। उसका प्रधान उद्देश्य ऐहिक सुखों तक ही सीमित था और उसका ध्यान अन्तःकरण की साधनाओं की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ही ओर अधिक आकृष्ट रहा करता था। उस समय मानव जितना महत्व मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एव विधियों के निर्वाह को देता था, उतनी चिन्ता अपने हृदय की शुद्धि अथवा बाह्य मनोविकारों के परिष्कार की नहीं रखता था। हाँ, अपने आन्तरिक विकास के प्रयत्न में वह शुभ कृत्यों के परिणामों एवं उनकी सफलता पर निर्भर रहता था और इस दृष्टि से यदि हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि प्रारम्भिक विकास-युग में उनके कर्मकाण्ड भी मूलतः उनकी श्रद्धा द्वारा ही प्रेरित हुआ करते थे। इसीलिए भागवतकुमार गोस्वामीजी ने कहा भी है—

"बिना श्रद्धा के यज्ञ का कोई भी अर्थ नहीं। श्रद्धा ही वास्तव में यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में कुछ भी अन्तर नहीं है।"[१]

इसी कारण मानव के विकास-काल में भक्ति की भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा किसी एक की ओर अग्रसर होती है।

मानव के क्रमिक-विकास-काल में ही जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का भी उदय हुआ। जीवात्मा के कर्म एवं जन्मान्तर की कल्पना के आधार पर आर्यों के हृदय में इस बात की भी उत्कंठा जगी कि कर्मवर्धन के अनवरत चक्कर से उसे उन्मुक्त करने के लिए अधिक-से-अधिक महत्वपूर्ण साधन काम में लाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति एवं बौद्धिक विकास के लिए उन्होंने सासारिक कर्म-जाल से पृथक् रहकर परमात्मचिंतन में संलग्न होने की एक ऐसी साधना आरम्भ की जिसके अभ्यास-क्रम की दीर्घव्यापिनी क्रिया तप व तपस्या के रूप में परिणत हुई।" तब तक वैष्णव धर्म के किसी भी अंग की कदाचित ही रचना तो पाई थी और स्वयं भक्ति शब्द भी उस काल में श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेम-मात्र के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ करता था।[२] धीरे-धीरे मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ और भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव आर्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में पीछे अधिक गम्भीरता आने पर हुआ और तभी वह प्रारम्भिक श्रद्धा व उपासना से विकसित होती हुई क्रमशः उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य व मूलतत्व में भाग लेना व्यक्त करनेवाले

---

१. दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेएट इण्डिया—भागवतकुमार गोस्वामी, पृ० ६

२. वैष्णविज़्म-शैविज़्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स—भंडारकर, पृ० ४१

अधिक व्यापक भाव में परिणत हुई।[1] इसी प्रकार संहिताकाल में विष्णु सर्वप्रथम एक साधारण देवता के रूप में दिखाई पड़ते हैं; पर ऋग्वेद के कई स्थलों पर वे एक आदित्य-मात्र समझे जाते हैं और दिनभर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देने के कारण आर्य उन्हें महत्व देते है और उनका यशोगान करते हैं। उनकी बौद्धिक महत्ता बड़े-बड़े डगों द्वारा आकाशमंडल वा सारे ब्रह्माण्ड को माप देने पर ही निर्भर है। जैसे अविनश्वर गोपा विष्णु ने केवल तीन पगों द्वारा ही सम्पूर्ण विश्व लाँघ दिया।[2] इसी प्रकार विष्णु ने भी तीन पग किए और वे इस ब्रह्माण्ड को लाँघ गए।[3] इन तीन पगों मे से केवल पहले दो (पृथ्वी और अन्तरिक्ष) को मनुष्य देख व प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे तक कोई नहीं पहुँच पाता, वह चिड़ियों की उड़ान से भी ऊपर है। ऋग्वेद में ऐसी कल्पना की गई है।[4] इन पदों में तृतीय पद ही विष्णु का परमपद है। उसे विद्वज्जन आकाश की ओर सदा ऊँची दृष्टि लगाकर देखा करते है।[5]

इस प्रकार इन पग-यात्राओं द्वारा भी व्यक्ति का धीरे-धीरे मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास प्राचीन युग से होता आया है। इस विकास-क्रम को यदि हम मनुष्य के अन्तर्लोक की यात्रा की संज्ञा प्रदान करें तो क्या अनुचित होगा ?

मनुष्य, मनुष्यत्व एवं ईश्वरत्व

मनुष्य—परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यो का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है. जो स्वरूप एक होते हुए भी नाना प्रकार से निखिल प्राणियों का विस्तार करता है, जो माया के सम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से मुक्त-सा प्रतीत होता है, उसीको मनुष्य कहते हैं। इसी मनुष्य की सचरण-शक्ति से विभिन्न अवतारों की अभिव्यक्ति होती है। यह केवल मनुष्य के आध्यात्मिक संकल्पमात्र से कार्यो का संवादन करते है। इसलिए प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य पदार्थों में प्रविष्ट होते हुए भी अचिंत्य शक्ति के द्वारा,उनसे तनिक भी स्पर्श नही होता। भागवत का स्पष्ट कथन है कि आदिदेव नारायण मानव-विकास काल में प्रकृति में अधिष्ठित होकर पंचभूतों की सृष्टि करते है तथा उनके द्वारा ब्रह्माण्ड नामक विराटपुरी अथवा देह की रचना करते है। तत्पश्चात् उसमें अपने अश के द्वारा प्रवेश करते है और उसमे गतिशीलता या संचरण की शक्ति प्रदान करते हैं। इस

१. कल्याण कल्पतरु—कीथ, पृ० ५५४ (गोरखपुर, अगस्त १९३६)
२. त्रीणिपदानि चक्र में विष्णुगोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद १।२२।१८
३. इदंविष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्—ऋग्वेद १।२२।१७
४. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्यनेकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ।। ऋग्वेद १।१५५।५
५. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीय चक्षुराततम—ऋग्वेद १।२२।२०

प्रकार विराटपुरी में जीव कला के द्वारा प्रवेश करने पर नारायण ही पुरुष शब्द के द्वारा अभिहित किए जाते हैं—

भूतैर्यदा पंचभिरात्म-सृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान्—
मवाप नारायण आदि देवः ॥[1]

मनुष्यत्व—काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु साधारण हैं । उन शत्रुओं को प्रबल न होने देना ही यथार्थ मनुष्यत्व है । हिन्दू-साहित्य और समाज में ऐसे ही मनुष्यत्व का प्रकाश फैला हुआ है । जैसे मानव-प्रकृति पाशव-प्रकृति का आधार है, वैसे ही देव-प्रवृत्ति की भी लीलाभूमि है । मनुष्यों में जितना ही देवभाव आएगा, उतना ही पाशव-भाव का अन्तर्धान होगा । धर्मव्याध ने कहा था कि जैसे सूर्य का उदय होने से अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे ही पुण्य कर्म के उदय होने से पाप नष्ट हो जाता है । यह तो निर्विवाद ही है कि जितना अधिक पुण्य होगा, उतना ही पाप आप-ही-आप अलग होगा । पुण्य और देवत्व का उच्च आदर्श खड़ा करके पाप को दूर करने के लिए आर्यों ने साहित्य में बड़ी निपुणता दिखाई है । इस उच्चादर्श में अपने हृदय को संलग्न करना ही मनुष्यत्व है ।

ईश्वरत्व—पशुत्व और मानवत्व की भावना से ऊपर उठकर श्रद्धा जब मानव को ईश्वर के निकट ले जाती है, तो उस अवस्था पर पहुँचकर मानव को अपने उपास्यदेव के बीच कुछ भेद नहीं दीख पड़ता है । दोनों मिलकर एक रूप हो जाते हैं । अपने भीतर का विश्वात्मा अथवा परमात्मा अहं के साथ मिल जाता है । यहाँ पर पहुँचकर सब कुछ ब्रह्ममय होकर ईश्वरत्व का रूप धारण कर लेता है । यही ईश्वरत्व पंच भूतों की सृष्टि करता है, यही सृष्टि के समस्त शुभ का भी निर्माता है । यही सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान माना जाता है । समस्त विश्व का अस्तित्व, सारे गुणों की खान इसीमें अन्तर्निहित है । यही विश्व का पालक, चालक एवं सर्वेसर्वा है । ईश्वरत्व ही शक्तिशाली है, नित्य है, सत्य है, स्वयंभू है और है अपनी सृष्टि से भिन्न । मानव में अनेक दुर्गुण, दुर्बलताएँ होती हैं, पर यह उनसे परे है ।

ईश्वर और जीव में मौलिक अन्तर है । ईश्वर स्वयं आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति से सम्पन्न है । जीव अणु-मात्र है जो गन्ध की भाँति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, उसका चैतन्य गुण सर्वशरीरव्यापी है । जीव असंख्य, नित्य और सनातन है । जीव अंश है और ईश्वर अंशी । जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार अंशी से असंख्य जीव निकले । इसीलिए कहा भी गया है—

ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

---

१. भागवत—११।४।३

(इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मन सहित छः इन्द्रियों को आकर्षण करता है। अंशी ब्रह्मसत्य (जीव) अंश भी सत्य (अंशांशी भाव) अद्वैत संसारबद्ध जीव (अविद्यामाया युक्त) का ईश्वरैक्य नहीं।)

ईश्वर की प्रतीति जगत् में ही हो सकती है, दृश्यमान जगत् से परे ईश्वर नहीं। यह अजन्मा है, अविनाशी है। जीव सीमित है, ईश्वर असीम। जीव निर्बल है, ईश्वर सर्वशक्तिमान।

अतः ईश्वरत्व, जीव की आध्यात्मिक यात्रा का आगे बढ़ा हुआ क्षेत्र है।

निष्कर्ष

यात्रा का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जीवनगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सदैव से ही बड़े-बड़े पर्वत, घनघोर जंगल और जलते हुए रेगिस्तानों की यात्रा करता आया है। बिना यात्रा किए उसका जीवन-निर्वाह दूभर था, उसके पास अन्य कोई साधन भी न थे। धीरे-धीरे भ्रमण द्वारा मानव यात्रा-क्षेत्र में प्रगति करने लगा। उसने अपना क्षेत्र व्यापक बनाया और दूर-दूर के स्थानों का भ्रमण प्रारम्भ किया। उसे नवीन बातों की जानकारी प्राप्त हुई और उसके जीवन का बौद्धिक विकास हुआ, साथ ही उसकी विचारधारा भी विकसित हुई और वह जीवन में प्रगति के पथ पर अग्रसर होने लगा।

यह प्रगतिशीलता हम संसार के प्रत्येक प्राणी में पाते हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग भी इससे वंचित नहीं दिखाई देते हैं। प्रारम्भ से ही सुन्दर यात्राओं, नेतृत्व और संगठन द्वारा पशु-पक्षी भी प्रगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इनका भी यात्रा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुधा यह भी देखा गया है कि चीटियों के समूह युद्ध की आकाक्षा करनेवाली सेना लेकर बन्दियों को पकड़ने के लिए जाते थे। इसी प्रकार भेड़ियों के झुण्ड भी आपस में मिलकर अच्छा शिकार कर लेते और अपने से ही अधिक बली तथा बड़े जानवरों को भी परास्त कर देते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करनेवाले पक्षियों के जीवन में भी उनकी नियमित ऋतु-सम्बन्धी सुदूर यात्राओं में पारस्परिक सहयोग, नेतृत्व तथा संगठन का अच्छा परिचय मिलता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणी-मात्र ने प्रारम्भ से ही अपनी क्षुधा शांत तथा जीवनानन्द के लिए विभिन्न स्थानों का भ्रमण आरम्भ किया था। धीरे-धीरे यात्रा प्रगति की ओर अग्रसर हुई और उसके फलस्वरूप इसका विकास भी हुआ। यात्रा के विकास का यह रूप हमें मानव से लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा अनेक जीवधारियों में भी दृष्टिगोचर हुआ। कुछ विशेष प्रकार के पक्षी जैसे कोयल, कुक्कुट आदि हमें किन्हीं निश्चित ऋतुओं में ही दिखाई पड़ते हैं, जिससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि विभिन्न ऋतुओं में वे विभिन्न प्रदेशों की यात्राएँ किया

---

१. विश्वभारती—संतलाप्रसाद सक्सेना का लेख, पृ० ६९-७०, सं० १९९६ वि०

करते हैं, और इस प्रकार वे यात्रा की प्रगति को बनाए हुए हैं। अपनी यात्रा शीलता के कारण ही उन्हें यात्री-पक्षी (Migratory birds) कहते हैं। प्रारम्भ में यात्राओं के उद्देश्य सीमित थे और आज के युग में वे व्यापक हो गए हैं। प्रारम्भ में मानव तथा पशु-पक्षी इधर-उधर भटककर अपनी क्षुधा-शांति का उपाय करना ही अपना प्रमुख उद्देश्य बनाए हुए थे। मध्य-युग में यात्रा का स्वरूप व्यापारिक विजयाकांक्षा तथा ज्ञानपिपासा की तुष्टि का साधन था। आज के युग की इस प्रगतिशील स्थिति में यात्रा कई उद्देश्यों को लेकर की जाती है। कुछ व्यक्ति केवल तीर्थ-दर्शन, सौन्दर्य-लिप्सा आदि के हेतु यात्रा करते हैं, कुछ पर्वतीय दृश्यों में प्रकृति के रहस्य एवं वैराग्य और धर्म-साधना की दृष्टि से यात्रा करते हैं तथा कुछ मन-बहलाने मात्र के लिए यात्रा करते हैं। जीवन के बहुमुखी विकास के साथ-साथ इसके उद्देश्य भी समय के अनुसार बदलते तथा व्यापक होते जा रहे हैं। यह सब बातें हमें संकेत करती हैं कि यात्रा का प्राणीमात्र से सम्बन्ध आज का नहीं है, वरन् वह सृष्टि के आरम्भ-काल का है, अनादि काल से यह सम्बन्ध आज भी उसी रूप में है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्राणीमात्र का यात्रा से अविच्छिन्न सम्बन्ध सदैव रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

: २ :

साहित्य में यात्रा-परम्परा

पूर्वकथन——प्रागैतिहासिक युग से हमारे यहाँ यात्राओं का बड़ा महत्व रहा है। वैदिक युग में व्यापारिक यात्राओं का प्राधान्य था। व्यापार के अतिरिक्त धर्म-यात्राएँ होती थीं, अन्य प्रकार की यात्राएँ गौण थीं। सभ्यता के इस युग में भी लोग प्रायः यात्राएँ किया करते थे। जल और स्थल दोनों प्रकार की यात्राएँ होती थीं, विभिन्न देशों से आवागमन होता रहता था। लोगों के पास नावें थीं, जहाज़ थे। वे दुनिया का भौगोलिक वृत्तान्त भी बहुत कुछ जानते थे। वे सभ्य, शिक्षित, साहसी, उदार, व्यापार-कुशल, शिल्पकला निपुण, वीर और अध्यवसायी थे। भारतवासियों का कितने ही सभ्य और अर्द्धसभ्य देशों से सम्बन्ध था। हमारे साहित्य के ग्रन्थ इस काल की इन यात्राओं के वर्णनों से भरे पड़े हैं। इन वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में इनके अनेक उल्लेख देखे जा सकते हैं।

युग-विभाजन तथा यात्रा-निर्देशक ग्रन्थ—भारतीय यात्रा-साहित्य को हम कई युगों में विभाजित कर सकते हैं। स्थूल रूप से यह विभाजन तीन रूपों में हो सकता है—

१. **वैदिक युग** (**१५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक**)
२. **प्रागैतिहासिक युग** (**१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक**)
३. **ऐतिहासिक युग** (**६०० ई० पू० से १२०० ई० तक**)

यह युग-विभाजन ही हमारे यहाँ अधिक काल से चला आ रहा है और अधिकतर मान्य है। अब आगे हम उपर्युक्त प्रमुख युगों के यात्रा-ग्रन्थों का निर्देशन करेंगे।

१. वैदिक युग (१५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)—वैदिक युग हमारे साहित्य में सबसे प्राचीन युग माना जाता है। इस युग का काल १५०० से २०० ई० पू० विद्वानों द्वारा मान्य है।[१] यात्रा-साहित्य का प्रारम्भ हमें इसी युग से मिलने लगता है, जिसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ आगे आनेवाले सभी युगों में बढ़ती रहीं और यात्रा-साहित्य आगे भी पनपता रहा। इसे ही यदि साहित्य का जन्म-युग मानें तो

१. इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका, भाग १६, पृ० ६५७, लन्दन १६४६ ई०

कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग के यात्रा-निर्देशक ग्रन्थों में वेद (१२०० ई० पू० से १००० ई० पू०)[1] और ब्राह्मण ग्रन्थ (८०० ई० पू० से ६०० ई० पू०) प्रमुख हैं।[2]

२. **प्रागैतिहासिक युग (१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक)**—इस युग का साहित्य में बहुत बड़ा स्थान है। सांस्कृतिक साहित्य को पनपने का अवसर इस युग में ही मिला। इस युग में नवीन साहित्य की वृद्धि हुई और उसके विभिन्न रूप विकसित हुए। इस युग में यात्रा-निर्देशक ग्रन्थों की भरमार रही है जिसमें यात्राओं के उदाहरण भरे पड़े हैं। प्रमुख रूप से इस युग के यात्रा-निर्देशक ग्रंथों में पुराण, रामायण, महाभारत का उच्च स्थान है। यह ग्रंथ इतने महान् हैं कि यदि इनको ही युग का आधार माना जाय तो अनुचित न होगा। इन ग्रंथों के आधार पर हम—

१. **पौराणिक युग**

२. **रामायण युग**

३. **महाभारत युग**—भी मान सकते हैं।

देश की संस्कृति का चरम विकास उपर्युक्त युगों में हुआ। समाज की चरमोन्नति के साथ-साथ मानव के जीवन-साधनों का भी विकास हुआ। उसने अपना कार्य-क्षेत्र भी बढ़ाया। अतः उसे यात्राएँ करनी पड़ीं। अनेक प्रकार की यात्राओं के रोचक, कवित्वपूर्ण विवरण तथा सूक्ष्म विवरण उक्त ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं।

३. **ऐतिहासिक युग (६०० ई० पू० से १२०० ई० पू० तक)**—गौतम बुद्ध का आविर्भाव भारतीय इतिहास का आरम्भ है। इस समय से क्रमबद्ध भारतीय इतिहास उपलब्ध होता है। तत्कालीन विद्वानों, कवियों, नाटककारों के ग्रंथ भारतीय साहित्य के गौरव हैं। इन ग्रंथों में उपलब्ध यात्रा-विवरण बड़े ही रोचक तथा व्यापक हैं। इस युग के अन्तर्गत भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ विद्वानों की कृतियों से यात्रा-संदर्भ दिए गए हैं।

वैदिक युग (१५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)—संसार में ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि इस युग में भी यात्राएँ हुआ करती थीं। यात्री भले ही दूर की यात्रा न किया करते हों, पर करते अवश्य थे। ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न पाँच मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि इस युग के आर्य व्यापार आदि के लिए ही यात्रा किया करते थे। इस प्रकार की यात्राएँ वे अधिकतर समुद्र की राह से करते थे। अन्य स्थानों व देशों का भ्रमण भी वे सागर द्वारा ही किया करते थे। इसी प्रकार का यात्रा-विवरण करते हुए ऋग्वेद में लिखा गया है

---

१. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग १—अध्याय ४, डॉ० कीथ, पृ० १००, १९५५ संस्करण दिल्ली

२. वही—पृ० १००

कि "समुद्र में जिस रास्ते जहाज़ चलते हैं उसका पूर्ण ज्ञान वरुण को है।"[१] इस प्रकार के विवरण इस बात के द्योतक हैं कि यह लोग यात्रा-मार्गों के सम्बन्ध में भी ठीक तरह से जानते थे, और उस काल में भी वरुण देवता माने जाते थे। उस समय के यात्रा-विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि इन यात्रियों की यात्रा किन वाहनों के द्वारा हुआ करती थी। जहाज़ द्वारा विदेश-यात्रा के विवरण का संकेत है। ऋग्वेद के एक स्थल पर मिलता है जहाँ पर यह लिखा है कि "यात्रा आदि में लोभ के वशीभूत होकर व्यापारी लोग अपने जहाज़ विदेशों को ले जाते हैं।[२] विदेशों की यात्रा उस वैदिक युग में भी प्रधान थी। उस समय के यात्रियों की कर्मशीलता का भी उल्लेख हमें ऋग्वेद के एक स्थल पर मिलता है। वहाँ लिखा है कि "व्यापारी बड़े ही कर्मशील हैं, वे अपने लाभ के लिए सब जगह जाते हैं, समुद्र का ऐसा कोई भी भाग नहीं जहाँ वे न गए हों।[३] इससे यह स्पष्ट है कि यात्रा के लिए लोग सभी जगह भ्रमण करते थे, यद्यपि उनका उद्देश्य अर्थ-लाभ ही होता था। वे अपनी इन यात्राओं के लिए जहाज़ों को बनाने में स्वयं सिद्धहस्त थे। जहाज़ की इस प्रकार की यात्राओं में लोगों को बड़ा आनन्द आता था। उनका मनोरंजन भी इन सागरीय यात्राओं द्वारा होता था। इस प्रकार का विवरण भी हमें ऋग्वेद के एक स्थल पर मिलता है। उसमें लिखा है कि—एक जहाज़ के बनाने में बड़ी कारीगरी की गई थी। उस पर सवार होकर वशिष्ठ और वरुण समुद्र-यात्रा करने गए। उन्हें उसके हिलने से बड़ा आनन्द आया था।[४] मनोरंजन के अतिरिक्त इस युग में राजनैतिक दृष्टियों के लिए भी जहाज़-यात्रा अनिवार्य-सी थी। राजनियमों के अनुसार युद्ध करने लोग जहाज़ों से जाया करते थे। सागर में तूफान आते थे और जहाज़ के यात्री डूब जाते थे। इसी प्रकार का एक विवरण ऋग्वेद में भी मिलता है। उसमें लिखा है कि राजर्षि तुमने सुदूर द्वीप-निवासी अपने कुछ शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए अपने पुत्र भुज्यु को

१. देखिये, ऋग्वेद (१-२५-७)।
वेदो यो वीना यदमन्तरिक्षेण यतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥
२. उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जारा रथानाम्।
ये अस्या आदरणेषु दधिरेन श्रवस्य वः॥ (१-४८-३) ऋग्वेद
३. तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणस :
समुद्रं न संचरणे सनिष्यव :।
पतिं दक्षस्य विदमस्य नू सहो
गिरि न वेना अधिरोह तेज सा॥ (३-५६-२) ऋग्वेद
४. आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं,
प्रमत समुद्रमीरयाव मध्यमम्॥
अधिय दयां स्त्रुभिस्चराव। प्रपेखं ईखंयाव हे शुभेकम्॥
वशिष्ट ह वरुणो ना व्याधा दृषि चकार स्वयामहोमिः।
स्तोतारंविप्रः सुदिनत्वे अन्हां यान्नु द्यावस्त तनन्यादुषासः॥
(७-८८-३, ४) ऋग्वेद

जल-सेना के साथ भेजा। रास्ते में तूफान आ जाने से जहाज़ टूट गया। इस कारण भुज्यु अपने साथियों समेत समुद्र में ऊब-डब करने लगा। वहाँ उस समय उसे उस विपत्ति से बचानेवाला कोई न था। परन्तु दैवयोग से आश्विन नाम के दो जोड़िया यात्री-भाइयों ने आकर उनकी रक्षा की और वह डूबने से बच गया।[1] लगभग ५वीं शती ई० पू० के वैदिक साहित्य में यात्राओं के विषय में बहुत प्रकार की जानकारी मिलने लगती है। इस साहित्य में 'नौ' सम्बन्धी शब्दों की बहुतायत से, सामुद्रिक यातायात का विशेष निर्देश मिलता है 'वेद नावः सामुद्रियः।' वैदिक साहित्य से इस बात का भी पता चलता है कि आर्य प्रागैतिहासिक युग से चलनेवाले छोटे-मोटे जंगली रास्तों, ग्राम-पन्थों और किसी तरह के कारवाँ-पन्थों से बहुत दिनों तक संतुष्ट नहीं रहे। ऋग्वेद और बाद की संहिताओं में भी हमें लम्बी सड़कों (प्रपथों) का उल्लेख मिलता है।[2] डा० सरकार के कथनानुसार इन लम्बी सड़कों पर रथ चल सकते थे।[3] वैदिक युग के यात्रियों में केवल व्यापारीवर्ग ही नही होता था, वरन् यात्रा करनेवालों में साधु-संन्यासी, तीर्थ-यात्री, फेरी लगानेवाले, घोड़ों के व्यापारी, तरह-तरह के खेल-तमाशेवाले, पढ़नेवाले छात्र एवं पढ़कर देश-दर्शन के लिए निकलनेवाले चरक नामक विद्वान्—सभी तरह के लोग थे। यात्री यात्रा के समय खाने का सामान अपने साथ लेकर चला करते थे, क्योंकि यात्रा-मार्ग में उन्हें खाद्य-सामग्री प्राप्त नहीं हो पाती थी। इस प्रकार यात्रा में खाने के लिए जो सामान यात्री अपने साथ ले जाते थे उसे 'आवर्स कहते थे।[4] वैदिक युग में लम्बी यात्राएँ व्यापारी लोगों द्वारा ही होती थीं, जिसका प्रमुख उद्देश्य ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनुसार तरह-तरह से पैसा पैदा करना[5], लाभ के लिए पूँजी लगाना[6] और लाभ के लिए दूर देशों में माल भेजना था।[7] इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें वेदों में प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि इस युग की यात्राएँ धन-लाभ के लिए विशेषतः की जाती थीं और उन यात्रियों का यही प्रमुख उद्देश्य था जिसके लिए वे दूर-दूर के देशों का भ्रमण किया करते थे। उस समय के सागरीय जहाज़ बहुत छोटे ही नहीं

१. तुग्रोह भुज्युमश्विनोदमेघ
   रयिं न कश्चिन्ममृवां अवाहाः।
   तमूहथु नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्ष
   प्रुद्भिर पोदकाभिः ॥ (१-११६-३) ऋग्वेद
२. ऋग्वेद १०।१७।४-६, ऐतरेय ब्राह्मण ७।१५, काठक संहिता ३७।१४, अथर्ववेद ८।८।२२—परिरथ्या।
३. सम आसपेक्ट ऑफ दि अर्लियर सोशल लॉइफ ऑफ इण्डिया
   —डा० सुविमलचन्द्र सरकार, पृ० १४, लन्दन १९२८
४. शतपथ ब्राह्मण २।६।२।१७
५. ऋग्वेद ३।११८।३
६. अथर्ववेद ३।१५।६
७. वही—३।१५।४

वरन् बहुत बड़े-बड़े भी होते थे जिनमें सौ डाँड तक लगते थे।[१] इतने बड़े-बड़े जहाजों पर यात्रियों की भीड़ विदेश-यात्रा के लिए जाया करती थी। कभी-कभी यह जहाज राह में टूट जाते थे और यात्रियों की मृत्यु भी हो जाती थी। इस प्रकार सागर-यात्रा में जहाज के टूटने का संकेत भी हमें बुहलर द्वारा मिलता है। बुहलर के अनुसार इस प्रकार की घटना हिन्द महासागर में भुज्यु की किसी यात्रा की ओर संकेत करती है, जिसमें उसका जहाज़ टूट गया।[२] इस युग के सागर में यात्रा करनेवाले अपने साथ पक्षियों को भी ले जाया करते थे और उनसे सागर के तट का ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार का उदाहरण भी हमें वेदों में प्राप्त होता है। भुज्यु के जहाज़ के सागर में टूटने पर जब वह इस दुर्घटना में पड़ा तो उसने किनारे का पता लगाने के लिए कुछ पक्षियों को छोड़ दिया।[३] यह पक्षी कहाँ गए, इसका कुछ भी उल्लेख हमें नहीं मिलता है; पर अधिकतर जब किनारा निकट होता है, तो यह पक्षी उसी ओर उड़कर चले जाते हैं और पुनः नहीं लौटते। और यदि किनारा दूर होता है, तो यह पक्षी सागर के ऊपर मँडराते रहते हैं और फिर जहाज़ पर ही शरण लेते हैं। इन पक्षियों से जहाज़ के यात्री स्थल की स्थिति का सहज में पता लगा लेते थे। उनके पास अन्य कोई ऐसे साधन नहीं थे जिनसे वे तट-स्थानों का पता लगा सकते। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी प्रागैतिहासिक युग में वैदिक आर्य, समुद्र की तथा थल की यात्राएँ बहुतायत से किया करते थे। यद्यपि वैदिक-युग में समुद्र की यात्रा विहित मानी जाती थी; पर सूत्र काल में शायद जाति-पाँति और छुआछूत के विचार से सागरीय यात्रा का निषेध हुआ। परन्तु उस समय भी उत्तर के ब्राह्मण लोग समुद्र-यात्रा किया करते थे। बौधायन सूत्र के अनुसार इस प्रकार से समुद्र की यात्रा करने-वाले ब्राह्मण, शास्त्र-विहित न होने से जात-बाहर माने जाते थे।[४] यद्यपि इस युग में सभी प्रकार के लोग यात्रा किया करते थे और यात्रा करना एक साधारण बात हो गई थी। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से यही पता चलता है कि समुद्र-यात्रा एक साधारण-सी बात थी जिसे सभी कर सकते थे; पर मनुस्मृति के अनुसार यही ज्ञात होता है कि मनु भी सम्भवतः समुद्र-यात्रा के पक्षपाती नहीं थे[५]; पर उपर्युक्त निषेध शायद ब्राह्मणों तक ही सीमित था।

यात्रियों को यात्रा-मार्ग में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। तरह-तरह के चोर-डाकू यात्रियों के मार्ग में लगते थे जो पांथ-घातक या परिपंथिन् कहे

---

१. ऋग्वेद १।११६।५
२. वैदिक इण्डेक्स २, १०७-१०८
३. ऋग्वेद ६।६२।२
४. बौधायन धर्म सूत्र १।१।२४
५. मनुस्मृतिः २।१।२२

जाते थे।[1] रास्ते में यात्रियों को मार डालने, लूटने आदि का कार्य इन डाकुओं द्वारा हुआ करता था। अथर्ववेद[2] भी यात्रियों के रास्ते में लगनेवाले डाकुओं को नहीं भूलता। इसी वेद में एक स्थान पर जंगली जानवरों और डाकुओं से यात्री की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना भी की गई है।[3] राह की अनेक बाधाओं में यात्री ईश्वर से विनती किया करते थे और कभी-कभी इन बाधाओं का मुकाबला भी करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण[4] का "चरैवेति मंत्र" आध्यात्मिक आधिभौतिक उन्नति के लिए गतिशीलता और यात्रा पर बहुत ज़ोर देता है। इसी ग्रंथ में एक स्थान पर यात्रियों के मार्ग की बाधाओं के सम्बन्ध में डाकुओं और भेड़ियों का उल्लेख भी किया गया है और यह भी बताया गया है कि सड़कों पर चलनेवाले यात्रियों पर निषाद और दूसरे डाकू (सेलग) यात्री-व्यापारियों को पकड़ लेते थे और उन्हें लूटने के बाद गढ़ों में फेंक देते थे।[5] एक ओर इस प्रकार की बाधाएँ यात्रा में आती थीं, दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि के अनुसार यात्रियों का लोग स्वागत करते थे। उन्हें खूब खिलाते-पिलाते थे। यात्री जहाँ-कहीं भी जाता था, उसकी खूब आवभगत होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार का संकेत भी हमें मिलता है। उन्हीं दिनों जहाँ-कहीं यात्री जाते थे, उनकी बड़ी खातिर होती थी। जैसे ही यात्री अपनी गाड़ी से बैल खोलता था, आतिथेय उसके लिए पानी लाता था।[6] इस प्रकार इस वैदिक युग में यात्राएँ सीमित थीं और इनके उल्लेख भी सीमित रूप से मिलते है।

३—(२) **प्रागैतिहासिक युग (१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक)**

(अ) **पौराणिक युग**—वैदिक युग के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक युग में सबसे पहले हमें पुराणों में यात्रा के विवरण प्राप्त होते हैं। इस युग के यात्रा-विवरणों में यात्राओं के साथ-ही-साथ यात्री-व्यापारियों के विवरण भी मिलते हैं जो थल और स्थल दोनों मार्गों से यात्राएँ किया करते थे। इस प्रकार के यात्रा-उल्लेखों से हमारे पुराण भरे पड़े है। इस काल में यात्रा का क्षेत्र वैदिक-युग की भाँति सीमित नहीं था, वह विस्तृत रूप धारण कर चुका था। यात्रा करने की एक परम्परा भी चल निकली थी, जिसने अन्य लोगों को भी इस दिशा में प्रोत्साहन दिया। यात्री इस युग में भी समुद्र के मार्ग से अधिक यात्रा किया करते थे, स्थल से कम। स्थलमार्गीय यात्राएँ या तो वे पैदल किया करते थे या बैलगाड़ी और घोड़ों आदि पर। समुद्र-यात्रा के लिए उनके पास जहाज़ आदि थे। इन जहाजों का उपयोग प्रधानतः व्यापार का

१. पाणिनि सूत्र ४।४।३६ (परिपन्थ च तिष्ठति)
२. अथर्ववेद १२।१।४७
३. वही—३।५, ४।७
४. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१४
५. वही—८।११
६. शतपथ ब्राह्मण ३।४।१।५

सामान लेकर विभिन्न देशों को आने-जाने में किया जाता था। इन यात्राओं में प्रायः प्राण-भय रहता था। इस प्रकार के संकेत हमें वाराहपुराण में मिलते हैं। वाराह-पुराण में गोकर्ण नामक एक निःसन्तान व्यापारी का उल्लेख है। वह समुद्र-पार व्यापार करने गया था, परन्तु तूफान आ जाने से वह समुद्र में डूब गया। इसी पुराण में एक स्थान पर लिखा है कि एक व्यापारी ने कुछ रत्न-परीक्षकों के साथ मोतियों की तलाश में समुद्र-यात्रा की थी।[1] हीरा, मोती की खोज में भी यात्री विभिन्न देशों की यात्रा किया करते थे और वहाँ की संस्कृति आदि का ज्ञानार्जन करते थे। अपनी इस प्रकार की यात्राओं में वे अनेक बाधाओं को झेलते थे और धन-लाभ के साथ-साथ मनोरंजन भी करते थे। वाराहपुराण के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्तपुराण[2] में भी यात्रा का उल्लेख मिलता है। यह वर्णन उस समय का है जब श्रीकृष्णजी मथुरा की यात्रा करते हैं। इसके साथ तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-भ्रमण के अन्य उल्लेख भी हमें इसी पुराण में प्राप्त होते हैं।[3] उस समय राजे-महाराजे तीर्थों की यात्राओं के निमित्त भी यात्रा किया करते थे। यह यात्राएँ रथों पर हुआ करती थीं। वाराहपुराण में इस प्रकार की यात्रा के लिए राजा सुमतिनाम का उल्लेख हुआ है, जो तीर्थ-यात्रा के लिए

---

१. पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता। समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः।
रत्नपरीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च। एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरः सरः॥
समुद्रयामिभिर्लोकैः संविद् सूच्य निर्गतः। शुकेन सह सम्प्राप्तो महान्त लवणार्णवम्।
पोतारूढास्ततः सर्वे पोतवाहैरुपोषिताः॥

—वाराहपुराण, अध्याय १६६

२. श्रीकृष्णो मथुरा गत्वा किं किं कर्म चकार सः।
स्वर्गारोहण पर्य्यन्तं तद् भवान् वक्तुमर्हति॥
× × × ×
श्रीकृष्णश्च गृहीत्वा च संगण मथुरां गतः।
कृष्णः श्री मथुरां गत्वा जघान नृपति मुने॥
× × × ×
गत्वा समुद्र निकटं निर्माय द्वारकां पुरीम।
जहार रुक्मिणीदेवीं जित्वा नृपति संघकम॥
× × × ×
योगे च वसुदेवस्य तीर्थयात्रा प्रसंगतः प्राणाधिष्ठातृदेवीन्च ददर्शतत्र राधिकाम्॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय ५४

३. तीर्थयात्रा प्रसंगेन गणेशपूजनं तथा। दर्शनं राधिकासार्धं कृष्णस्य परमात्मनः॥
राधाया दर्शनं देव्या राधातेजः प्रकाशनम्। राधाया रमणं तीर्थभ्रमणं रहसि स्मृतम्॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय १३०

ही विभिन्न स्थानों को गया था ।[1] इन तीर्थयात्राओं का उद्देश्य पुण्य-लाभ ही हुआ करता था । वाराहपुराण में ऐसी यात्राओं के कई जगह उल्लेख मिलते हैं । कहीं-कहीं पर यात्रा-विवरण के अतिरिक्त तीर्थयात्रा की महिमा एवं उसके महत्व का विशेष रूप से वर्णन किया गया है । वामन पुराण में भी तीर्थ यात्रा का वर्णन मिलता है । प्रहलाद-तीर्थयात्रा का प्रसंग इसका ही एक अंश है ।[2] इसी तीर्थयात्रा का फल वामन पुराण के ७८वें अध्याय में बताया गया है ।[3] इस पौराणिक युग में हमें यात्रा का विस्तार होना दृष्टिगत होता है । इस युग में यात्रा का उद्देश्य भी बदल गया है और लोग मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक दृष्टियों से यात्रा करने लगे हैं ।

मार्कण्डेय पुराण में हमें बलदेवजी की ब्रह्महत्या-जनित पाप-प्रक्षालनार्थ की गई तीर्थयात्रा का कारण-वर्णन मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उस युग में लोग पाप-कर्मो से मुक्ति पाने के लिए भी तीर्थयात्राएँ किया करते थे, वह वर्णन निम्न प्रकार से हैं :—

"बलरामजी ने यह विचार किया कि जब तक कौरव-पांडवों का ध्वंस न हो, तब तक आप-ही-आप विभिन्न तीर्थों में भ्रमण करके आत्मा को पवित्र करूँ । मन में इस प्रकार की भावना को स्थिर कर हृषीकेश पार्थ और दुर्योधन को आमन्त्रित करते हुए अपनी सेना से वेष्ठित हो द्वारिका की यात्रा को चले गए । शौर्य

---

१. सुमतिर्नाम राजा सोद्धार्म्मिको लोकाविश्रुतः । तीर्थयात्रा निमित्तेन स्वर्गलोकं गतःपुरा ॥

× × × × ×

मन्त्रिणश्च ततो ज्ञात्वा पितुर्मरण मेव च । तीर्थयात्रा निमित्तश्च तस्मै राज्ञेन्यवेदयत् ॥

हिताय सर्व्व तीर्थानां हनिष्यामि महारिपुम् । तत्रतीर्थ नियोगेनआगतो मथुरापुरीम् ॥

× × × × ×

तीर्थं वाराह संज्ञे तु मथुरायां व्यवस्थिताः । सुदढ़ाः सुस्पर्शः सुभूयः पश्यति समुच्यते ॥

—वाराहपुराण, अध्याय १६६

२. गते च तीर्थ यात्रायां प्रहलादे दानवेश्वरे ।
कुरुक्षेत्रं समभ्यागादृष्टु वैरोचनोमुने ॥
कोटि तीर्थं रुद्र कोटिर्ददर्श वृषभध्वजम् ।
नैमिषेया द्विजवरा मागधेयाः ससैंधवा ॥

—वामनपुराण, अध्याय ८४

३. नारद उवाच— कानितीर्थानिविप्रेन्द्र प्रहलादोनुजगामह ।
प्रह्लाद तीर्थयात्रां मे सम्य गरिण्यातुमर्हसि ॥
पुलस्त्य उवाच— श्रणुत्वकं कथमिष्यामि पापपंक प्रणाशिनीम् ।
प्रह्लाद तीर्थयात्रा ते सर्व पाप प्रणाशिनीम् ॥

—वही, अध्याय ७८

बलरामजी ने हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरी द्वारावती नगरी में जाकर तीर्थयात्रा करने का विचार किया[1]।

श्रीमद्भागवत महापुराण में बलरामजी की तीर्थयात्रा का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। मुनीश्वरों से विदा हो श्री बलरामजी ब्राह्मणों के साथ कौशिकी नदी के तीर पर आए। वहाँ स्नान कर वे उस सरोवर पर यात्रा करते हुए गए जहाँ से सरयू नदी निकली है। फिर सरयू के किनारे वे प्रयाग मे पहुँचे और वहाँ स्नानादि तथा देवादि तर्पण कर पुलहाश्रम को गए। वहाँ से गोमती, गंडकी और विपाशा नदी में स्नान करते हुए आगे जाकर शोपा नदी में स्नान किया। फिर गया में पहुँचे और वहाँ पितृ-पूजन आदि कर गगासागर में जाकर स्नान किया। तदनतर महेन्द्र पर्वत पर परशरामजी के दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और वहाँ से क्रमश: सप्त गोदावरी, वेणा, पम्पा और भीमस्थी आदि में स्नान करते हुए स्वामिकार्तिकेयजी के दर्शन किए। फिर महादेवजी के निवास-स्थान श्रीपर्वत पर भी यात्रा करते हुए गए। वहाँ भ्रमण कर द्रविड देश में अत्यन्त पवित्र वैंकट पर्वत का दर्शन करते हुए प्रभु बलभद्रजी कामकोपणी नदी में स्नान कर काञ्चीपुरी में पहुँचे। फिर नदियो में श्रेष्ठ कावेरी में स्नान कर जहाँ श्रीहरि निरन्तर विराजमान रहते है, उस महापवित्र रंगक्षेत्र की यात्रा करने गए। वहाँ से हरि के क्षेत्र ऋषिभाद्रि दक्षिण मथुरा और महान् पापों को नष्ट करनेवाले सेतुबन्धु रामेश्वर को गए। वहाँ श्री हलधर ने ब्राह्मणों को दश सहस्र गौएँ दान की। वहाँ सेकृतमाला और ताम्रपर्णा मे स्नान करते हुए कुलाचल मलयपर्वत पर पहुँचे। वहाँ विराजमान अगस्तजी को नमस्कार और अभिवादन कर उनका आशीर्वाद पाया और फिर उनसे आज्ञा ले दक्षिण समुद्र की यात्रा कर कन्या नामवली दुर्गादेवी का दर्शन किया। फिर भगवान् बलभद्रजी केरल और त्रिगर्त देशों में होते हुए गोकर्ण नामक शिवक्षेत्र में पहुँचे जहाँ भगवान् शकर सर्वदा विराजमान रहते हैं। वहाँ से द्वीप में रहनेवाली आयादेवी का दर्शन कर शूर्पारिक क्षेत्र की यात्रा करने गए। फिर तापी, पयोषणी और निर्विन्ध्या नदी में स्नान करते हुए उन्होंने दण्डकारण्य में प्रवेश किया। तदनतर नर्मदा नदी पर पहुँचकर मनतीर्थ में स्नान

---

१. तीर्थष्वाप्ला वमिष्यामितावदात्मान मात्मना। कुरुणा पाण्डवानां च यावदन्ताय कल्पते।
इत्यात्मन्त्रयहृषीकेशं पार्थ दुर्योधनावपिः। जगाम द्वारकां शौरिः स्वसैन्य परिवारितः।
गत्वा द्वारवती रामोतहृष्टपुष्ट जनाकुलाम्। श्रोगन्तयेषुतीर्थेषु पपौपानं हलायुधः।।
पतपानौ जगामाथ रेवतोद्यानभृद्धिमत्। हस्ते गृहीत्वा समंदारेवतीम अप्सरोपमाम्।।
सर्वर्तु फल पुष्पाद्यं शाखामृग गणांकुलाम्। पुण्यं पद्मव नोपेत सपल्वलमहावनम्।।
सश्रृण्यन्प्रीतिजननान्वहून्मदकलाञ्शुभान्। श्रोतरम्यान्सुमधुराञ्शब्दान्खग मुखेरितान्।।
—मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ६

किया तथा प्रभास क्षेत्र में लौट आए। फिर बलरामजी ने कुरुक्षेत्र की यात्रा भी की।[1]

बलरामजी द्वारा की गई तीर्थयात्रा का उल्लेख हमें मार्कण्डेयपुराण में भी मिलता है। उसमें लिखा है : "मैं जो इस तीर्थयात्रा का उद्योग कर रहा हूँ, इस यात्रा में ही प्रतिलोमा सरस्वती में जाऊँगा।" यह कह कर वह यदुकुल-धुरन्धर बलरामजी प्रतिलोमा सरस्वती में चले गए।[2] नारद पुराण में भी हम तीर्थयात्रा का वर्णन ही प्रधान रूप से पाते हैं। इसमें केवल यात्रा का वर्णन ही नहीं किया गया है, वरन् विशेष रूप से तीर्थों की यात्रा के काल का भी विधिपूर्वक वर्णन किया गया है। नाना क्षेत्रों की यात्राओं की विधियों के साथ-साथ यात्रा करने का फल भी विभिन्न स्थलों पर वर्णित कर दिया गया है।[3] इसके अतिरिक्त स्कन्दपुराण में तो यात्रा-वृत्तान्त बहुत ही अधिक है। द्वितीय वैष्णव खण्ड मे रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा, ब्रह्म खण्ड में सेतु-यात्रा, विन्ध्य-नारद-सम्वाद के चौथे खण्ड मे यात्रा-परिक्रमा, पाँचवें अवन्ती खण्ड में पिशाचिकादि यात्रा, महाकालेश्वर यात्रा, कुशस्थली प्रदक्षिणा एवं जयंतिका कुठारेश्वर यात्रा तथा सातवे प्रभास खण्ड में पार्थेश्वर यात्रा एवं मुद्गल यात्रा का वर्णन मिलता है।

---

१. अथतैस्त्वनुज्ञातः कौशिकी मेत्य ब्राह्मणैः । स्नात्वा सरोवर मगाद्यतः सरयरास्त्रवत् ॥
अनुस्रोतेन सरयूं प्रयाग सुपगम्यसः । स्नात्वा सन्तर्प्य दैवाद्यान्चजगाम पुलहाश्रमम् ॥
गोमती, गण्डकी स्नात्वा विपाशा शोण आप्लुतः । गयां गत्वा पितृनिष्ट्वा गंगासागर संगमे ॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च । सप्त गोदावरी वेणां पम्पा भीमरथींततः ।
स्कन्द दृष्ट्वा ययौ रामः श्री शैलगिरिशालयम् ! द्रविडेषु महापुण्यं द्रवाद्रि वेंकट प्रभुः ॥
कामकोष्णी पुरी काञ्ची कावेरी च सरिद्वराम् । श्रीरंगाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥
ऋषभाद्रि हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरा तथा । सामुद्रं सेतुमगमत्महापातक नाशनम् ॥
तत्रायुत महाद्धेनूब्राह्मणेभ्यो हलायुधः । कृतमालांताम्रपर्णी मलयं च कुलाचलम् ॥
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च । योजित स्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गा देवीं ददर्श सः ॥
ततोऽभिव्रज्य भगवान केरलास्तु जिगतकाम् ! गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ।
आर्या द्वैपायनीं दृष्ट्वाशरापारकम गाद्बलः । तापी पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याय दण्डकम् ॥
प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी । मनुतीर्थ मुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमेत् ॥
—श्रीमदभागवत महापुराण, अध्याय १९

२. अथयेंय समारब्धा तीर्थयात्रा मयाधुना । एतामेव प्रयास्यामि प्रतिलोमा सरस्वतीम् ॥
अत्रोजगाम रामौऽसौ प्रतिलोमा सरस्वतीम् ॥
—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ६

३. तीर्थयात्रा वरारोहे कथिता पापनाशिनी ।
येन चैषा कृताद्दष्टा सोऽपि वै मुक्तिभाग्भवेत् ॥
अविमुक्तं तु सुश्रोणि मध्यमावरणं शुभम् ।
एततु कंटकं नाम मृत्युकालेऽमृतप्रदम् ॥
—नारद महापुराण, अध्याय ४९, श्लोक ७३-७४

इस प्रकार की तीर्थयात्राओं का वर्णन उपर्युक्त पुराणों में ही नहीं वरन् महर्षि वेदव्यास पुनीत श्रीमद्भागवत महापुराण के कई अन्य स्थलों पर भी मिलता है। अक्रूर की ब्रजयात्रा का वर्णन करते हुए श्री शुकदेवजी कहते हैं—

"हे राजन्, कंस की आज्ञा पाने पर महामति अक्रूरजी उस रात्रि को मथुरापुरी में ही रहे, दूसरे दिन सवेरे ही रथ पर चढ़कर नन्दजी के व्रज को चल दिए। मार्ग में जाते-जाते महाभाग अक्रूरजी के हृदय में भगवान् कमलनयन की परमभक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और इस प्रकार यात्रा करते हुए भावों के लोक में विचरने लगे।"[१]

अक्रूरजी की इस यात्रा के अतिरिक्त उद्धवजी की ब्रजयात्रा का भी वर्णन हमें श्रीमद्भागवत में मिलता है। इस यात्रा में उद्धवजी कृष्ण की आज्ञा पाकर गोपियों को उपदेश देने के लिए ब्रज की ओर जाते हैं। स्वामी कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर अब उद्धवजी अपनी यात्रा के लिए जाते हैं, तब वे नाना प्रकार के पथों का भ्रमण करते हैं और तब (नन्दजी के गोकुल नंदगाँव) पहुँचते हैं।[२] कौरव-पाण्डव के युद्धीय वातावरण के समय भी बलरामजी को यात्रा करनी पड़ी थी, उसका वर्णन भी इस महापुराण में दिया गया है। कहते हैं, एक बार बलरामजी कौरवों की पाण्डवों के साथ युद्ध-यात्रा की तैयारी सुनकर कोई पक्ष न लेने के विचार से तीर्थयात्रा के बहाने द्वारिका चले गए। द्वारिका से चलकर उन्होंने प्रभास-क्षेत्र में स्नान किया और वहाँ देवता, ऋषि, पितृगण और मनुष्यों को तृप्त कर विप्रमंडली के साथ प्रवाहाविमुख हो सरस्वती के किनारे यात्रा करने लगे। वहाँ से पृथूदक, विन्दुसार, त्रियकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ और पूर्ववाहिनी सरस्वती आदि तीर्थों में यात्रा करते हुए गए। तत्पश्चात् यमुना और गंगाजी के आस-पास के तीर्थों की यात्रा करते हुए नैमिषारण्य में गए जहाँ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे।[३]

---

१. अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥
गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे।
भक्तिं परामुपगत स्वमेतद चिन्तयत्॥
—श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध, अध्याय ३८

२. इत्युक्त उद्धवो राजन्सन्देशं भर्तुराहृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्॥
—वही, अध्याय ७८

३. श्रुत्वा युद्धोधमं रामः कुरूणां सह पाण्डवै। तीर्थाभिषेक व्याजेन मध्यस्थः प्रययौकिले।
स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षि पितृमानवान्। सरस्वती प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मण संवृतः।
पृथूदंक बिन्दुसारस्त्रितकूपं सुदर्शनम्। विशाल ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम्।
यमुना मनु यान्येव गंगामनु च भारत। जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते॥
—श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध, अध्याय ७९

इस प्रकार हम देखते हैं कि पौराणिक युग में यात्रा का वर्णन विस्तार रूप से सभी प्रमुख पुराण-ग्रंथों में मिलता है। इसके अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि इस युग में यात्रा के प्रति विशेष रुचि थी। इस युग के यात्री अधिकतर पौराणिक ही रहे हैं, जिन्हें यात्राओं में बहुत कम बाधाओं का सामना करना पड़ा है। इनके यात्रा-वाहन रथ आदि ही रहे हैं तथा वे जहाज़ों में भी यात्रा किया करते थे। लोगों में धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वे धर्म को अधिक महत्व देते थे। इसी कारण यात्राओं का प्रमुख उद्देश्य तीर्थों का भ्रमण था जिसमें धार्मिक भावना का विशेष महत्व दृष्टिगत होता है। धर्म-लाभ में ही वे अपना मनोरंजन भी समझते थे। अन्य प्रकार की यात्राएँ गौण थीं, ऐसा इस युग के यात्रा-विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है।

(३) **रामायण-युग**:—रामायण-युग में भी हमें यात्रा-सम्बन्धी अनेक स्थल मिलते हैं। अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख हैं जिनसे प्रकट होता है कि भारतवासी सागर की राह एवं स्थल की राह अन्यान्य देशों का भ्रमण किया करते थे। जब वानरेन्द्र सुग्रीव बड़े-बड़े वानरों को सीता का पता लगाने के लिए भेजने लगे, तब उन्होंने उन स्थलों के भी नाम बताए जहाँ सीता के मिलने की सम्भावना थी। इन संभावित स्थलों की वानरों ने पूर्णरूप से यात्रा की और सीता को खोज निकालने का प्रयत्न किया। सुग्रीव ने विनत नामक सेनापति को समझाते हुए कहा: "हे वानरश्रेष्ठ, चन्द्र-सूर्य के समान वानरों के साथ देश-काल और नीति जाननेवाले सौ हज़ार वेगवान वानरों के साथ तुम पूर्व दिशा की ओर जाओ। कर्त्तव्य निश्चय करने में तुम स्वयं बुद्धिमान हो, वहाँ पर्वत, वन, कानन आदि में सीता को और रावण के घर को ढूँढ़ना। दो पर्वतों को, जो वन, पर्वत से शोभित हैं, ढूँढ़ना। ब्रह्ममाला, विदेह मालव, काशी और कौशल को भी ढूँढ़ना। बड़े-बड़े गाँववाले मगध, पुण्ड्र तथा आंगदेश एवं रेशम तथा चाँदी उत्पन्न करनेवाली भूमि का भी भ्रमण करना। जो पर्वत और नगर समुद्र में घुस गए हैं अथवा जो मन्दिर पर्वत के शिखर पर बसे हुए हैं, वहाँ भी ढूँढ़ना। सात राज्यों से युक्त यत्नपूर्वक यवद्वीप में भी तुम जाओ। सुवर्णद्वीप और रुण्यक द्वीप में भी जाओ, जहाँ सोना बनानेवाले रहते हैं।"[1] इसमें समुद्र के द्वीपों, पहाड़ों, नगरों एवं कोषकारों

१. देखिए—किष्किन्धाकाण्डम् वाल्मीकीय रामायण—४०वां सर्ग,

श्लोक : १७, १८, १९, २०, २२, २३, २५, ३० ; पृ० १२४-१२५

शैलाभं मेघानिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरम् । सोमसूर्यनिभैःसार्धं वानरैर्वानरोत्तम ॥१७॥
देशकालनयैर्युक्तौ विज्ञः कार्यविनिश्चये । वृत्तःशतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥१८॥
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम् । तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥१९॥
मार्गध्वं गिरिदुर्गेषु धनेषु च नदीषु च । भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ॥२०॥
महीं कालमहीं चापि शैलकानन शोभिताम् । ब्रह्ममालान्विदेहाश्चं मालवान्काशिकोसलान् ॥२२॥
मागधांश्च महाग्रामान्पुंड्रास्वंगास्तथैव च । भूमि च कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ॥२३॥
समद्रमवगाढांश्च पर्वतान्पत्तनानि च । मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिताः केचिदालयाः ॥२५॥
यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् । सुवर्णरुप्यकद्वीपं सुवर्णकरमिण्डतम् ॥३०॥

—टीकाकार साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, वाराणसी—सं० १९८८

की भूमि का उल्लेख किया गया है। कोषकारों की भूमि से तात्पर्य वर्तमान चीन से है। यवद्वीप और सुवर्णद्वीप का नाम भी आया है, जिन्हें आजकल जावा और सुमात्रा टापू कहते हैं। रक्तसागर का उल्लेख है, जो वर्तमान लाल समुद्र है। इस प्रकार इन स्थलों का भ्रमण किया गया और सीता का पता लगाने का कार्य यात्रा द्वारा हुआ।

यात्राओं के मार्ग में अनेक लोगों के बीच भी युद्ध हो जाया करते थे। कभी-कभी वे युद्ध राजनैतिक कारणों से हुआ करते थे और कभी व्यापार आदि के सम्बन्ध में। रामायण के अयोध्याकाण्ड में एक श्लोक से जल-युद्ध की तैयारी का संकेत मिलता है—"पाँच सौ नावों पर प्रत्येक पर सौ जवान मल्लाह युद्ध के लिए तैयार होकर रहें।"[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय के लोग यात्रा करने तथा युद्ध-यात्रा करने के लिए जंगी जहाज़ बनाना और समुद्र में भी युद्ध करना अच्छी तरह जानते थे। इसके अतिरिक्त रामायण में यात्री व्यापारियों का भी उल्लेख है जो सागर पार के देशों में जाकर व्यापार करते और वहाँ से अपने राजा को भेंट करने के लिए अच्छी-अच्छी चीज़ें लाते थे। इन चीज़ों के द्वारा वे व्यापार में धन-लाभ करते थे।

विश्वामित्र के साथ रामचन्द्रजी मिथिलापुरी की यात्रा करते हैं। इसका वर्णन बालकाण्ड में इस प्रकार दिया हुआ है: "धनुष की विलक्षणता बतलाते हुए, मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने ऋषियों और राम, लक्ष्मण के साथ वन-देवताओं से आज्ञा लेकर मिथिलापुरी की यात्रा को प्रस्थान किया।"[2] इसी काण्ड में राम की जनकपुर की यात्रा का भी प्रसंग आता है: "जनकपुर की यात्रा में राम और लक्ष्मण, विश्वामित्रजी के साथ उत्तर की ओर यात्रा करते हुए चले जाते हैं, और धीरे-धीरे सभी जनकपुर के यज्ञ-मण्डप में पहुँचते हैं।"[3] उनकी इस यात्रा का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। रामचन्द्रजी की वन-यात्रा भी बड़ी महत्वपूर्ण है जो रामायण की कथा की मूल-भित्ति है: "अवशिष्ट रात्रि में पिता की आज्ञा को स्मरण करते हुए राम वन से चले जा रहे थे। यात्रा में चलते-चलते कल्याणमयी रात्रि भी बीत गई। प्रातःकाल संध्या करके वे आगे दूसरे देश की ओर बढ़ गए।"[4] इसके पश्चात् हमें भगवान् रामचन्द्रजी की श्रृङ्गवेरपुर की यात्रा मिलती है। जब धीरे-धीरे यात्रा करते हुए रामचन्द्रजी

---

१. नावां शतानां पंचानां कैवर्तानां शतं शतम्। संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥
—अयोध्याकाण्डम् सर्ग ८४, श्लोक—८, पृ० २७५

२. देखिए—बालकाण्ड—सर्ग ३१, पृ० ८७
"एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत्तदा। सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः।

३. ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह। विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागतम्॥
—बालकाण्ड, सर्ग ५०, पृ० १२८

४. रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्। जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन्॥
तथैवगच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा। उपास्य तु शिवां संध्यां विषयान्तव्यगाहत॥
—अयोध्याकाण्ड, सर्ग ४९, पृ० १७०

शृङ्गवेरपुर में जा पहुँचते हैं।[१] अपनी इस यात्रा में कौशलेश्वर रामचन्द्र ने पर्वतों को पारकर मैथिली सीता को सुन्दर जलवाली मन्दाकिनी नदी का दर्शन कराया और उनसे कहने लगे : "इसके तट कितने सुन्दर हैं। हंस और सारस यहाँ वर्तमान हैं, यह नदी पुष्पों से युक्त है। तीर के अनेक फल-फूलवाले वृक्षों से घिरी हुई है। यात्रा में यह कुबेर के कमल के समान शोभित हो रही है।"[२]

इसके बाद रामचन्द्रजी की पंचवटी-यात्रा का विवरण मिलता है, जब वे महर्षि के बतलाए हुए मार्ग से पंचवटी की यात्रा के लिए प्रस्थान करते हैं : "दानों ही राजकुमार धनुष लेकर वाणों से भरा तरकस पाकर सावधान होकर पंचवटी की ओर चले।"[3] अपनी इस यात्रा में पंचवटी की सौन्दर्यपूर्ण प्रकृति का दृश्य राम को बहुत ही सुन्दर लगा। वहाँ की उस अद्वितीय शोभा को देखकर उनसे न रहा गया और यात्रा-मार्ग में ही वे पंचवटी की सुन्दर वनस्थली का सीता से वर्णन करने लगे। वे कहते हैं : "यहाँ हंस और जलमुर्गे भरे हुए हैं, चक्रवाक इसकी शोभा को और भी द्विगुणित कर रहे हैं। जल पीने के लिए मृगों का समूह इसमें बैठा हुआ है। मयूर बोल रहे हैं, रमणीय और ऊँचे पर्वत हैं, जिनमें अनेक कन्दराएँ हैं, जो विकसित पुष्पों से ढकी हुई हैं।"[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण-युग में यात्राओं में प्रकृति-सौन्दर्य के वर्णन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी। साहित्यिकता का पूर्ण समावेश हो गया था। पद-यात्रा का इसमें प्राधान्य है। रथ के द्वारा भी यात्राएँ हुई हैं और वायुयान के समान आकाशमार्गीय यात्राओं का भी इस युग में संकेत मिलता है; पर राम की यात्रा में प्रकृति का सौन्दर्य अधिक सूक्ष्म तथा मनोरम रूप में वर्णित हुआ है।

रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में हमें बाली की युद्ध-यात्रा का विवरण प्राप्त होता है।[५] इस प्रकार की युद्ध-यात्राओं में राजनैतिक दृष्टि की प्रधानता ही दिखाई

---

१. आससाद महाबाहुः शृंगवेरपुरं प्रति ॥

—अयोध्याकाण्ड, सर्ग ५०, पृ० १७४

२. अथशैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कौशलेश्वरः। अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम्।
विचित्र पुलिनां रम्यां हंस सारस सेविताम्। कुसुमैरूप संपन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम्॥
नाना विधैस्तीर रुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः। राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः॥

—वही, सर्ग ९५, पृ० ३०४

३. तौतु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ। तमाश्रमं पंचवटीं जग्मतुः सहसीतया।
गृहीतचापौ ते नराधिपात्मजो विषक्ततूर्णा समरेष्वकातरौ।
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा प्रजग्मतुः पंचवटीं समाहितौ॥

—अरण्यकाण्ड, सर्ग १३, पृ० ३७

४. हंस कारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता। नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथनिपीडिता।
मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकंदराः। दृश्यन्ते गिरयः सौम्याः फुल्लैस्तरुभिरावृताः॥

—अरण्यकाण्ड, सर्ग १५, पृ० ४१

५. किष्किन्धाकाण्डम—सर्ग १५

देती है। इसी काण्ड में आगे चलकर बानरों की यात्रा का भी विस्तृत वर्णन मिलता है : "बानरों की एक लम्बी सेना युद्ध के लिए यात्रा करती है और बानर-सम्राट् सुग्रीव की आज्ञा पाते ही सारी सेना टिड्डी दल के समान समस्त पृथ्वी पर फैल जाती है।"[1]

रामायण के सुन्दरकाण्ड में हमें कपि हनुमान की आकाश-यात्रा का वर्णन मिलता है, जब वे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर संजीवनी की खोज में यात्रा करते हैं। उस समय वे महावेग से पर्वत, गुफा, नदी, नालों को लाँघते हुए उड़ते चले जाते हैं और संजीवनी की खोज करते हैं।"[2]

युद्ध-काण्ड युद्ध-सम्बन्धी यात्राओं से भरा हुआ है। इसमें युद्ध-यात्रा का ही प्राधान्य है। इसके बाद रामायण के उत्तरकाण्ड में हमे रावण की एक यात्रा मिलती है। इस यात्रा में रावण मधु को मारने के लिए जाता है और स्वयं कहता है : "मेरा रथ शीघ्र तैयार हो, वीरगण तैयार हो जायँ, आज रावण से न डरनेवाले मधु को युद्ध में मारकर, युद्ध करने के लिए मित्रों के साथ देवलोक में जाऊँगा।" रावण के इतना कहते ही चार हजार अक्षौहिणी युद्ध चाहनेवाले राक्षसों की प्रधान सेना अनेक प्रकार के अस्त्रों को लेकर युद्ध-यात्रा के लिए चली। सैनिकों को एकत्र करके इन्द्रजित सेना के आगे चला।[3] रावण की यह यात्रा बड़े ओजपूर्ण शब्दों में वर्णित है। यह यात्रा यहीं पर समाप्त नही होती, मधु को परास्त करके और उसके घर पूजा पाकर वह और भी आगे की यात्रा करता है। कुबेर के निवास-स्थान कैलाश-पर्वत की भी उसने यात्रा की।[4] यह यात्राएँ विशेषकर युद्ध के लिए ही की गई है। इसी काण्ड

---

१. सर्वाश्चहूय सुग्रीवःप्लवगान्प्लवगर्षभः समस्तांश्चब्रवीद्राजा रामकार्यार्थ सिद्धये।
एवमेतद्धि चेतण्यं भवद्भिर्वानरोत्तमैः। तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुंगवाः॥
शलभा इव संच्छाद्य मेदिनी संप्रतस्थिरे। रामः प्रस्रवणे ऽस्मिन्व्यवसत्सहलक्ष्मणः॥
प्रतीक्षमाणस्तं मास सीताधिगमने कृतः। उत्तरां तुदिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम्॥
प्रतस्थे सहसा वीरो हरिः शतबलिस्तदा। पूर्वां दिशं प्रतिययौविनतो हरियूथयः॥
तारांगदादिसहितः प्लवगः पवनात्मजः। अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथयः॥
पश्चिमा च दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः। प्रतस्थे हरिशार्दूलौ दिशं वरुणपालिताम्॥
—वही, सर्ग ४५, पृ० १४१-१४२

२. आप्लुत्यच्च महावेगः पक्षवानिव पर्वतः॥
—सुन्दरकाण्डम्, सर्ग ५७, पृ० १७९

३. वाहनान्यधिरोहन्तु नाना प्रहरणायुधाः। अद्य तं समरे हत्वामधुं रावणनिर्भयम्।
सुरलोकं गमिष्यामि युद्धकांक्षी सुहृद्वृत। अक्षौहिणी सहस्राणिचत्वार्याणि रक्षसाम्॥
नाना प्रहारणान्याशु निर्य्ययुद्धकांक्षिणाम्। इन्द्र जित्वग्रतः सैन्यात्सैनिकान्परिगृह्य च।
—उत्तरकाण्डम्, सर्ग २५, पृ० ८२

४. प्राप्य पूजां दशग्रीवो मधुवेश्मनि वीर्यवान्। तत्र चैका निशामुष्य गमनायोपचक्रमे॥
ततः कैलाशमासाद्य शै वैश्रवणालयम्।
—वही, सर्ग २५, पृ० ८३

में हमें लवण को मारने के लिए सेना-सहित शत्रुघ्न की यात्रा का भी वर्णन मिलता है।[1] उत्तरकाण्ड में ही शत्रुघ्न का अपने पुत्रों का राज्याभिषेक करके अयोध्या की यात्रा करना भी वर्णित है।[2] इस प्रकार रामायण-युग में की गई यात्राओं में यदि प्रारम्भिक अंश में वन, तीर्थ आदि की यात्राओं का प्राधान्य रहा है, तो अन्तिम अंशों में युद्ध-यात्रा का। इन सभी यात्राओं में उस युग का सार समाहित है। उस समय की संस्कृति, युद्ध-यात्रा के प्राधान्य का पुट हमें मिल जाता है। रामायण की इन प्राचीनकालीन यात्राओं से हमें आर्य-सभ्यता के विषय में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इन यात्राओं से हम प्राचीनकालीन भारत की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था को अच्छी तरह जान सकते हैं। इसके साथ ही हमें तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। इन वर्णनों में साहित्यिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत बड़े ही सूक्ष्म तथा हृदयग्राही दृश्य अंकित किए गए हैं। मानव-प्रकृति के चित्र भी सूक्ष्मता से उतारे गए हैं। कलात्मकता तथा सौन्दर्य के सुष्ठु दृश्य हमारे सम्मुख आते हैं। वास्तव में रामायण-युगीन यात्रा-वर्णन अपने में पूर्ण तथा गौरवशाली हैं।

३—(४) **महाभारत-युग**—रामायण की भाँति ही महाभारत में भी यात्रा के प्रसंगों की प्रचुरता है। यद्यपि महाभारत रामायण के समान सर्वप्रिय ग्रंथ नहीं है, तथापि इसका महत्त्व रामायण से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका ऐतिहासिक पक्ष महायुद्ध तथा कौरवों और पाण्डवों के विस्तृत इतिवृत्त का वर्णन करता है। विभिन्न यात्राओं के वर्णन मिलते हैं, जिनके द्वारा हमें तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का भी पता चलता है और आर्यों की तत्कालीन सभ्यता पर भी प्रकाश पड़ता है। महाभारत के बहुत-से श्लोक भारतवर्ष तथा अन्य देशों के परस्पर-सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। इन प्रसंगों को एक-दूसरे के भ्रमण-सूचक चिह्न भी कहा जा सकता है। अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा में और राजसूर्य यज्ञ के प्रसंग में ऐसे कितने ही देशों के नाम आए हैं, जो भारतवर्ष से बहुत दूर पर स्थित हैं। उस समय इन देशों से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध था और एक-दूसरे के निवासी यात्रा के हेतु आया-जाया करते थे, अथवा उन्हें पाण्डवों ने जीत लिया था। सभापर्व में इस प्रकार का वर्णन करते हुए लिखा गया है :—

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीनलेच्छयोनिजान् ॥
निषादान्पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।
ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ॥

---

१. रामं प्रदक्षिणीकृत्य शिरसाभिप्रणम्य च । लक्ष्मणं भरतं चैव प्रणिपत्य कृतांजलिः ।
पुरोहितं वसिष्ठं च शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् । रामेण चाभ्यनुज्ञातः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ॥
—उत्तरकाण्डम्, सर्ग ६४, पृ० १८०

२. सुबाहु मधुरायां च वैदिशे शत्रुघातिनम् । ययौ स्थाप्य तदायोध्यां रथेनैकेन राघवः ॥
—वही, सर्ग १०८, पृ० २५६

द्वीप ताम्राह्वं चैव पर्वत रामकं तथा ।
तिमिगिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।।[१]

इससे सिद्ध होता है कि महामति सहदेव ने सागरद्वीप-वासी मलेच्छ नरेशों और निषाद तथा कर्ण जाति के लोगों को युद्ध-यात्रा के द्वारा परास्त और वशीभूत किया था। इनमें ताम्रदीप का राजा भी सम्मिलित था।

महाभारत का एक पर्व ही तीर्थयात्रा पर्व के नाम से अभिहित है। इस पर्व में हमें अनेक तीर्थ-यात्राओं का विवरण मिलता है।[२] यद्यपि ये वर्णन हमें महाभारत के प्रायः सभी पर्वों में थोड़े-बहुत अवश्य मिल जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत के सभी पर्वों में यात्रा-वर्णन मिलता है।[३] पाण्डवों की पांचाल देश-यात्रा का वर्णन हमें आदिपर्व में विस्तृत रूप से मिल जाता है।[४] इस यात्रा में पाण्डव अपनी माता के साथ यात्रा करते है। अपने आश्रयदाता ब्राह्मण से अनुमति लेकर और उसे प्रणाम कर वे गंगातट के सौमाश्रपायण तीर्थ पर पहुँचे। उनकी इस यात्रा में अर्जुन आगे-आगे मशाल द्वारा पथ-प्रदर्शन कर रहे थे।

आदिपर्व में पाण्डवों की यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा गया है: "समय आने पर पाण्डवों ने भी यात्रा के लिए शीघ्रगामी तथा श्रेष्ठ घोड़ों को रथ में जुड़वाया। उन लोगों ने दीनभाव से बड़े-बूढ़ों के चरणों का स्पर्श किया, छोटों का

---

१. महाभारत—सभापर्व, अध्याय ३३, पृ० ७४, पूना—१९२९

२. देखिए—तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुब्जः सरस्वत्याः कृ ा भरतमत्तम् ।।
—महाभारत, तीर्थयात्रा पर्व, अध्याय ८३, पृ० १३५

३. इदं च तदनुप्राप्तम ब्रवीद्युधिष्ठरः ।
पुरा व्यूढेष्वनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान् सुदारुणान् ।।
इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत् ।
आज्ञा पयामास तदा तीर्थयात्रा मदिन्दमः ।।
अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशव शासनात ।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभा ।।
—महाभारत, वनपर्व १६, अध्याय २, पृ० ३, प्रथम संस्करण—१९३३

४. चिररात्रोषिताः स्मेहब्राह्मणस्य निवेशनेः । रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः ।।
यानीह रमणीयानि वनान्यु पवनानि च । सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनःपुनररिंदम ।।
पुनर्दृष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा । भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ।।
ते वयं साधु पंचालान्गच्छाम यदि मन्यसे । अपूर्वं दर्शनं वीररमणीयं भविष्यति ।।
सुभिक्षाश्चैव पंचालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन । यज्ञसेनश्च राजा सौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम ।।
एकत्र चिर वासन्च क्षमोन च मतो मम । ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्रमन्यसे ।।
× × × ×
तत आमंत्रय तं विप्रं कुन्ती राजन्सुतैः सह । प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ।।
—महाभारत, चैत्ररथ (आदिपर्व) अध्याय १६८, पृ० २८०

आलिंगन किया और पुनः यात्रा आरम्भ की।"[1] इस प्रकार के यात्रियों के यात्रा-मार्ग महाभारत काल में जल और स्थल दोनों ही होते थे। वे जंगल, मैदान—सभी स्थानों का भ्रमण किया करते थे। भ्रमण के साधनों में उनके पास घोड़ों की ही प्रधानता थी, जिनके द्वारा युद्ध भी हुआ करते थे और यात्राएँ भी। यात्राओं से वे अपना मनोरंजन भी किया करते थे। राह में अनेक बाधाएँ भी पड़ती थीं, पर वे उन पर विजय प्राप्त करते थे।

आदिपर्व में ही हमें अर्जुन की तीर्थ-यात्रा का उल्लेख मिलता है।[2] इस यात्रा के साथ श्रीकृष्ण की द्वारिका-यात्रा भी वर्णित की गई है, जिसमें लिखा है: "भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वारिका की यात्रा के समय किए जानेवाले कर्म आरम्भ किए। उन्होंने स्नानादि से निवृत्त होकर आभूषण धारण किए और पुष्पमाला, गन्ध, नमस्कार आदि से देवता एवं ब्राह्मणों की पूजा की। जब सब कार्य समाप्त हो चुका, तब वे बाहर की ड्योढी पर आए। ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन किया और उन्होंने दधि, अक्षत, फल, पात्र एवं द्रव्य आदि के द्वारा उनकी पूजा करके उनकी प्रदक्षिणा की और अपने सोने के रथ पर सवार हुए। इस प्रकार कृष्ण ने द्वारिका-यात्रा प्रारम्भ की।[3] इन यात्राओं से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय यात्रा करने का मुख्य साधन रथ ही था।

यात्रारंभ के अवसर पर यात्री अनेक मांगलिक कार्य करके ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त कर तथा वस्त्राभूषण से अलंकृत होकर यात्रा करता था।

सभापर्व में हमें श्रीकृष्ण, भीम एवं अर्जुन की मगध-देश यात्रा का विवरण मिलता है, जो इस प्रकार वर्णित है :—

---

१. संक्षिप्त महाभारतांक—आदिपर्व, वर्ष १७, अंक १, प्रथम खण्ड, पृ० १२३—गीताप्रेस, गोरखपुर

२. देखिए—सौम्यनुज्ञाय राजान वनचर्याय दीक्षित : ।
वनै द्वादश वर्षाणि वासायानुजगामह ।।
—महाभारत, आदिपर्व, पृ० ३३८, अध्याय २१३

३. यात्रा कालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः ।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान्समलंकृतः ।।
अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुंगवः ।
माल्य जाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ।।
स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः ।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्य कक्षाद्विनिर्गतः ।।
स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान्दधिपात्र फलाक्षतैः ।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथा करोत् ।।
कांचन रथमास्थाय तार्क्ष्य केतन माशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरा युधैरावृत शुभम् ।।

—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३, पृ० ३

"युधिष्ठिर की अनुमति प्राप्त करके श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन तीनों भाई मगध की यात्रा के लिए चल पड़े। पद्मसर, कालकूट, गण्डकी, महाशोण, सदानीरा, गंगा, चर्मण्वती आदि पर्वत और नदी, नालों को पार करते हुए वे मगध देश में जा पहुँचे। उस समय वे लोग वल्कल वस्त्र धारण किए हुए थे। कुछ ही समय में वे श्रेष्ठ पर्वत गोरथ पर पहुँच गए। उस पर बहुत सुन्दर-सुन्दर वृक्ष एवं जलाशय थे। गौओं के लिए तो वह मुख्य क्षेत्र था। वहाँ से मगधराज की राजधानी स्पष्ट दीख रही थी। वहाँ पहुँचते ही उन लोगों ने सबसे पहले राजधानी की पुरानी बुर्ज नष्ट-भ्रष्ट कर दी, तदनन्तर मगधपुरी में प्रवेश कर उन्होंने अपनी यात्रा को समाप्त किया।[1] उपर्युक्त यात्रा-विवरण से स्पष्ट है कि लेखक भौगोलिक तथा प्राकृतिक वर्णनों को महत्त्व प्रदान करता है। साथ ही यात्रा-क्षेत्र के दृश्यों को अपना पैनी तथा सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हुए चित्रित करते थे।

महाभारत के वनपर्व में अनेक यात्राओं के विवरण हैं। उन यात्राओं में से राजा ऋतुपर्ण की विदर्भ-यात्रा बड़े महत्त्व की है। राजा ऋतुपर्ण ने यह यात्रा दमयन्ती-स्वयंवर में जाने के लिए की थी। वनपर्व में लिखा है : "राजा ऋतुपर्ण ने सुदेव ब्राह्मण की बात सुनकर बाहुक को बुलाया और मधुरवाणी से समझाकर कहा कि बाहुक, कल दमयन्ती का स्वयंवर है। मैं एक ही दिन में विदर्भ देश की यात्रा

---

१. एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरौ विपुलौजसः।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैराभि नन्दिताः ॥
अमर्षादभितप्तानां ज्ञातमर्थमुख्यतेजसाम्।
रवि सोमाग्निवपुषां दीप्त मासीत्तदा वसः ॥
हतं मेने जरासंध दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ।
एक कार्य समुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥
ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ।
धर्मकामार्थ लोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ॥
कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजांगलम्।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटतमतीत्य च।
गण्डकीं च महाशोण सदानीरां तथैव च।
एक पर्वत के नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥
उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कौसलान्।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां माला चर्मण्वतीं नदीम् ॥
अतीत्य गंगा शोण च त्रयस्ते प्राङ् मुखास्तदा।
कुशचीरच्छादा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥
ते शश्वद्गोधना कीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रमम्।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥

—महाभारत, सभापर्व, अध्याय २०, पृ० ३९-४०

करना चाहता हूँ। ऋतुपर्ण की इच्छा पूरी करने में नल ने अपना भी स्वार्थ देखा और बाहुक के रूप में हाथ जोड़कर कहा : "मैं आपके कथानुसार काम करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।" बाहुक अश्वशाला में जाकर श्रेष्ठ घोड़ों की परीक्षा करने लगा। नल ने अच्छी जाति के चार शीघ्रगामी घोड़े रथ में जोत लिए। राजा ऋतुपर्ण रथ पर सवार हो गए। जैसे-जैसे आकाशचारी पक्षी आकाश में उड़ते हैं, वैसे ही बाहुक का रथ थोड़े ही समय में नदी, पर्वत और वनों को लाँघने लगा।......उन्होंने अपने रथ को ज़ोर से हाँका और सायंकाल होते-होते वे विदर्भ देश में जा पहुँचे।[1] उक्त वर्णन में यात्रा की तीव्रता, सारथी-कर्म की पटुता तथा वाहनों की विशेषता का संकेत स्पष्ट रूप से मिलता है।

पाण्डवों की तीर्थयात्रा का भी वर्णन वनपर्व में यत्र-तत्र मिलता है, जिसमें उनके सजीव शब्द-चित्र अंकित हो उठे है : "तीन रात तक काम्यक वन मे निवास करने के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर ने तीर्थयात्रा की तैयारी की......मार्गशीर्ष पूर्णिमा के अनन्तर पुष्य नक्षत्र मे पुरोहित धौम्य एव वनवासी ब्राह्मणों के साथ ब्राह्मणों ने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। उन सबके हाथ मे डडे थे, शरीर पर फटे वस्त्र तथा मृगचर्म थे, मस्तक पर जटाएँ थी, शरीर अभेद्य कवचों से ढके हुए थे। हाथ के आयुध, कमर में तलवार और कधे पर बाण-भर तरकस रखे हुए थे तथा इन्द्रसेन आदि सेवक यात्र में पीछे-पीछे चल रहे थे।"[2]

---

१. श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः। सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा बाहुक प्रत्यभाषत ।।
विदर्भान्यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम्। एकाह्नाहयतत्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ।।
× × × ×
इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः। कृताञ्जलिरुवाचेदऋतुपर्णं जनाधिपम् ।।
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप। एकाह्नापुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ।।
ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन्स बाहुकः। अश्वशालामुपागम्य भांगसुरिन्नृपाज्ञया ।।
स त्वर्य माणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः। अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ।।
—महाभारत वनपर्व, अध्याय ७१, पृ० ११

२. युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम्।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ।।
शरीर नियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम्।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैपमाहुर्व्रतं द्विजाः ।।
मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप।
मैत्री बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि गच्छत ।।
× × × ×
कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ।।
इन्द्र सेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः।
महान सव्यापृतैश्च तथाऽन्यैः परिचारकैः ।।
महाभारत, वनपर्व, अध्याय ६१, पृ० १५७-५
—सम्पादक—टी० आर० कृष्णाचार्य एवं व्यासाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई—१९०

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभारत-युग के यात्रा-विवरण अत्यन्त वैज्ञानिक, सूक्ष्म तथा सजीव हैं। उनमें रीति-व्यवहार, लोक-जीवन, सैद्धान्तिक व्यावहारिकता तथा साहित्यिकता के दर्शन होते हैं। भौगोलिक तथ्य भी प्रमाणित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की दृष्टि भी स्पष्ट है। इस प्रकार ये वर्णन पूर्ण हैं।

३—(५) **ऐतिहासिक युग (६०० ई० पू० से १२०० ई० तक)**—वेद, पुराण, रामायण एवं महाभारत-युगीन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में भी हमें यात्रा-विवरण मिलते हैं। इन विवरणों से हमें यह स्पष्ट होता है कि यह यात्राओं का तारतम्य अपने प्राचीन रूप से चला आया है। इसको यदि यात्रा का क्रमिक-विकास भी कहा जाय, तो अनुचित न होगा। ऐतिहासिक-युग के सांस्कृतिक ग्रन्थों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतवासी प्रागैतिहासिक युग से ही समुद्र तथा स्थल की राह से निकट और दूर के देशों का भ्रमण करते थे। इन लोगों को इन यात्राओं की प्रेरणा अपने पूर्व इतिहास से मिलती रही है। हाँ, इतना भेद अवश्य रहा है कि प्रारम्भिक यात्राएँ व्यापारिक उद्देश्य विशेष से की जाती थीं, पर धीरे-धीरे यात्राएँ व्यापार के अतिरिक्त ज्ञानार्जन के लिए भी आवश्यक समझी जाने लगीं।

शिशुपाल-वध (६५०-७००)—महाकवि माघ के प्रसिद्ध ग्रन्थ "शिशुपाल वध" के श्लोक में श्रीकृष्ण की द्वारिका से हस्तिनापुर के लिए की गई यात्रा का प्रमाण मिलता है। उसमें लिखा है : "जब श्रीकृष्ण द्वारिका से हस्तिनापुर जाते थे तब उन्होंने देखा था कि कुछ यात्री-व्यापारी विक्रयार्थ माल से भरे हुए जहाज़ अन्य देशों से लिए आ रहे थे तथा भारतवर्ष का माल अन्य देशों में बेचने के लिए यहाँ से जहाज़ों में लिए जा रहे थे।[1] इस श्लोक से उस समय के व्यापार का एवं दूसरे देशों के भ्रमण का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि व्यापार का साधन जहाज़ ही थे और व्यापार के लिए कई व्यापारियों का झुण्ड चला करता था।

संस्कृत के अनेक गद्य-नाटक, काव्य तथा अन्य ग्रंथों में भी यात्राओं के स्थल उपलब्ध हैं। इन स्थलों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य व्यापार, धर्म-प्रचार तथा तीर्थ-दर्शन आदि के लिए ही मुख्यतः यात्राएँ किया करते थे।

रघुवंश—महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ रघुवंश में भी एक स्थल पर यात्रा का प्रसंग आया है और लिखा हुआ है कि महाराज रघु ने एक बड़ी ही विकट जल-युद्ध यात्रा में वंग-नरेश को परास्त किया था और गंगा के बीचोबीच अपना

---

१. देखिये, शिशुपाल वध—तृतीय सर्ग, श्लोक ७६, पृ० ८६ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, सं० २००६

विक्रीय दिश्यानि धनान्यरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्॥

जय-स्तम्भ गाड़ा था।[1] इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर यह भी लिखा है कि महाराज रघु ने फारस पर आक्रमण किया था, यद्यपि युद्ध-यात्रा चढ़ाई स्थल-मार्ग से ही हुई थी।[2] यह यात्राएँ इस बात का प्रमाण है कि युद्ध-यात्रा का उस युग में कितना महत्त्व था जिसमें सैकडों और हज़ारों सैनिकों को युद्ध के लिए यात्रा करनी पड़ती थी।

रत्नावली—कविवर श्री हर्ष की प्रसिद्ध नाटिका 'रत्नावली' मे भी एक यात्रा-विवरण मिलता है। इस स्थल में सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की एक कन्या का उल्लेख है जो यात्रा के जहाज के टूट जाने से बीच सागर में डूब गई थी और जिसे कौशाम्बी के कुछ यात्रिक व्यापारियों ने बचाया था।"[3] इस स्थल से ज्ञात होता है कि यात्रा में जीवन का जोखिम उस काल में पर्याप्त रूप से रहता था। फिर जल की यात्रा में तो स्थल की अपेक्षा और भी अधिक भय रहता था। सम्पन्न व्यक्ति भी इससे सुरक्षित नहीं थे।

दशकुमारचरित (५वीं-६ठी सदी)—कविश्रेष्ठ दण्डी भी यात्राओं के कई उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दशकुमारचरित' में करते हैं। इस ग्रंथ में आए हुए यात्रा-विवरण दस राजकुमारों की विभिन्न स्थानों की यात्राओं से सम्बन्धित हैं। अधिकतर ये राजकुमार राजकुमारियों की खोज में यात्रा करते है। दण्डी ने एक स्थान पर लिखा है, कि 'रत्नोद्भव' नामक एक व्यापारी कालयवन नामक टापू में गया। वहाँ उसने एक सुन्दरी का पाणिग्रहण किया, परन्तु घर लौटते समय जहाज सहित समुद्र के गर्भ में निमग्न हो गया।"[4] इस ग्रन्थ में यात्रा के कई स्थल और भी हैं। एक स्थान पर मित्रगुप्त की कथा वर्णित है जिसमें एक यवन की अद्भुत कहानी दी गई है कि वह यात्रा के लिए जलयान द्वारा कहीं गया था, परन्तु रास्ता भूल जाने के

१. देखिए कालिदास—ग्रंथावली में 'रघुवंश' ग्रंथ, सर्ग ४, श्लोक ३६, पृ० ३८, पं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, द्वितीय संस्करण सं० २००७

वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गंगा स्रोतोन्तरेषु सः॥

२. वहीं—श्लोक ६०, पृ० ४०

—पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थल वर्त्मना।

३. अन्यथा वर्त्मसिद्धादेश जनित प्रत्यय प्रार्थितायाः सिंहलेश्वर दुहितुःसमुद्रे यानभंगोत्थितायाः फलकासादनं क्व च कौशाम्बीयेन वणिजा सिंहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः सम्भावनं रत्नमालाचिह्नाया प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च।

—रत्नावली—हर्षदेव, पृ० ८

सम्पादक—एम० आर० काले, द्वितीय संस्करण, बम्बई १९२५

४. देखिये दशकुमारचरित, प्रथमोच्छ्वास, पृ० ३७—३८

ततःसोदरविलोकन कौतूहलेन रत्नोद्भवः कथंचिच्छ्वशुरमनुनीय चपल लोचन यानया सह प्रवहण मारुह्य पुष्प पुरमभिप्रतस्थे। कल्लोल मालिकाभिहतः पोत समुद्राम्भस्य मज्जत्।

कारण एक अन्य अज्ञात टापू में जा पहुँचा था।[1] रास्ता भूल जाने के कारण इन यात्रियों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता था। वे जंगलों में भटकते फिरते थे। उनको कोई यात्रा-पथ का मार्ग बतानेवाला नहीं मिलता था। ये पहाड़ों पर, मैदानों मे भ्रमण करते रह जाते थे। ऐसे समय में उन्हें अनेकों आकस्मिक विपत्तियों का जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डाकुओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग-निरोध, राज्यक्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का सामना करना पड़ जाता था। ऐसे समय में भोजन आदि की कठिनाई भी कष्टदायक होती थी। ऐसे समयों में भी युद्ध-यात्रा के लिए राजकुमार तैयार रहते थे। दशकुमारचरित में वामदेवकुमार की दिग्विजय-यात्रा इसी प्रकार की है। काम के समान सुन्दर रामादि के तुल्य पौरुषशाली क्रोध से ही शत्रुओं को भस्म करने में समर्थ एवं वेग में वायु का उपहास करनेवाले कुमार वृन्द युद्ध-यात्रा में विजय के लिए प्रस्थान करते हैं।[2]

इन विजय के लिए की गई यात्राओं के अतिरिक्त विदेशी यात्रियों की कहानियाँ भी बहुत-सी मिलती हैं। दशकुमारचरित में ही हमें ईरानी यात्रियों के आगमन का पता उसके दो उल्लेखों से चल जाता है।[3] इस उल्लेख के अतिरिक्त दशकुमारचरित के छठे उच्छ्वास में एक यवन व्यापारी यात्री का वर्णन है।[4] दशकुमारचरित के इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय यात्री विभिन्न देशों से यात्रा एवं व्यापार के उद्देश्य से दूसरे देशों को जाया करते थे। वे भारत में भी आते रहते थे। उपर्युक्त यवन यात्री व्यापारी की कहानी यह है कि भीमधन्वा की आज्ञा से मित्रगुप्त ताम्रलिपि के पास समुद्र में फेंक दिया गया। सवेरे उसे यवनों का जहाज देख पड़ा और यवन नाविकों ने उसे डूबने से बचाया। वे उसे अपने कप्तान (नाविक-नायक) रामेषु के पास ले गए। उन्होंने समझा—चलो, एक अच्छा मजबूत दास मिला जो जरा देर में ही उनकी सैकड़ों अंगूर की बेलें सींच देगा। इसी बीच में बहुत-सी नावों से घिरे एक जंगी जहाज (मृदगु) ने यवनों के जहाज को घेर लिया और तेजी के साथ धावा बोल दिया। बेचारे यवन हारने लगे। यह देखकर मित्रगुप्त ने यवनों से उसके बन्धन खोल देने को कहा। बन्धन खुलते ही वह शत्रु-दल पर टूट

---

१. देखिए—अस्मिन्नेव क्षणेनेक नौकापरिवृतः केऽपि मद्गुः अम्यधावत। अभिमयुर्यवनाः। तावदतिजवा नौकाःश्वान इव वराहमस्मत्पोतं पर्यरुत्सत। —दशकुमारचरितम्

२. कुमारा माराभिरामा रामाद्य पौरुषा रुषा भस्मी कृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानम कार्षुः। तत्साचिव्य मितरेषां विधाय समुचितां बुद्धि मुपदिश्य शुभे मुहूर्ते सपरिवारं कुमारं विजयाय विससर्ज।

—दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास पृ०, ५०

३. दशकुमारचरित—दण्डी, श्री गणेश जनार्दन, आगशे द्वारा सम्पादित भूमिका, पृ० XIIV-XIV, पाठ पृ० १०६—७

४. वही भूमिका, पृ० XIV, पृ० १०६—७

पड़ा और उन्हें परास्त कर दिया। बाद में उसे पता चला कि उस जंगी जहाज का मालिक भीमधन्वा था। यवन-नाविकों ने उसे बांधकर खूब खुशियाँ मनाईं।

इस विवरण से जलयुद्ध में प्राप्त बन्दियों को दास-रूप में प्रयोग करने की सूचना मिलती है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र—इसका समय प्रो० विटरनिटीज़ और कीथ ईसा की चौथी शताब्दी मानते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें प्राचीन महापथ, समुद्री मार्ग और उस समय की यात्रा-व्यवस्था का कुछ विवरण ऐसा मिल जाता है, जिसका उल्लेख दूसरी जगहों में नहीं होता। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय यात्रियों द्वारा अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार हुआ करता था, पर ये यात्री इसमें अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे। राज्य ने उनके लिए कुछ ऐसे नियम बना दिये थे जिनकी वे अवहेलना नहीं कर सकते थे, अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड का भागी होना पड़ता था। इस प्रकार के व्यापार की सफलता के लिए चुस्त राजकर्म सेना का सुम सचालन, विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने के लिए सड़कें आवश्यक थीं। विभिन्न प्रकार के पथ रहा करते थे। रथपथ, बन्दरगाहों को ले जानेवाले राजपथ, सूबों की राजधानियों को जानेवाले पथ, पड़ौसी राष्ट्रों को जानेवाले पथ और चरागाहों में जानेवाले पथ रहते थे।[1]

अर्थशास्त्र में एक स्थान पर[2] स्थल और जलमार्गों की आपेक्षिक तुलना की गई है। प्राचीन आचार्यों का उदाहरण देते हुए कौटिल्य का कहना है कि उनके अनुसार स्थलमार्गों की अपेक्षा समुद्र और नदियों के रास्ते यात्रा एवं व्यापार के लिए अच्छे होते थे। उनकी अच्छाई माल ढोने में कम खर्च होने से ज्यादा लाभ होने के कारण थी, पर कौटिल्य के मत से जलमार्गों से यात्रा एवं व्यापार में स्थायित्व नहीं होता था तथा उनमें बहुत-सी अड़चनें और भय थे। इसकी तुलना में स्थलमार्ग सरल थे। शायद कट्टर ब्राह्मण होने के कारण कौटिल्य को सागर-यात्रा रुचिकर नहीं थी, पर अर्थशास्त्र की मर्यादा मानकर उन्होंने समुद्र-यात्रा के विरुद्ध धार्मिक प्रमाण न देकर केवल उसमें आनेवाली विपत्तियों की ओर ही संकेत किया है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय राज्य को देश के जलमार्गों का पूरा ख्याल रहता था और उसी व्यवस्था के लिए ही नौकाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी।[3] इन कर्मचारियों के जिम्मे समुद्र में चलनेवाले जहाजों तथा नदी के मुहानों, झीलों इत्यादि में चलनेवाली नावों का खाता होता था। बन्दरगाहों से चलने के पहले समुद्री यात्री राजा का शुल्क भाग अदा कर देते थे। राजा के निज के जहाजों पर चलनेवाले यात्रियों को यात्रा-वेतन भरना पड़ता था।

१. देखिए—अर्थशास्त्र, डा० शामा शास्त्री का अनुवाद, पृ० ५३, मैसूर १६२६
२. वही—पृ० ३२८
३. देखिए अर्थशास्त्र, डा० शामा शास्त्री का अनुवाद, पृ० १३६ से १४२

जो यात्री राजा का जहाज शंख और मोती निकालने के लिए व्यवहार करते थे वे भी नाव का भाड़ा अदा करते थे। जब तूफान में टूटा-फूटा जहाज बन्दर में घुसता था तो नौकाध्यक्ष का यह कर्तव्य होता था कि वह यात्रियों और नाविकों के प्रति पैत्रिक स्नेह दिखलाए। प्रसिद्ध व्यापारियों और उन विदेशी यात्रियों को जो अक्सर अपने व्यापार के लिए इस देश में आते थे, नौकाध्यक्ष बिना किसी विघ्न-बाधा के उतरने देता था, छिपाकर माल ले जानेवाले तथा बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के यात्रा करनेवाले, गिरफ्तार करवा दिए जाते थे।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि मौर्य-युग से लेकर मुगल-युग तक बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के कोई यात्रा नहीं करता था। मुद्रा देने का अधिकार मुद्राध्यक्ष[1] को था। लोगों को मुद्रा देने के लिए वह उनसे प्रति मुद्रा एक माप वसूल करता था। समुद्र अथवा जनपदों में जाते-आते दोनों समय मुद्रा लेनी पड़ती थी, जिसके सहारे लोग बेखटके यात्रा कर सकते थे। जनपद अथवा समुद्र, दोनों ही में बिना मुद्रा यात्रा करने पर, १२ पण दण्ड लगता था। कौटिल्य के अनुसार शहर में यात्रियों के ठहरने के लिए, धर्मावस्थ-धर्मशालाएँ होती थीं।[2] इन धर्मशालाओं में यात्रियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। मौर्य-युग में व्यापारियों के अतिरिक्त यात्रियों को भी अपनी जवाबदेही का पूरा ज्ञान रहता था।[3] टाल्मी के कन्याकुमारी और कलिंगिकोन की खाड़ी के बाद भारत के पूर्वी समुद्र-तट के यात्रा-विवरणों से पता चलता है कि रोमन और यूनानी वहाँ खूब यात्रा करते थे और उस समय चोलों का पतन हो रहा था।[4] वार्मिंगटन ने भारत के अन्य स्थानों पर पहुँचनेवाले यात्रियों का भी वर्णन दिया है। उनके अनुसार दक्षिण से द्वीपान्तर के सीधे रास्ते पर यात्री निकोबार, नियास, सिबिरु, नसाऊद्वीप और इबाडियु (यवद्वीप) जहाँ काफी सोना मिलता था और जिसकी राजधानी का नाम आरगापर था, पहुँचते थे। यवद्वीप की पहचान सुमात्रा अथवा जावा से की जाती है।[5] इससे स्पष्ट है कि यात्री उस समय सभी द्वीपों का भ्रमण किया करते थे। यात्रा-सम्बन्धी सारा विधान अर्थशास्त्र में व्यवस्थित रूप में मिलता है।

अवदानशतक—इसका समय ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है। प्राचीन संस्कृत बौद्ध-साहित्य से हमें बहुत-सी स्थलमार्गीय यात्राओं की बातों का पता लगता है। अवदानशतक ऐसे ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण है। ईसा की

---

१. अर्थशास्त्र—कौटिल्य, पृ० १७५,७५८

२. अर्थशास्त्र कौटिल्य, पृ० १६१

३. वही पृ० १६१

४. देखिए—दि कामर्स बिटविन दि रोमन एम्पायर एण्ड इंडिया
—ई० एच० वार्मिंगटन, पृ० ११५-१६, कैम्ब्रिज, १९२८

५. वही, पृ० १२८-२९

पहली-दूसरी सदियों में भी यात्राओं में उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ थीं जितनी उसके पूर्व। रास्ते में डाकुओं का भय बना ही रहता था। रेगिस्तान में भी यात्रा की अनेक कठिनाइयाँ थीं। रास्ते में नदियाँ पार करनी पड़ती थीं और घाट उतारने-वाले घाट उतरने से पहले उतराई (तर्पण्य) वसूल करते थे।[1] मनुष्यों के व्यापार के लिए बाहर जाने पर उनकी स्त्रियाँ ईश्वर से मान-मनौती किया करती थीं। इस प्रकार की प्रार्थना का उदाहरण भी हमें अवदानशतक में प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है कि राजगृह में एक समुद्री व्यापारी-यात्री की स्त्री ने इस बात की मन्नत मानी कि उसके पति के कुशलपूर्वक लौट आने पर वह नारायण को सोने का एक चक्र भेंट करेगी। अपने पति के यात्रा से लौट आने पर उसने बड़ी धूमधाम से मानता उतारी।[2]

दिव्यावदान—(इसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है)

दिव्यावदान ऐसे प्राचीन ग्रथो मे भी उस समय की यात्राओं का संकेत मिल जाता है। उसमे लिखा है कि यात्रा करते समय कभी-कभी नदी पार उतरने के लिए नावों का पुल भी होता था। इसके प्रमाण-स्वरूप दिव्यावदान में राज्यगृह-से श्रावस्ती के राजमार्ग पर अजातशत्रु द्वारा बनवाये नाव के पुल का वह सकेत करता है।[3] इसके अतिरिक्त भी कई अन्य सागरीय यात्राओं-सम्बन्धी कहानियाँ इसमे हमे मिलती है, जिनमे यह पता चलता है कि लाभ और सैर के लिए किस प्रकार लोग यात्राएँ किया करते थे। कौटिल्य की यात्रा इसी प्रकार की है।[4]

कथासरित्सागर (१०८१-८३)—काश्मीर के प्राचीन सस्कृत कवि सोमदेव के कथासरित्सागर में भी हमें अनेकों यात्राओं का विवरण मिलता है। वरन् अगर यों कहें कि समुद्र और स्थल-यात्राओं द्वारा अन्य देशों के प्रमाण के सैकडों उदाहरण मिलते है तो अत्युक्ति न होगी। परन्तु स्थल-यात्राओं की अपेक्षा समुद्र-यात्रा की ही उस समय प्रधानता थी। नवें लम्बक में पृथ्वीरूप नामक राजा का किसी चित्रकार के साथ एक जहाज से मुक्तिपुर टापू की यात्रा करना वर्णित है।[5] इस यात्रा में राजा और चित्रकार को कई दिन लगे थे और रास्ते मे सुन्दर चित्रों का इन दोनों ने खूब अवलोकन किया था। इन यात्राओं में भी कभी-कभी तूफान आने से जीवन जोखिम मे आ जाता था, यहाँ तक कि जीवन से निराश भी होना पड़ता था। इसी प्रकार का एक प्रसंग ९वें लम्बक की दूसरी तरंग में आया है। उसमें लिखा

१. अवदानशतक १, जे० एस० स्पेयर द्वारा संपादित, सेंट पीटर्सबर्ग सन् १९०६, पृ० १४८
२. वही, पृ० १२९ (अवदानशतक)
३. दिव्यावदान—३, पृ० ५५-५६
४. वहीं, पृ० ४
५. देखिए ततः प्रवहणरूढा गत्वैवाम्बुधिवर्त्मना। ते तं मुक्तिपुरं द्वीपमवापुः पंचभिर्दिनैः॥
—कथासरित्सागर—लम्बक ९, तरंग १, पृ० २५१

है कि एक व्यापारी यात्री अपनी स्त्री के साथ किसी टापू को भ्रमण के लिए जा रहा था। राह में तूफान आ जाने से जहाज टूट गया और दोनों का चिर वियोग होकर जीवन-यात्रा समाप्तप्राय हो गई।[१] उन दिनों व्यापार करनेवाले विभिन्न द्वीपों में भ्रमण किया करते थे। इसी ग्रन्थ की चौथी तरंग में समुद्र सूर तथा एक अन्य व्यापारी का भी उल्लेख हमें मिलता है, जो धन के लिए सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) में व्यापार करने गए थे।[२] चन्द्रस्वामी नाम का एक व्यापारी अपने खोए हुए पुत्र की खोज में विभिन्न स्थानों का भ्रमण करता है। छठा तरंग में लिखा है कि वह व्यापारी यात्री जहाज पर चढ़कर लंका आदि कितने ही टापुओं का भ्रमण करता हुआ अपने पुत्र को खोजने गया था।[३] चतुर्दारिक नामक पाँचवें लम्बक में द्वीपान्तर के उल्लेख के साथ शक्तिदेव द्वारा कनकपुरी की स्थल-यात्रा का उल्लेख मिलता है : "शक्तिदेव ने सोचा कि मेरा अपमान भी हुआ और राजकन्या भी नहीं मिली सो या तो कनकपुरी देखूँगा या मर जाऊँगा।" यह सोचकर वर्धमानपुर से वह कनकपुरी के लिए दक्षिण को चला और धीरे-धीरे विन्ध्याचल के बन में जा पहुँचा।[४] इस प्रकार शक्तिदेव ने विभिन्न मार्गों का भ्रमण किया। इस ग्रन्थ के पंच लम्बक की तीसरी तरंग में नरवाहनदत्त की कौशाम्बी यात्रा वर्णित की गई है।[५] इसी प्रकार तीसरी और चौथी तरंग मे भी नरवाहनदत्त की विद्याधर की सेना के साथ गौरिमुण्डमानस की यात्रा तथा मन्दरदेव की यात्रा वर्णित की गई है।[६] इस यात्रा में नगर-विहार का वर्णन ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

---

१. कथासरित्सागर—लम्बक ९, तरंग २

२. वही—लम्बक ९, तरंग ४, पृ० २७३
तदारूढश्च बाहुभ्यां क्षिप्ताम्बुर्विधिनैव सः। नीतः सुवर्णद्वीपं तदनुकूलेनवायुना॥

३. देखिए—'तत्त्र त्वा मामकावेव नूनं तावित चिन्तयन। चन्द्र स्वामी मति चक्रे गन्तु द्वीपवरंसतम्॥
नीत्वा च रात्रि मन्विष्य वणिजा विष्णु वर्मणा। स व्यघात्संगति द्वीपं नारिकेलं प्रयास्यता॥
तेनैवच महारुह्य यानपात्रं जगाम सः। चन्द्रस्वामी सुतस्नेहाद्वीप मन्धिपथेन तम॥'
—कथासरित्सागर, लम्बक ९, तरंग ६, पृ० २८४

४. अत्रान्तरे द्विजयुवा शक्तिदेवः स दुर्मनाः। अचिन्तयदभि प्रेतराज कन्या वमानितः॥
मयेह मिथ्याकनकपुरी दर्शनवादिना। विमानना परं प्राप्ता न त्वसौ राजकन्यका॥
तदेतत्प्राप्तये तावद्भ्रमणीया महीमया। यावत्सा नगरी दृष्टा प्राणैर्वापि गतंमम॥
तां हि दृष्ट्वा पुरीमेत्य तत्पणोपार्जितां न चेत्। लभेय राजतनयामेनां किं जीवतेनतत्॥
एवं कृत प्रतिज्ञः सन्वर्धमानपुरात्ततः। दक्षिणां दिशामालब्य स प्रतस्थे तथाद्विजः॥
—कथासरित्सागर—चतुर्दारिक लम्बक ५, तरंग २, पृ० १००

५. वही—प्रभावत्यजिनावत्यौ प्रापयामासतुश्चतम्।
नरवाहनदत्तं ते कौशाम्बीं नभसापुरीम्॥
—तृतीय तरंग, पृ० ५०७

६. कथासरित्सागर—क्वांय मन्दरदेव तं जेतुं यात्रा समुद्यमः।
क्व चेयन्ति दिनानीह विहारोन्तः पुरैसह॥ —पंचलम्बक १४, तरंग ४, पृ० ५१५

विक्रमांक देवचरित (१०८०-१०८८ के बीच)—शास्त्रार्थ, ज्ञानार्जन अथवा जीवकोपार्जन के लिए उस समय लोग मुख्यतः यात्रा किया करते थे। काश्मीरी कवि विल्हण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विक्रमांक देवचरित में अपने देश-पर्यटन का वर्णन किया है। अपनी शिक्षा समाप्त करके वे काश्मीर से यात्रा के लिए निकले। उन्होंने पश्चिमी भारत की यात्रा की। दक्षिणी भारत की यात्रा में इन्होंने रामेश्वरम् का दर्शन किया।[१] इससे स्पष्ट है कि विल्हण ने उत्तर और दक्षिण भारत की खूब यात्रा की थी। उनकी यात्रा का उद्देश्य इस ग्रन्थ में स्पष्ट होता है। कवि विल्हण भी ऐसे ही व्यक्तियों में से एक थे।

राजतरंगिणी : (११४९-५० ई०)—कल्हण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजतरंगिणी में काश्मीर का तात्कालिक इतिहास विश्वसनीय और मूल्यवान बातों के साथ अंकित किया है। वास्तव में यह काश्मीर के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा जानने के लिए एक विश्वकोष है। राजतरंगिणी में भी हमें यात्रा के कुछ प्रसंग मिलते हैं। इसके एक श्लोक से उस समय की यात्रा-सम्बन्धी बाधाओं का ज्ञान होता है, जिसमें लिखा है कि एक राजदूत को समुद्र-यात्रा में बड़ी ही भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा था।[२]

बृहत्कथाश्लोक संग्रह (आठवीं-नवीं शताब्दी)—बुद्धस्वामी के इस ग्रन्थ का उद्देश्य पद्यरूप में बृहत्कथा का संक्षेप देना था। इसमें नरवाहनदत्त, चारुदत्त, सानुदास आदि की प्रेम-कथाओं का वर्णन मिलता है।

बृहत्कथाश्लोक संग्रह में भी हमें यात्रा-परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। सानुदास की कहानी से भी उस काल की यात्रा का वर्णन मिलता है। चम्पा से सानुदास की ताम्रलिपि यात्रा इसी प्रकार की है।[३] इस यात्रा के सम्बन्ध में लिखा हुआ है कि रास्ते में उसे फटे जूते और छातेवाले कुछ यात्रियों से भेंट हुई जिन्होंने कंद-मूल-फल से उसका स्वागत किया। इस प्रकार यात्रा करते हुए वह सिद्धकच्छप पहुँचा जहाँ उसकी अपने एक रिश्तेदार से भेंट हुई। उसने उसका बड़ा स्वागत किया और उसे ताम्रलिपि की यात्रा करने के लिए रुपये देकर एक सार्थ के साथ कर दिया। चारुदत्त की साहसिक यात्रा को बृहत्कथाश्लोक संग्रह एक कहानी का रूप दे देता है, जबकि इसके साहसिक कार्य केवल सुवर्णद्वीप तक ही सीमित हैं। चारुदत्त की यात्रा प्रियगुपट्टन से, जो शायद बंगाल में था, शुरू हुई। वहाँ से वह

---

१. विक्रमांक देवचरित—जी० बुहलर द्वारा संपादित, बम्बई १८७५

२. देखिए, कल्हण की राजतरंगिणी—

सान्धि विग्रहिकः सोऽथ गच्छन् पोतच्युतोऽम्बुधौ ॥
प्राप पारं तिमिग्रासात्तिमिमुत्पाट्य निर्गतः ॥

३. बृहत्कथाश्लोक संग्रह—अध्याय १८, श्लोक १७१

चीन स्थान यानी चीन गया और वहाँ से वह मध्य एशिया पहुँचा। रास्ते में वह कमलपुर, जिसकी पहचान कम्बुज से की जा सकती है और जो मेरु अथवा अरबों के कमर का रूपान्तर है, पहुँचा। वहाँ से वह जावा पहुँचा और वहाँ से सिंहल। चारुदत्त ने अपनी मध्य एशिया की यात्रा सिन्धु सागर-संगम, प्राचीन बर्बर बन्दरगाह से प्रारम्भ की।

सानुदास की यात्रा-कहानी बड़ी मनोरंजक है। यात्रा करते समय राह में जब उसका जहाज टूट गया तब सानुदास एक तख्ते के सहारे बहता हुआ किनारे पर आ लगा। वहीं उसकी भेंट एक दिन समुद्रदिन्ना नामक स्त्री से हुई। वहीं से वह यात्रा करता हुआ पाण्ड्य देश में आ पहुँचा। यहाँ उसने केले के घने जंगलों की सैर की। दो कोस चलने के बाद सानुदास ने एक धर्मशाला देखी, जहाँ कुछ विदेशियों की हजामत बन रही थी, किसीका अभ्यंग हो रहा था और किसीकी मालिश। इस तरह सभी लोगों की खातिर हो रही थी।[१] शैलाक्ष पार करने के बाद सानुदास दो योजन आगे बढ़ा और एक पतले रास्ते के दोनों ओर गहरा रसातल देखा। आचेर ने गीली और सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके और उन्हें जलाकर धुआँ कर दिया। धुएँ को देखकर चारों ओर से किरात इकट्ठे हो गए। उनके पास बकरों और चीतों के चर्म के बने जिरह-बख्तर और बकरे थे। व्यापारियों ने उन वस्तुओं का विनिमय केसरिए, लाल और नीले कपड़ों, शक्कर, चावल, सिन्दूर, नमक और तेल से किया। इसके बाद किरात हाथ में लकड़ियाँ लिये हुए अपने बकरों पर चढ़कर पतले और पेचदार रास्ते से यात्रा के लिए रवाना हो गए। जिन व्यापारी यात्रियों को सोने की खान से सोना लेना था, वे उसी रास्ते से आगे बढ़े। यात्रा-मार्ग सकरा था। यात्री एक ही कतार में एक भालेबरदार के अधिनायकत्व में आगे बढ़े।[२] उस समय यात्रियों के पास समुद्री नक्शे नहीं होते थे। समुद्री नक्शे का सबसे पहला उल्लेख बृहत्कथाश्लोक-संग्रह में मिलता है।[३] उस समय समुद्री यात्रा में भी कभी-कभी विचित्र तरह के मुकदमे सामने आते थे। बृहत्कथाश्लोक-संग्रह में कहा गया है कि एक समय उदयन जब अपने दरबार में आए तो दो व्यापारियों ने अपनी यात्रा की कहानी सुनाई।[४]

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन यात्री 'सार्थ' रूप में यात्रा करते थे, इससे वे सुरक्षित रहते थे। यात्रा-क्षेत्र विस्तृत थे। यात्रियों को पर्याप्त सम्मान मिलता था। जंगली जातियों से भी पण्य विनिमय हुआ करता था और स्वर्ण की खोज में भी यात्री जाते थे। यात्रा वैज्ञानिक रूप में होने लगी थी। यात्रा-मार्गों के

---

१. बृहत्कथाश्लोक संग्रह—श्लोक ३४५-४६
२. वही—४५०-४६४
३. वही—१८, १०७.
४. वही—१।४।२१-२८

मानचित्र बनते थे। यात्राओं मे उत्पन्न होनेवाले झगड़ों का निपटारा प्रसिद्ध शासकों की अदालतों में होता था।

यात्रा के रूप का क्रमिक विकास हो रहा था।

मनुस्मृति (इसका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है[1])— स्मृतियों मे भी यात्राओं तथा सामुद्रिक व्यापारों का उल्लेख प्राप्त होता है। उस समय यात्रा करने मे क्या-क्या प्रतिबन्ध थे तथा कैसी-कैसी दुर्घटनाएँ होती रहती थीं इसके उल्लेख मिलते है। समुद्र-यात्रा को मनु ने निषिद्ध कर दिया था। मनुस्मृति में एक स्थल पर लिखा हुआ है कि वह ब्राह्मण जिसने समुद्र-यात्रा की हो, श्राद्ध में बुलाए जाने का पात्र नही।[2] इससे यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिए सागर-यात्रा वर्जित थी। एक श्लोक मे यह भी लिखा है कि जो लोग समुद्र-यान में कुशल और देश-कालार्थदर्शी है वे जहाज बनाने के लिए दिये हुए रुपये का जो सूद निश्चित करेंगे वही प्रामाणिक माना जाएगा।[3] एक अन्य श्लोक में नदी और समुद्र में चलनेवाले जल-यानों के तथा यात्रियों के किराए का संकेत भी मिलता है।[4] जहाजों पर अपने माल की जिम्मेदारी का निर्देश भी किया गया है। एक स्थान पर लिखा है कि समुद्र मे जहाज चलानेवालों के दोष से यात्रियों के माल की जो हानि होगी उसके जिम्मेदार जहाज चालक ही होंगे। जो हानि दैवी दुर्घटनाओं के कारण होगी उसके जिम्मेदार भी जहाज चलानेवाले ही होंगे, परन्तु यात्रियो की जो हानि दैवी-दुर्घटनाओं के कारण होगी उसके लिए वे उत्तरदायी नही होंगे।[5]

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में भी यात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है। उसमें लिखा है—"धन के लाभ के कारण वयोवृद्ध लोग तक अपने प्राणों की बाजी लगाकर महीनों समुद्र के मार्ग से भयंकर स्थानों की

१. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र—पांडुरंग वमनकाने, पृ० १५६ भाग १, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—१९३०

२. मनुस्मृति—८—१५७

३. समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः। स्थापयन्ति तु या वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥

—वहीं, अध्याय ८, श्लोक १५७, पृ० ३६५

४. दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥

—मनुस्मृति, श्लोक ४०६, पृ० ४२५

५. मनुस्मृति—यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः॥
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥

—अध्याय ८, श्लोक ४०८-९, पृ० ४२५-२६

—स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती कृत व्याख्या, प्रथम संस्करण, सं० २००९

यात्रा किया करते थे।"[१] इससे स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में हिन्दू लोग धन-प्राप्ति की इच्छा से सागर के बड़े-बड़े भयंकर स्थानों तक का भ्रमण किया करते थे।

मिलिन्द प्रश्न—इस प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ का समय दो शताब्दी ई० पू० के निकट का है। पहले मूलरूप में यह संस्कृत या प्राकृत में था परन्तु अब केवल पाली में मिलता है। यह राजा मिलिन्द और बौद्धिक साधु नागसेना के मध्य हुए वार्तालाप के रूप में लिखा गया है। इसका प्राकृत नाम मिलिन्दपन्ह है। मिलिन्द-प्रश्न नामक पाली ग्रन्थ में भी हमें यात्राओं के कई उल्लेख मिलते हैं। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोग अनेकों बन्दरों की सैर किया करते थे। मिलिन्द-प्रश्न के प्रथम सन्दर्भ में लिखा है : "महाराज, इस तरह उसने एक रईस नाविक की तरह बन्दरगाहों का कर चुकाकर समुद्रों में अपना जहाज चलाते हुए वंग, तक्कोल, चीन सोवीर, सुरट्ठ, अलसन्द, कोलपट्टन, सुवर्णभूमि और दूसरे बन्दरों की सैर की।[२] इसी ग्रन्थ मे एक स्थल पर यह भी उल्लखित हुआ है कि अंग और मगध के यात्री-व्यापारी एक समय सिन्धु सोवीर में यात्रा करते हुए रेगिस्तान के बीच अपना रास्ता भूल गए (वण्णुपथस्समन्भं) एक यक्ष ने अवतरित होकर उनसे पूछा, तुम सब धन की खोज में समुद्र के पार बण्णपथ, वेत्तवार, शंकुपथ, नदियों और पर्वतों की यात्रा करते हो।[3] समुद्र-यात्रा की सफलता जहाज के चालकों की फुर्ती पर निर्भर होती थी। मिलिन्द प्रश्न से[४] हमें यह पता चलता है कि भारतीय नाविकों को अपने कार्य का पूरा ज्ञान होता था। भारत नाविक प्रायः सोचता था—मैं भृत्य हूँ और जहाज पर वेतन के लिए नौकरी करता हूँ। इसी जहाज के कारण मुझे खाना, कपड़ा मिलता है। मुझे सुस्त नहीं होना चाहिए, चुस्ती के साथ मुझे जहाज चलाना चाहिए। मिलिन्द प्रश्न[५] में एक जगह यह भी कहा गया है कि निर्यामक को अपने यन्त्र का विशेष ध्यान रहा करता था। यात्रा के समय दूसरों के छूने के भय से वह उसे मुहरबन्द करके रखता था। इन लोगों के जहाज में लंगर होते थे, जो जहाज को क्षुब्ध सागर में सीधा रखता था और गहरे समुद्र में उसे हिलने से रोकता था।[६] इस प्रकार यह ग्रन्थ जहाजों के कर्मचारियों की कर्त्तव्य-शीलता, यानों की बनावट, उनकी यांत्रिकता आदि की सूचना देता है।

---

१. ये समुद्रगा वृद्ध्याधनं गृहीत्वा अधिलाभार्थं प्राणधन विनाश शंक स्थानं समुद्रं गच्छन्ति ते विशंशतं मासि मासि दद्युः ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति

२. मिलिन्द प्रश्न—पृ० ३५६
३. वही—पृ० २८०
४. वही—पृ० ३७६
५. वही—पृ० ३०२
६. वही—पृ० ३७७

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य—इस ग्रन्थ में जैन-साधुओं की यात्रा का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनकी यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी। जैन-साधु खाने-पीने के मामले में बहुत-कुछ विचार रखते थे। बृहत्कल्पसूत्रभाष्य के अनुसार यात्रा में गुड़, घी, केले, खजूर, शक्कर तथा गुड़, घी की पिन्नी उनके विहित खाद्य थे। घी न मिलने पर वे तेल से भी काम चला सकते थे। वे उपर्युक्त भोजन इसलिए करते थे कि वह थोड़े ही में क्षुधा शान्ति कर देनेवाला होता था और उससे प्यास भी नहीं लगती थी। पर ऐसा माल भी सदा मिलनेवाला था नहीं इसलिए वे चना, चबैना और मिठाई पर ही यात्रा में गुजर करते थे।[1] यात्रा में जैन-साधु अपनी दवाओं का भी प्रबन्ध करके चलते थे। विशेषकर उनके पास वात-पित्त-कफ सम्बन्धी बीमारियों की दवाइयाँ होती थीं और घाव के लिए मलहम की पट्टियाँ।[2] यात्रा करते समय बनों में वन्य-पशुओं से रक्षा के लिए यात्रियों को पड़ावों पर आग जलानी पड़ती थी। जहाँ डाकुओं का भय होता था वहाँ यात्री आपस में अपनी बहादुरी की डींगें इसलिए मारते थे कि डाकू उन्हें सुनकर भाग जाएँ, लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सब छितराकर अपनी जान बचाते थे।[3] जगलों में भटक जाने पर अथवा वन्य-पशुओं द्वारा नष्ट कर दिए जाने पर यात्रियों के पास सिवाय देवताओं की प्रार्थना के कोई चारा नहीं रह जाता था।[4] उस समय ठीक जगह न मिलने पर यात्री कुम्हारों की कर्मशाला अथवा दुकानों में पड़े रहते थे।[5] उस युग के आगमन-गृहों में सब तरह के यात्री टिक सकते थे। मुसाफिरों के लिए ग्राम-सभा, प्रपा (बावड़ी) और मन्दिरों में ठहरने की व्यवस्था रहती थी।[6] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य के अनुसार नेपाल, ताम्रलिप्ति, सिन्धु और सोवीर अच्छे कपड़ों के लिए विख्यात थे, इसलिए इन स्थानों के लोग अधिकतर यात्रा किया करते थे।[7]

समराइच्चकहा—अभाग्यवश भारतीय साहित्य में हमें प्राचीन युग के चीन और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के अधिक उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं, पर भारतीय साहित्य मे कुछ ऐसी कहानियाँ अवश्य बच गई हैं जिनसे बंगाल की खाड़ी और चीन सागर में भारतीय जहाजरानी द्वारा यात्राओं पर काफी प्रकाश पड़ता है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने (करीब ६७८-७२८ ई०) ऐसी ही कई कहानियाँ समराइच्चकहा में दी हैं। पहली कहानी 'धन' नामक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है।[8] धन ने अपनी

---

१. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य—३०६३-६४.
२. वही—३०६४
३. वही—३१०४
४. वही—३११०
५. वही—३४४२-४५
६. वही—२४८६
७. वही—३६१२
८. समराइच्चकहा—पृ० २६४; बम्बई १६३८.

ग़रीबी से निस्तार पाने के लिए समुद्र-यात्रा का निश्चय किया। उसके साथ उसकी पत्नी और उसका भृत्य नन्द भी हो लिये। धन ने विदेश का माल (परतीरंक भाण्ड) एकत्रित किया और उसे जहाज पर भेज दिया। उसकी पत्नी के मन में पाप था। उसने अपने पति को मार कर नन्द के साथ भाग जाने का निश्चय कर लिया था। इसी बीच जहाज तैयार हो गया था (संयाचित प्रवहूंग) और उस पर भारी माल (गुरुक भांड) लाद दिया गया। दूसरे दिन धन समुद्र की पूजा करके और गरीबों को दान देकर अपने साथियों के साथ जहाज पर चढ़ गया। जहाज का लंगर उठा दिया गया। पालें हवा से भर गई तथा जहाज पानी चीरता हुआ आगे बढ़ा।

वसुभूति की समुद्र-यात्रा में भी हमें इस युग की जहाज-यात्रा का सुन्दर चित्र मिलता है।[1] कथान्तर में कहा गया है कि ताम्रलिप्ति से बाहर निकलकर कुमार और वसुभूति सार्थवाह समुद्रदत्त के साथ चल निकले। जहाज दो महीने में सुवर्ण-भूमि पहुँच गया। वहाँ उतरकर वे श्रीपुर पहुँचे।

समराइच्चकहा[2] में धरण की कहानी से भी भारत द्वीपान्तर और चीन के मध्य की जहाज-यात्रा का पता चलता है। एक बार सार्थवाह धरण ने खूब अधिक धन पैदा करके दूसरों की सहायता करने की सोची। धन पैदा करने के लिए वह अपने माता-पिता की आज्ञा से एक बड़े सार्थ के साथ पूर्वी समुद्र-तट पर वैजयन्ती नाम के एक बड़े बन्दरगाह की ओर यात्रा करने चल पड़ा। वहाँ विदेशों में खपने-वाला माल उसने एक जहाज पर लाद दिया।

धरण की कहानी से भी यह पता चलता है कि रास्ते में चोर-डाकुओं और जंगली जातियों का भय रहता था। धरण अपनी यात्रा में कुछ पड़ावों के बाद उत्तरापुर, अचलपुर पहुँचा। वहाँ माल बेचकर उसने अठगुना लाभ किया। वहाँ से माल लादकर वह माकन्दी की ओर चला। यात्रा में उसे एक जंगल मिला जहाँ जंगली-जानवर लगते थे। यहाँ सार्थ ने पड़ाव डाला और पहरे का प्रबन्ध करके लोग सो गए। आधी रात में सिंगे बजाकर शबरों और भिल्लों ने सार्थ पर धावा बोल दिया जिससे साथ की स्त्रियाँ भयभीत हो गई। सार्थ के सैनिकों ने यात्रा-पथ में मिले हुए उन दुष्टों का सामना किया, पर उन्हें भागना पड़ा। बहुत-से सार्दिक मारे गए। उनका माल लूट लिया गया। कुछ यात्रियों को शबर पकड़कर भी ले गए।[3]

गिलगिट में प्राप्त "विनय-वस्तु" में बुद्ध की यात्रा का वर्णन मिलता है; जिसमें बुद्ध अपनी यात्रा में भ्रष्टाला, कन्था, धान्यपुर और नैतरी गए। इन स्थानों का

१. समराइच्चकहा—पृ० ३९८
२. वही—पृ० ५१०
३. वही—पृ० ५१०

पता नहीं लगता है। शाद्वला में उन्होंने पालित कोट नाग को दीक्षा दी। नन्दिवर्धन में अश्वक और पुनर्वसु नागों और नाली तथा उर्दया यक्षिणियों को दीक्षा दी। वहाँ से यात्रा करते हुए वे कुन्तिनगर पहुँचे, जहाँ बच्चों को खानेवाली कुन्ती यक्षिणी का पराभव किया। खर्जुरिका में उन्होंने बच्चों को मिट्टी के स्तूपों से खेलते देखा और यह भविष्यवाणी की कि उनकी मृत्यु के पाँचसौ बरस बाद कनिष्क एक बहुत बडा स्तूप खड़ा करेंगे।[1] बुद्ध अपनी सूरसेन जनपद की यात्रा में पहले आदि राज्य, यानी बरेली जिले में अहिच्छत्रा पहुँचे। यहाँ उन्होंने भविष्यवाणी की कि उनकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद नट और भट नाम के दो भाई उरूमुण्ड (गोवर्धन) पर्वत पर उनके लिए एक स्तूप बनाएँगे।[2] बुद्ध भगवान् नक्षत्र रात्र में मथुरा पहुँचे थे। मथुरा की नगरदेवता (देवी) ने उनका आना अपने काम में बाधक समझकर उन्हें नंगी होकर डराना चाहा, पर बुद्ध ने माता के लिए यह अनुचित कार्य बताकर उसे लज्जित किया।[3] मथुरा से बुद्ध ओतला पहुँचे और वहाँ से दक्षिण पांचाल में कई ब्राह्मणों को दीक्षित किया।[4] पांचाल से साकेत की यात्रा में रास्तो पर कुमारवर्धन, क्रोंचानम् मणिवती, सालवला, सालिवला, सुवर्णप्रस्थ और साकेत पडते थे।[5] साकेत से बुद्ध ने श्रावस्ती की यात्रा की।[6]

उक्त विवरण से यात्रा के धार्मिक, प्रचार-सम्बन्धी उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। बुद्ध की धर्म-प्रचार यात्रा का रोचक विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

'महावस्तु' में भी हमें यात्राओं का उल्लेख मिलता है। महापथ पर पंजाब और अफगानिस्तान के घोड़ों के व्यापारी बराबर यात्रा किया करते थे। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि तक्षशिला का एक व्यापारी-यात्री घोड़े बेचने वाराणसी जाता था।[7] उसकी वाराणसी-यात्रा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि यात्राएँ पशु-व्यापार के लिए भी की जाती थी और घोडों के व्यापारी दूर-दूर की यात्रा करके लाभ उठाते थे।

शिलप्पादिकारम्—इस ग्रन्थ का समय १६७ ई० माना जाता है। यह तामिल साहित्य का बहुत प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसका मूल लेखक इलांगो है *जिसने इसमें कोवालन और उसकी धर्मपत्नी कन्नकी की कहानी बड़े नाटकीय ढंग* से प्रस्तुत की है। शिलप्पादिकारम् में भी हमें यात्रा-उल्लेख प्राप्त होते हैं। उसमें लिखा है कि उज्जैन होकर तामिलनाड के व्यापारी और यात्री काशी जाया करते

---

१. गिलगिट मैनेसक्रिप्ट्स् ३, भाग १, पृ० १-२
२. वही—पृ० ३-१३
३. वही—पृ० १४
४. वही—पृ० १८
५. वही—पृ० ६८-६६
६. वही—पृ० ७६
७. महावस्तु २, १६७.

थे।[1] 'मणि मेखलै' में तो काशी के एक ब्राह्मण की अपनी पत्नी के साथ कन्या-कुमारी तक की यात्रा का उल्लेख मिलता है,[2] जिस यह ज्ञात होता है कि संगम युग के साहित्य में जल और स्थल दोनों से लम्बी-लम्बी यात्राएँ की जाती थीं और स्त्रियाँ भी इनमें साथ देती थीं।

अवदानकल्पलता—(इस ग्रन्थ का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। इसके लेखक महाकवि क्षेमेन्द्र हैं)*

क्षेमेन्द्र अपने अवदानकल्पलता में उस युग की यात्राओं का उल्लेख करते हैं। इस ग्रंथ में विशेषकर उस युग का द्वीपान्तर के साथ समुद्री व्यापार एव यात्रा का उल्लेख आता है। अरबों की भाँति भारतीय नाविकों की भौगोलिक वृत्ति जागरित न होने से, हमें भारतीय साहित्य में बन्दरगाहों और उनसे चलनेवाले व्यापार का पता नहीं चलता, पर इसमें सन्देह भी नहीं कि इस युग में भी भारतीय व्यापारी जल और थल की यात्रा से ज़रा भी घबराते नहीं थे। कल्पलता के बदरद्वीप-अवदान में वे कहते हैं—

हर्म्यारोहण हेलया मदचलाः स्वभ्रैः सदम्भ्रंलिहा।
यद्वा गोष्प दलीलया जलभरक्षोभोद्धताः सिन्धवः॥
लंघ्यन्ते भवनस्थली कलनया ये चाटवींना तटाः।
तद्वीर्यस्य महात्मनां विलसतः सत्वोर्जितं स्फूर्जितम्॥[3]

क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त श्लोक से यह पता चलता है कि कैसे अदम्य उत्साह वाले, खेल ही खेल में ऊंचे पहाड़ पार कर जाते थे, यात्रा में छोटे तालाब की भाँति सागर को पार कर जाते थे और किस तरह राह में आए जंगलों को वे उपवन की तरह पार कर जाते थे।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति—इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है।[०] इसके लेखक ईशानशिवगुरुदेव मित्र थे। इसमें शिवजी की वन्दना, अर्चना एवं यात्रा का वर्णन है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति से हमें पता चलता है कि द्रोणमुख अर्थात् नदी के मुहानेवाले बन्दरों से यात्रियों के जहाज द्वीपान्तर को चले थे।[४] इन यात्री-जहाजों पर सैकड़ों आदमी यात्रा किया करते थे। द्वीपान्तर जाने की कथाएँ

---

१. शिलप्पादिकारम्, बी० आर० रामचन्द्र दीक्षित द्वारा अनूदित, पृ० ८८, आक्सफोर्ड प्रेस, १९३९
२. मणिमेखलै इन इट्स हिस्टौरिकल सेटिंग—एस० कृष्णास्वामी आयंगर, पृ० १४३, मद्रास १९२८
* संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर ऑफ नेपाल, बाई—राजेन्द्रलाल मित्रा, एल-एल. डी. सी. आई-ई-कलकत्ता, १८८२, पृष्ठ ५७
३. अवदानकल्पलता—क्षेमेन्द्र ४।२, कलकत्ता १८८८
०. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति—महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री १९२१—भूमिका से
४. वही—संस्कृत सिरीज ६७, पृ० २३७—त्रिवेन्द्रम्

उस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थ भविष्यतकहा[1] में भी मिलती हैं। भारत से द्वीपान्तर जाने का बहुत सुन्दर वर्णन कवि प्रस्तुत करता है और कहता है : "वे यात्रा में अथाह, दुस्तर समुद्र में अपने जहाज चलाकर द्वीपान्तर के स्थलों को पार करके नाना प्रकार के कौतूहल देखते थे। तत्कालीन प्राचीन-से-प्राचीन साहित्य से भी यही पता चलता है कि उस ससय स्थल-मार्ग पर उसी तरह यात्रा होती थी जिस तरह दूसरे युगों में। रास्ते में चोर, डाकुओं का भय भी उसी प्रकार था, कष्ट भी पहले से कम न थे। पर इतनी सब बाधाओं के बाद भी व्यापारी बराबर यात्रा किया करते थे। केवल व्यापारी ही नहीं वरन् हिन्दू-धर्म के भक्त भी यात्रा किया करते थे। तीर्थयात्रा का वह प्रधान युग था, इसी कारण हजारों हिन्दू सब कष्ट उठाते हुए भी तीर्थयात्रा किया करते थे। उस समय घूम-फिरकर दूसरों के स्वभाव, वेश-भूषा का अध्ययन करना अनिवार्य-सा माना जाता है, ऐसा न करनेवाले कभी भी उन्नति नहीं कर पाते थे। इसी बात को लेकर दामोदर गुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुट्टनीमतम' में कहा है कि जो लोग घूम-फिरकर लोगों के वेश, स्वभाव और बातचीत का अध्ययन नहीं करते, वे बिना सींग के बैल के समान हैं।[2] सुभाषितरत्न भाण्डागार में भी यात्रा का महत्व बतलाते हुए लिखा गया है कि जो देश की यात्रा नहीं करता और पण्डितों की सेवा नहीं करता, उसकी संकुचित बुद्धि पानी में पड़े घी की बूँद की तरह स्थिर रहती है, इसके विपरीत जो यात्रा करता है और पण्डितों की सेवा करता है, उसकी विस्तारित बुद्धि पानी में तेल की तरह फैल जाती है।[3] इन ग्रंथों में कहीं-कहीं यात्रा की प्रशंसा भी की गई है। भाण्डागार में एक स्थल पर कहा गया है कि यात्रा से तीर्थ का दर्शन, लोगों से भेंट-मुलाकात, पैसे का लाभ, आश्चर्यजनक वस्तुओं से परिचय, बुद्धि की चतुरता, बोल-चाल में धड़का खुलना ये सब बातें होती हैं।[4] इन्हीं सब बातों के लाभार्थ यात्राएँ की जाती थीं; जबकि मध्य युग में यात्रियों के लिए आज की-सी साफ-सुथरी सड़कें भी नहीं थीं। बरसात में तो कीचड़ से भरी सड़कों पर चलने में उनकी दुर्गति हो जाती थी। इस दुर्गति का भी इस ग्रन्थ में वर्णन दिया गया है।[5] इन संकेतों से यह पता चलता है कि कीचड़ में फँसकर यात्री रास्ता भूल जाते थे और अँधेरी रात में कदम-कदम पर फिसलकर गिरते थे। केवल वर्षा-ऋतु में ही नहीं जाड़े में भी उनकी काफी फजीहत होती थी। ग्रामदेव की फूस की कुटिया में, दीवाल के एक कोने में पड़े हुए ठण्डी हवा से उनके दन्त कटकटाते थे।

---

१. भविष्यतकहा—वहणंइ वहन्तिजलहर रौदिदुत्तरि अत्थाहि मासमुद्दि।
लंघन्तइं दीवं.र थलाइ पेक्खन्ति विविह कोऊलांइ॥
—हरमन याकोबी द्वारा सम्पादित, ५३।३-४, म्यूनिख १९१८

२. कुट्टनीमतम्—श्लोक २१२, श्रीतन सुखराम द्वारा सम्पादित, बम्बई सं० १९८०

३. सुभाषितरत्न भांडागार—पृ० ८८

४. वही—पृ० ३२९

५. वही—पृ० ३४५

बेचारे रात मे सिकुड़ते हुए अपनी कथरी ओढ़ते थे ।[१] रास्ते की इन बाधाओं से लोग अभ्यस्त थे। उनकी यात्रा का उद्देश्य साधु चरित, जनसाधारण की उत्कण्ठाएँ, हँसी-मज़ाक, कुटलाओं की टेढ़ी बोली, गूढ़ शास्त्रों का तत्व, विटों की वृत्ति, धूर्तों को ठगाने के उपायों का ज्ञान होता था ।[२] इस प्रकार यात्रा करनेवालों को उस समय के वातावरण की पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है । इसके साथ-ही-साथ यात्रा करते हुए घूमने में गोष्ठी का ज्ञान, तरह-तरह के हथियारों के चलाने की जानकारी, शास्त्रों का अभ्यास, अनेक तरह के कौतुकों के दर्शन, पत्रच्छेद, चित्रकर्म, मोम की पुतलियाँ तथा पुताई के काम का ज्ञान तथा गाने, बजाने और हँसी-मज़ाक का मज़ा मिलता था ।[३] उस समय विजय-यात्राओं का विशेष महत्त्व था, जिससे सैकड़ों हाथी, घोड़ों से तैयार होकर यात्राएँ की जाती थीं । 'तिलकमंजरी' में वर्णित विजय-यात्राओं में हम राजेन्द्र चोल की द्वीपान्तर की विजय-यात्राओं की झलक पाते हैं ।[४] इन यात्राओं में बहुत दिन लगते थे ।

इस युग में यात्रा करनेवालों को कष्ट-बाधाएँ तो बहुत थी ही परन्तु यात्रियों के आराम का भी प्रबन्ध होता था । यह प्रबन्ध राजनियमों के अनुसार ही होता था, जिसके कारण यात्रियों को कष्ट के साथ-साथ कुछ आराम भी प्राप्त हो सके । इस प्रकार का विवरण अशोक के एक अभिलेख से प्राप्त होता है । उसमे लिखा है कि यात्रियों के आराम के लिए राजा ने रास्तों पर कुएँ खुदवाए थे और पेड़ लगवाए थे ।[५] इतना ही नहीं वरन् और भी सुविधाएँ दी गई थीं जैसे बीमार यात्रियों की सेवा-टहल का भी प्रबन्ध किया जाता था और मृत्यु हो जाने पर उनकी अन्तिम क्रिया की व्यवस्था का भार भी उस पर था ।[६] इस प्रकार राजनीतिक नियम यात्रियों के लिए लाभकर थे और राजा इन यात्रियों का ख्याल रखता था। उस समय यात्रियों की सुविधा के लिए ही राजा सड़कें बनवाने के बाद हर दो मील पर स्तम्भ लगवाकर दूरी और उपमार्गों का संकेत करवा देता था ।[७]

बहुत ही प्राचीनकाल से हमारे भारतवर्ष में यात्राएँ होने के कारण से यहाँ के भारतीय साहित्य में इसका एक विशेष स्थान हो गया है । अर्थशास्त्र के अतिरिक्त

१. सुभाषितरत्न भाण्डागार—पृ० ३४८
२. कुट्टनीमतम्—पृ० २१४-२१५
३. वही—पृ० २३४-२३७
४. तिलकमञ्जरी—पृ० ११३, द्वितीय संस्करण, बम्बई १९३८
५. अशोक—भाण्डारकर, पृ० २७६
६. ऐंशेण्ट इण्डिया डिसक्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन, जे० डब्लू० मेकिंडल फ्रेगमेंट ३४०, पृ० ८७, लन्दन १८७७
७. वही—फ्रेगमेंट ३४, पृ० ८६

प्राचीन व्याकरण-साहित्य में भी यात्राओं का उल्लेख मिलता है। महानिद्देस[1] में प्राचीन यात्रा-पथों का जिनपर यात्री यात्रा किया करते थे, वर्गीकरण और उस समय के जल-मार्गों की ओर हमारा ध्यान पहली बार सिलवालेवी[2] ने खींचा। अट्ठकवगा के परिकिस्सति की व्याख्या करते हुए महानिद्देस का लेखक कहता है कि अनेक कष्टों को सहते हुए वह गुम्ब, तक्कोल, तक्कसिला, कालमुरक, मरणपार, वरसुंग, वेरापथ, जव, तमलि, वंग, एलवद्धन, सुवण्णकूट, तम्बपण्णि, सुपार, भरुकच्छ, गंगण, परमांगण, योन, परमयोन, अल्लसन्द, मरुकान्तर, जवण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढपथ, संकुपथ, मूसिकपथ और वेत्ताधार में घूमा, पर उसे इन स्थानों के भ्रमण से कहीं शान्ति नहीं मिली। ऐसी यात्राएँ भी हुआ करतीं थी जिनमे कही भी शान्ति नही प्राप्त होती थी, फिर भी यात्री अपनी यात्राओं से निराश नहीं होते थे।

'वासुदेवहिण्डी' में भी हमें यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। इसमें चारुदत्त की कहानी में भारत से विदेश-यात्रा के लिए समुद्र-मार्ग का उल्लेख मिलता है।[3] इस मार्ग से अनेकों यात्री व्यापार करने के लिए विदेश की यात्रा किया करते थे। एक रईस बनिए का बेटा चारुदत्त बुरी संगत के कारण दरिद्र हो गया था, उसने अपने परिवार की राय मे धन कमाने के लिए यात्रा करने की ठानी। चम्पानगर से यात्रा प्रारम्भ करके वह दिसासंवाह नामक एक कस्बे में पहुँचा। वहाँ उसके मामा ने व्यापार करने के लिए कपास और दूसरी बाहरी वस्तुएँ खरीदी थीं। वह यात्रा करके उनका व्यापार करता था।[4] कुछ दिन वहाँ रहकर उसने पुनः यात्रा प्रारम्भ की और कमलपुर, ख्मेर, यवनद्वीप, सिंहल, पश्चिम बर्बर तथा यवन पहुँचा। उसने अपनी इस यात्रा में बहुत धन कमाया।[5] उसकी इस यात्रा का उद्देश्य ही धन-लाभ था। सत्रहवीं नम्बर की लेण में भी हमें विजय की सिंहल यात्रा का वर्णन मिलता है।[6] इन यात्रा-वर्णनों के उल्लेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्थल-यात्रा उस युग में प्रधान नहीं थी वरन् समुद्र-यात्रा की प्रधानता थी। यद्यपि रथ-यात्रा, घोड़ों से यात्रा, एवं बैलगाड़ियों से भी यात्राएँ की जाती थीं। पद-यात्रा तो एक साधारण बात थी। यद्यपि इसमें बाधाएँ सबसे अधिक पड़ती थीं। साँची के अर्धचित्रों से भी यह पता चलता है कि उस समय कभी-कभी व्यापारी लोग खूब सजे-सजाये बैलों पर भी यात्रा

---

१. महानिद्देस, एल० द० ला० वालेपूसां और ई० जे० टामस द्वारा सम्पादित, भाग १ पृ० १५४—५५, भाग २, पृ० ४१४-१५

२. एतूद आसियातीक, भाग २, पृ० १-५५, पारी १९२५

३. वासुदेवहिण्डी—डाक्टर बी० एल० सांडेसरा का गुजराती अनुवाद, पृ० १७७—भावनगर, सं० २००१

४. वासुदेवहिण्डी—डा० बी० एल० सांडेसरा का गुजराती अनुवाद, पृ० १८७

५. वही—पृ० १८८

६. हेरिंघम, अजण्टा प्ले, XIII ५७ (आ० १४ ए-बी)

किया करते थे।[1] यह यात्राएँ वे उन्हीं स्थानों पर करते थे जहाँ यात्रा-मार्ग ठीक होते थे और उनकी बैलगाड़ियाँ बिना किसी बाधा के चली जाती थीं।

जैन-शास्त्रों में भी हमें अनेक महापुरुषों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने समुद्र आदि के मार्ग द्वारा भारतेतर देशों का भ्रमण किया था। श्वेताम्बराम्नाय के उत्तराध्ययनसूत्र के इक्कीसवें व्याख्यान में चम्पा के श्रेष्ठी समुद्रपाल की कथा है। यह समुद्र के मध्य में जहाज पर ही जन्मे थे। इसलिए इनका नाम समुद्रपाल था। इनके पिता पालित कामक थे, जो व्यापार के निमित जहाज पर जाया करते थे। इसी प्रकार एक दिन वह जहाज पर बैठकर पिहण्डनगर को गए हुए थे। वहीं उन्होंने एक विदेशी रमणी से विवाह भी कर लिया था। जहाज-यात्रा में लौटते समय, इसी रमणी के गर्भ से समुद्रपाल का जन्म हुआ था, जो अपनी आयु के अन्तिम भाग में जैन-मुनि हुए थे और निर्वाण-पद को पहुँचे थे।[2]

इसी प्रकार की अन्य यात्रा-कथाओं के उल्लेख हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। हिन्दू-टेल्स में इसी सूत्र की एक अन्य कथा में आयाल नामक व्यक्ति के पारस्य देश में खूब धन कमाकर जहाजों द्वारा बेन्नायद नगर में आने का उल्लेख है।[3] यह आयाल कांपिल्य के ब्रह्मदत्त सम्राट् के समय विद्यमान था, जो ईसा के पूर्व आठवीं या नवीं शताब्दी में हुए माने जाते है।[4]

'दिगम्बराम्नाय' नामक पालिग्रंथ की कथाओं में स्वयं इन सम्राट् ब्रह्मदत्त का समुद्र-यात्रा करते हुए एक कांतरदेव द्वारा बीच समुद्र मे मारे जाने का उल्लेख मिलता है। इस समय अर्थात् सम्राट् ब्रह्मदत्त के पूर्व के अनेक जैन पुरुष भी जहाजों में बैठकर विदेशों की यात्रा कर चुके थे। गीता के श्रीकृष्णजी के समकालीन बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी भगवान् थे। इनके तीर्थ में चारुदत्त नामक प्रसिद्ध सेठ हुए थे। चारुदत्त सेठ की कथा वेश्या के पीछे सारा धन गँवा देने के कारण बहुत प्रसिद्ध है। वे अपनी सम्पदा गँवाकर कई बार यवनद्वीप और रत्नद्वीप आदि देशों में धनोपार्जन करने के भाव से यात्रा करने गए थे।[5] इनका वर्णन जिनसेनाचार्य के 'हरिवंशपुराण' में भी मिलता है। ऐसे ही भविष्यदत्त की कथा धनपाल कवि ने अपभ्रंश, प्राकृत भाषा में 'भविष्यतकहा' नाम से लिखी है। उसमें भविष्यदत्त को द्वीपान्तरों में वाणिज्य के लिए जहाजों में माल-असबाब भरकर, अन्य व्यापारियों के

---

१. मार्शल—सांची, भाग २, प्ले XX (बी)
२. जैनसूत्र (एस० बी० ई०) भाग २, पृ० १०८
३. हिन्दू टेल्स—मेयर्स पृ० २१५
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० १८०
५. इपीग्रेफिका इण्डिका, भाग १, पृ० ३८६

समूह के साथ, जाते हुए लिखा है। इन द्वीपों में मैणाकद्वीप और तिलकद्वीप उल्लेखनीय हैं। यह सेठ आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभस्वामी के समय में हुए थे।[१]

उपरान्त अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के समय में भी जैनी व्यापारी मुख्यतः सागर-यात्रा किया करते थे। जिस समय परमजिनेद्रभक्त राजा उदायन कच्छदेश की वीतभय नगरी में राज्य कर रहे थे, उस समय किन्हीं यात्री-व्यापारियों का जहाज लगातार छः माह तक समुद्र के तूफान में पड़ा मण्डराता रहा, आखिर व्यापारीगण वीतभय नगर पहुँचे।[२] इतना ही नहीं कि उस समय जैन व्यापारी ही विदेशों में सागर-मार्ग द्वारा यात्रा किया करते हों, प्रत्युत जैन साधुओं और राजाओं के भी विदेश-यात्रा में जाने के उल्लेख मिलते हैं। जैन साधुओं ने लंका, अरब, ईरान, ग्रीस, अबीसीनिया, नार्वे आदि सुदूर देशों में यात्रा करके जैन-धर्म का प्रचार किया था, यह आज भी विद्वानों को मान्य है।[3] भृगुकच्छ से यात्रा करते हुए एक दिगम्बर जैनाचार्य यूनान को गए थे और वहीं यात्रा करके इन्होंने समाधि-मरण किया था। इन श्रमणाचार्य की निषधिका यूनान की राजधानी अथेन्स में भी मौजूद है।[४] इसी प्रकार खाखेल महामेघवाहन की जावा द्वीप-यात्रा का भी उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जैन-धर्मानुयायी बहुत प्राचीनकाल से यात्राएँ किया करते थे।

यात्रा-सम्बन्धी इन विवरणों का उल्लेख हमें बौद्धकालीन जातकों में बहुत अधिक मिलता है। बौद्धों का साहित्य उस काल की यात्रा-बहुलता का स्पष्ट प्रमाण है। यहाँ हम बौद्ध-साहित्य से उदाहरण प्रस्तुत करते है।

जातकों का समय ३८० ई० पू० के निकट माना जाता है। इन जातकों में उस समय के यात्रियों के लिए अनेक प्रकार की सड़कों के उल्लेख हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि कुछ सड़कें इन यात्रियों के चलने से भी बन जाती थीं और कुछ सड़कें बनवाई जाती थीं। सड़कें अधिकतर ऊबड़-खाबड़ थीं और साफ-सुथरी नहीं होती थीं।[५] यात्री अक्सर इन यात्रा-पथों से गुजरते थे और ये यात्रा-मार्ग जंगलों, रेगिस्तानों से होकर जाते थे, जिनमें अक्सर भुखमरी, जंगली जानवर, डाकू, भूत-प्रेत और जहरीले पौदे मिलते थे।[६] इन यात्रा-मार्गों में यात्री अनेक बाधाओं का सामना करते थे। कभी-कभी इन यात्रियों को हथियारबन्द डाकू पकड़ लेते थे और कपड़े-लत्ते तक धरवा लेते थे।[७] जब कभी कोई बड़ा आदमी यात्रा करने को तैयार होता

---

१. जीन ओ० एस० न० XX, सन्धि ३, ४
२. हिन्दू टेल्स—मेयर्स
३. देखिए—'भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध', पृ० ६६-६७
४. इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वाटरली, भाग २, पृ० २६३-९४
५. जातक—१, १९६
६. वही—१, ९८, २७१, २७५, २८३, ३, ३१५, ४, १८५, ५, १२, ६, २६,
७. वही—४, १८५, गा० ५८, १, २८३, २, ३३५

था तो उस युग में भी उसके सड़कों पर चलकर यात्रा करने के पूर्व सड़कों की मरम्मत करदी जाती थी। इस प्रकार का उल्लेख भी हमें धम्मपद में मिलता है। मगधराज बिम्बसार ने जब यह सुना कि भगवान् बुद्ध वैशाली से मगध की ओर आनेवाले हैं तो उन्होंने उनसे सड़क की मरम्मत हो जाने तक यात्रा स्थगित कर देने की प्रार्थना की। राजगृह से पाँच योजन तक की लम्बी सड़क चौरस करदी गई और हर योजन पर एक सभा तैयार करदी गई। गंगा के पार वज्जियों ने भी वैसा ही किया। इसके बाद बुद्ध अपनी यात्रा पर निकले।[1] अनेक बाधाओं के कारण सड़कों पर यात्रियों के आराम के लिए धर्मशालाएँ होती थीं। ऐसी एक शाला बनवाने के सम्बन्ध में एक जातक में एक मजेदार कहानी आई है।[2] एक दूसरे जातक में इस बात का भी उल्लेख है कि उस समय अंग और मगध के वे नागरिक, जो एक राज्य से दूसरे राज्य में बराबर यात्रा करते थे, उन राज्यों के सीमान्त पर बनी हुई एक सभा में ठहरते थे। रात में ये मौज से शराब, कबाब और मछलियाँ उड़ाते थे तथा सवेरा होते ही वे अपनी गाड़ियाँ कसकर यात्रा के लिए निकल पड़ते थे।[3] जातकों के उपर्युक्त विवरण से पता लगता है कि उस समय की यात्रा-सभाओं का रूप ठीक मुग़ल-युग की सराय-जैसा था।

उस समय जो यात्री शहरपनाह के फाटकों पर पहुँचते थे, वे शहर के भीतर नहीं घुसने पाते थे। उन्हें अपनी रात या तो द्वारपालों के साथ बितानी पड़ती थी या उन्हें किसी टूटे-फूटे भुतहे घर में आश्रय लेना पड़ता था।[4] पर ऐसा पता लगता है कि तक्षशिला के बाहर एक सभा थी जिसमें नगर के फाटकों के बन्द हो जाने पर भी यात्री ठहर सकते थे।[5] एक जातक से यह भी पता लगता है कि काशी के महामार्ग पर एक गहरा कुआँ था, जिसमें पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ नहीं थीं, फिर भी पुण्यलाभ के लिए जो यात्री उस राह से गुजरते थे, वे कुएँ से पानी खींचकर पशुओं के लिए एक जलद्रोणी भर देते थे।[6] यात्रा के मध्य में आई हुई नदियों को पार उतारने के लिए घाट चलते थे। एक जातक में एक बेवकूफ माँझी की कहानी है जो बिना भाड़ा लिए यात्री को उस पार उतारकर फिर उससे भाड़ा माँगता था, जो उसे यात्रियों से कभी नहीं मिलता था।[7] इस जातक की कहानी से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय यात्रियों के मन में पार उतरने से पहले कुछ और ही होता था और पार उतरने के बाद कुछ और। उस समय छिछले पानी में यात्री बन्द से पार उतरते

---

१. धम्मपद अट्ठकथा—३।१७०
२. जातक—१, २०१
३. वही—२, १४८
४. वही—२, १२
५. धम्मपद अट्ठकथा—२, ३१
६. जातक—२, ७०
७. वही—३, १ ५२

थे और गहरे पानी में पार उतरने के लिए (एकद्रोणि) नावें चलती थीं।[१] राजा बहुधा नावों के बेड़ों के साथ यात्रा किया करते थे। एक जगह कहा भी गया है कि काशिराज गंगा के ऊपर अपने बेड़े (बहुनावासंघात) के साथ सफर करते थे।[२] यात्री या तो पैदल यात्रा किया करते थे अथवा सवारियाँ काम में लाते थे। गाड़ियों के पहियों पर हालें चढ़ी रहती थीं।[३] रथों और सुखनायकों में आरामदेह गद्दियाँ लगी रहती थीं और उन्हें घोड़े खींचते थे।[४] राजकुमार और रईस पालकियों पर चलकर यात्रा किया करते थे।[५]

जगलों में से गुजरते हुए रास्तों में डाकुओं, जंगली जानवरों और भूत-प्रेतों का यात्रियों को डर बना रहता था तथा भुखमरी से लोग भयभीत रहते थे।[६] अंगुत्तरनिकाय[७] में लिखा है : "सड़कों पर डाकू यात्रियों की घात में बराबर लगे रहते थे। डाकुओं के सरदार मुश्किल रास्तों को अपना मित्र मानते थे। वे यात्रियों को पकड़कर उनके रिश्तेदारों और मित्रों से गहरी रकम वसूल करते थे। रकम वसूल करने के लिए वे पकड़े हुए लोगों में से आधों को तो पहले भेज देते थे और आधों को बाद में।[८] अगर डाकू यात्रा करनेवाले बाप-बेटे दोनों को साथ पकड़ पाते थे तो वे बेटे को अपने पास रख लेते थे और बाप को छोडने की रकम लाने के लिए, भेज देते थे। अगर उनके कैदी आचार्य और शिष्य हुए तो वे आचार्य को रोके रखते थे और शिष्यों को रकम लाने के लिए छोड़ देते थे।"[९]

राज्य की ओर से डाकुओं के उपद्रव रोकने के लिए कोई खास प्रबन्ध न था। इससे ऐसा अनुमान लगता है कि मुग़ल-युग की भाँति यात्रियों को अपनी रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था, परन्तु पूर्णरूप से शासकीय प्रबन्ध नहीं था; ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कभी-कभी डाकुओं और यात्रियों को लूटनेवाले लुटेरों को राज की ओर से बड़ी सख्त सजा मिलती थी। वे बाँधकर कारागृह में बन्द कर दिए जाते थे।[१०] वहाँ उन्हें यन्त्रणा दी जाती थी और बाद में नीम की बनी लकड़ी की सूली पर वे चढ़ा दिए जाते थे।[११] इतना ही नहीं कभी-कभी उनके नाक,

१. वही—२, ४२३, ३, २३०, ४, २३४, ४, ४५६, ५, १६३.
२. जातक—३, ३२६
३. वही—४, ३७८
४. वही—१, १७५, २०३, २, ३३६
५. वही—४, ३१८, ६, ५००, गाथा १७६७, गाथा १६१३
६. वही—१, ९९
७. अंगुत्तरनिकाय भाग ३, पृ० ९८-९९
८. जातक—१, २५३
९. वही—४, ७२
१०. वही—२, ६७
११. वही—२, ३४

कान काट दिये जाते थे और इसके बाद वे किसी सुनसान गुफा अथवा नदी में फेंक दिये जाते थे।[१] वे वध के लिए कँटीली चांबुक (कंटककंस) और फरसे लिए हुए चोरघातकों के सुपुर्द भी कर दिए जाते थे।[२]

यात्रा-मार्गों पर जंगली जानवरों का भी बड़ा भय रहता था। कहा जाता है कि बनारस से जानेवाले महापथ पर एक आदमखोर बाघ लगता था।[३] लोगों का यह भी विश्वास था कि यात्रियों को जंगलों में चुड़ैलें लगती थीं, जो यात्रियों को बहकाकर उन्हें चट कर जाती थीं।[४] रास्ते में भोजन न मिलने से सभी यात्रियों को खाने का सामान साथ में ले जाना पड़ता था। पका खाना गाड़ियों पर चलता था।[५] पैदल यात्री सत्तू पर ही गुज़र करते हुए यात्रा किया करते थे। एक जगह कहा गया है कि[६] एक बूढ़े ब्राह्मण की जवान पत्नी ने एक चमड़े के झोले (चम्मपरिसिव्बंक) में सत्तू भरकर अपने पति को दे दिया। एक जगह यात्रा में वह कुछ सत्तू खाने के बाद थैली खुली छोड़कर पानी पीने चला गया जिसके फलस्वरूप थैली में साँप घुस गया।

कभी-कभी अस्पृश्यता के कारण ब्राह्मण-यात्रियों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। कहानी है कि अछूत-कुल में पैदा हुए बोधिसत्व कुछ चावल लेकर एक बार यात्रा पर निकले। रास्ते में एक उत्तरी ब्राह्मण बिना सीधा-सामान के उनके साथ हो लिया। बोधिसत्व ने उसे कुछ चावल देने चाहे; पर उसने लेने से इन्कार कर दिया। किन्तु बाद में, भूख की ज्वाला से विकल होकर उसीने बोधिसत्व का जूठा हुआ अन्न खाया। अन्त में अपने कर्म का प्रायश्चित्त करते हुए ब्राह्मण ने घने जंगल में घुसकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दी।[७] तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता का पता भी उक्त कथन से लगता है।

उस समय यात्री ही केवल व्यापार के लिए लम्बी यात्राएँ नहीं किया करते थे; सड़कों पर ऋषि-मुनि, तीर्थ-यात्री, खेल-तमाशेवाले और विद्यार्थी भी बराबर चला करते थे। जातकों का कहना है कि अक्सर सोलह वर्ष की अवस्था में पढ़ाई के लिए राजकुमार तक्षशिला की यात्रा किया करते थे।[८] देशों तथा उसके निवासियों की जानकारी के लिए भी यात्राएँ की जाती थीं। दरीमुख जातक में कहा गया है कि राजकुमार दरीमुख अपने मित्र पुरोहित-पुत्र के साथ तक्षशिला में अपनी शिक्षा समाप्त

१. जातक—२, ८१
२. वही—३, ४१
३. वही—१, २०४
४. वही—१, ३३३
५. वही—२, ८५
६. वही—३, २११
७. वही—२, ५७-५८
८. जातक—३, २

करके देश के रस्म-रिवाजों की जानकारी के लिए नगरों और ग्रामों की यात्रा करते फिरें।[१] शास्त्रार्थ के लिए भी कभी-कभी यात्राए की जाती थीं। जातकों में इस सम्बन्ध की कहानियाँ मिलती हैं।[२] अकेले यात्रा करना श्रेयस्कर माना जाता था, क्योंकि धम्मपद[३] आलसी और बेवकूफों के साथ यात्रा करने को मना करता है।

बौद्ध-साहित्य से पता चलता है कि घोड़े के व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे। उत्तरापथ से घोड़े के व्यापारी बराबर बनारस आया करते थे।[४] फेरीवाले बहुधा लम्बी यात्राएँ भी करते थे। अपनी जीविका की खोज में नाच-तमाशेवाले भी खूब यात्राएँ किया करते थे।[५] बौद्ध-साहित्य में ऐसे यात्रियों का भी उल्लेख है जिनकी यात्रा का उद्देश्य केवल मौज उड़ाना था। रास्ते में साहसिक कार्य ही उनकी यात्रा के इनाम थे। एक जातक में इस तरह की साहसिक यात्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन आया है।[६]

यात्रा में अनेक तरह की कठिनाइयाँ होते हुए भी, अन्तरदेशीय और अन्तर-राष्ट्रीय यात्राएं होती रहती थीं। जातकों में समुद्र-यात्राओं के अनेक उल्लेख हैं जिनसे उनकी कठिनाइयों का पता चलता है। बहुत-से व्यापारी सुवर्णद्वीप यानी मलय एशिया और रत्नद्वीप अर्थात् सिंहल की यात्रा करते थे। बाबेरू जातक से हमें पता चलता है कि बनारस के कुछ व्यापारी अपने साथ एक दिशा काक लेकर समुद्र-यात्रा पर निकले।[७] दूसरी यात्रा में भी इन्हीं यात्रियों ने वहाँ एक मोर बेचा था। यह यात्रा अरब सागर और फारस की खाड़ी के रास्ते होती थी।

शंख जातक[८] में सुवर्णद्वीप की यात्रा का उल्लेख है। दान देने से अपनी सम्पत्ति का क्षय होता देखकर ब्राह्मण शंख ने सुवर्णद्वीप की यात्रा एक जहाज से की। उसने स्वयं अपना जहाज बनाया और उस पर यात्रा की।

समुद्र-यात्रा से लौटनेवाले भाग्यवान् समझे जाते थे। ऐसी अवस्था में यात्रियों के सम्बन्धियों की चिन्ता का हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। यात्री की माता और पत्नी यात्री को समुद्र-यात्रा से रोकने का प्रयत्न करती थीं, पर मध्य-काल की तरह प्राचीन-काल के भारतीय इतने कोमल और भावुक नहीं थे। एक जगह यात्रा के सम्बन्ध में कहा गया है कि बनारस के एक धनी व्यापारी ने जब एक जहाज खरीद

१. वही—३, १५६
२. वही—३, १
३. धम्मपद—५।६१
४. जातक १, १२४
५. वही—३, ४१
६. वही—३, ३२२
७. वही—३, ३३६
८. वही—४, १०

कर समुद्र-यात्रा की ठानी तब उसकी माता ने बहुत मना किया, पर उसे वह रोती-बिलखती हुई छोड़कर चला गया।[१]

जब इन यात्रियों के जहाज डूबने लगते थे तब ये अपने इष्टदेवताओं की याद करने लगते थे।[२] बलहस्स जातक[३] में कहा गया है कि सिंहल के पास एक जहाज के टूटने पर यात्री तैरकर किनारे गए। इस घटना की खबर जब यक्षिणियों को लगी तब वे सिंगार पथर करके और कांजी लेकर अपने बाल-बच्चों और चाकरों के साथ *उन व्यापारियों के पास आई और उनके साथ विवाह करने का बहाना करके उन्हें* चट कर गईं। शंख जातक[४] में कहा गया है कि शंख की यात्रा के सातवें दिन जहाज में सेंध पड़ गई और नाविक पानी उलीचने में असमर्थ हो गए। डर के मारे यात्री शोर-गुल मचाने लगे, पर शंख ने एक नौकर अपने साथ लिया और अपने शरीर में तेल पोतकर और डटकर घी-शक्कर खाने के बाद मस्तूल पर चढ़कर वह सागर में कूद पड़ा और सात दिनों तक जल-यात्रा करता रहा।

जातकों से हमें यह भी पता चलता है कि उस समय के यात्रियों के जहाज लकड़ी के तख्तों से बने होते थे।[५] वे अनुकूल वायु में चलते थे।[६] जहाजों की बनावट के सम्बन्ध में हमें इतना और पता लगता है कि बाहरी पंजर के अलावा उनमें तीन मस्तूल रस्सियाँ, पाल, तख्ते, डाँड, पतवार और लंगर होते थे।[७] नियमिक पतवार की सहायता से यात्री जहाज चलाता था।[८] दीघनिकाय के केवड्ढसुत्त में, बुद्ध के शब्दों में, बहुत दिन पहले, समुद्र के व्यापारी जहाज पर एक दिशाकाक लेकर यात्रा करते थे, जब जहाज किनारे से ओझल हो जाता था तब वे दिशाकाक को छोड़ देते थे। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन तथा उपदिशाओं में उड़ता हुआ भूमि देखते ही वहाँ उतर पड़ता था, पर भूमि नहीं दिखने पर वह जहाज पर लौट आता था।[९]

बौद्ध-साहित्य में ऐसी सामग्री अधिक नहीं है जिससे पता चल सके कि जहाज पर यात्रियों के आमोद-प्रमोद या मनोरंजन के साधन क्या थे? पर यह मान लिया जा सकता है कि जहाज पर मनोरंजन के लिए गाना-बजाना होता था। एक जातक में एक यात्री-गायक की मजेदार कहानी आई है,[१०] क्योंकि उसके गाने से जहाज ही

१. जातक—४, २
२. वही—४, ३४
३. वही—२, १२७
४. वही—४, १०
५. वही—२, १११, ४, २०—गाथा ३२
६. वही—१, २३९, २, ११२
७. वही—२, ११२, ३, १२६, ४, १७, २१
८. वही—२, ११२, ४, १३७
९. जे० आर० ए० एस० १८८९, पृ० ४३२
१०. जातक—३, १२४

डूबते-डूबते बचा। कहा गया है कि कुछ व्यापारियों ने सुवर्णद्वीप की यात्रा करते हुए अपने साथ सग्ग नामक एक गायक को ले लिया। जहाज पर लोगों ने उससे गाने के लिए कहा। पहले तो उसने स्वीकार नहीं किया, पर लोगों के आग्रह करने पर उसने उनकी बात मान ली। पर उसके संगीत ने समुद्री मछलियों में कुछ ऐसी गड़बड़ाहट पैदा कर दी कि उनकी खलबलाहट से जहाज डूबते-डूबते बचा। सुप्पारक[११] जातक से हमें पता चलता है कि समुद्र के व्यापारी एक समय भरुकच्छ से जहाज द्वारा यात्रा के लिए निकले।

उपर्युक्त विस्तृत वर्णन से यह स्पष्ट है कि जल और थल में यात्रा करने का मुख्य कारण व्यापार ही होता था। वैसे इस युग में यात्रा के लिए अन्य उद्देश्य भी होते थे। यात्रा-जीवन का एक अनिवार्य अंग हो गई थी। प्राचीन साहित्य के सभी ग्रन्थों में हमें यात्रा-विवरण मिलते हैं, जिनसे यात्रा-परम्परा की प्राचीनता प्रमाणित होती है। सभी सांस्कृतिक साहित्यिक ग्रन्थ यात्राओं के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। यद्यपि विभिन्न युगों में भिन्न दृष्टिकोणों से यात्राएँ की गई हैं, परन्तु धीरे-धीरे यात्राओं का रूप विस्तार को प्राप्त होता गया है। उसके साधनों, वाहनों तथा नियमों में अधिकाधिक व्यवस्था आती गई और मार्ग की बाधाओं का परिहार होता गया। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन प्राचीन युगों में यात्रा का प्रधान उद्देश्य व्यापार और धन-लाभ ही था, यद्यपि विद्योपार्जन, मनोरंजन, तीर्थदर्शन आदि के लिए भी यात्राएँ की जाती रहीं।

विभिन्न युगों में यात्रा की विशेषताएँ—इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वैदिक युग' में व्यापारिक यात्राओं की प्राधान्यता के साथ-साथ तीर्थ-यात्राएँ भी हुआ करती थीं। ये यात्राएँ जल और थल दोनों मार्गों से होती थीं। आर्यों का स्थानान्तरण भी इसी प्रकार की यात्रा थी। इस युग की यात्राओं का विशेष उद्देश्य व्यापार द्वारा अर्थ-लाभ ही रहता था। सामुद्रिक यात्राएँ जहाजों द्वारा होती थीं। मनोरंजनार्थ भी लम्बी यात्राएँ हो जाती थीं। जहाज-यात्रा राजनैतिक दृष्टियों से आवश्यक-सी थी। जहाजों द्वारा ही लोग युद्ध के लिए भी जाते थे। इस युग के यात्रियों में केवल व्यापारीवर्ग ही नहीं, वरन् साधु, संन्यासी, तीर्थ-यात्री, फेरीवाले, खेल-तमाशों वाले एवं पढ़नेवाले छात्र भी देश-दर्शन की अभिलाषा से यात्राएँ करते थे। यात्रा-मार्गों में खाद्य-सामग्री न मिलने के कारण यात्री खाने का सामान अपने साथ ही ले जाते थे। समुद्री यात्रा के जहाज छोटे और बड़े सभी प्रकार के होते थे। यात्री सागर-तट के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अपने साथ पक्षियों को ले जाते थे। शास्त्र-विहित होने पर भी जल-यात्रा बहुत अधिक होती थी। नदियों के किनारे-किनारे लोग यात्रा किया करते थे। स्थल-यात्राओं के मार्गों में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। यात्रा-मार्गों में यात्रियों को तरह-तरह के चोर-डाकू लगते थे, जो

---

११. वही—४, १३८-१४२, गाथा १०५ से ११५

उन्हें लूटने के साथ ही कभी-कभी मारकर गढ़ों में भी फेंक देते थे। इन कठिनाइयों के साथ-साथ यात्रियों का लोग स्वागत भी करते थे, उनकी खूब आवभगत होती थी। अधिक वाहनों के अभाव में थल-यात्राएँ पैदल तथा बैलगाड़ियों आदि से ही होती थीं।

प्रागैतिहासिक युग में भी जल और थल ही यात्रा के विशेष मार्ग थे। परन्तु वैदिक युग की भाँति यात्रा का क्षेत्र सीमित न था। यात्रा की परम्परा चल निकली थी, अतः इस दिशा में यात्रियों को अधिक प्रोत्साहन मिला। जल-मार्ग से यात्राएँ अधिक होती थीं। थलमार्गीय यात्राएँ इस युग में भी पैदल, बैलगाड़ियों, घोड़ों आदि पर होती थीं। सागर-यात्रा जहाज द्वारा होती थी। हीरा, मोती आदि बहुमूल्य पदार्थों की खोज में विभिन्न देशों की यात्राएँ होती थीं, इन यात्राओं में धन-लाभ के साथ-साथ मनोरंजन भी होता था। राजे-महाराजे तीर्थों की यात्राएँ रथों पर करते थे, जिनका उद्देश्य पाप-कर्मों से मुक्ति पाकर पुण्य-लाभ करना ही होता था। इस युग में लोगों में धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वे धर्म को अत्यधिक महत्त्व देते थे, इसलिए धार्मिक तीर्थ-स्थानों की यात्राएँ बहुत अधिक की जाती थीं। यात्रियों में व्यापारिक और राजनैतिक कारणों से युद्ध भी होते थे। यात्री अनेक मांगलिक कार्य करके ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त कर आभूषणों से अलंकृत होकर यात्रा करता था। पुराण, महापुराण, रामायण, महाभारत आदि सभी धार्मिक ग्रन्थ इस प्रकार की यात्राओं के विवरणों से भरे पड़े हैं।

ऐतिहासिक युग में हम देखते हैं कि यात्राओं का मूल उद्देश्य केवल व्यापार न होकर ज्ञानार्जन भी था। यात्री व्यापारियों के झुण्ड-के-झुण्ड साथ-साथ चलकर यात्राएँ किया करते थे। प्रायः युद्ध के लिए यात्राएँ होती थीं, जिनमें जीवन का जोखिम रहता था। राजकुमारियों की खोज के कारण भी यात्राएँ होती थीं। व्यापार का क्षेत्र अब अन्तर्देशीय क्षेत्र में सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया था। इस कारण से और भी अधिक यात्राएँ होने लगी थीं। राज्यों की ओर से राजपथों, जलमार्गों की व्यवस्था भी हो गई थी। यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ थीं। सड़कों के किनारे मीलों के पत्थर लगा दिए गए थे तथा पथों के दोनों ओर वृक्षा-रोपण तथा कुओं का प्रबन्ध हो गया।

निष्कर्ष—साहित्य की यात्रा-परम्परा के इस क्रमिक विकास को देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यात्रा-परम्परा भारतीय जीवन में आरम्भिक युग से चली आई है। वैदिक-युग से प्रारम्भ होकर यह परम्परा पौराणिक-युग, रामायण-युग और महाभारत-युग में होती हुई ऐतिहासिक-युग तक चलती रही। इससे स्पष्ट होता है कि यात्रा-सम्बन्धी यह परम्परा अनिवार्य-सी थी, जिसके पीछे निहित थीं सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृति, धार्मिक तथा व्यक्तिगत भावनाएँ। पहले-पहल यात्रा-क्षेत्र सीमित था, जो अन्य युगों में विभिन्न प्रकार के यात्रा-वाहनों के प्राप्त होने पर क्रमिक-विकास की ओर अग्रसर होता गया।

: ३ :

हिन्दी में यात्रा-साहित्य का आरम्भ तथा उसका स्वरूप

१—भौगोलिक पृष्ठभूमि—किसी देश की संस्कृति के विकास में उस युग विशेष का, वहाँ के भूगोल का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भौगोलिक परिस्थिति और वातावरण की प्रतिक्रिया से उत्पन्न शक्ति ने बहुत-कुछ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ निर्धारित की हैं। यद्यपि मनुष्य ने अपने बुद्धिबल के द्वारा अनेक प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की है, उन्हें सीमित बनाने में सफल भी हुआ है, किन्तु अपने चारों ओर के भौगोलिक बन्धन से वह अपने को आज के वैज्ञानिक-युग में भी सर्वथा मुक्त नहीं कर सका है। उसका मनुष्य के जीवन-संग्राम, भावों और विचारों पर भी प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में सर टी० एच० होल्डिच का कथन बिलकुल सत्य है कि भारतीय इतिहास और संस्कृति ने जितना भौगोलिक परिस्थितियों का अनुसरण किया है, उतना अन्य किसी देश के इतिहास ने नहीं किया।[१] भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही बाहर से अनेक जातियाँ यहाँ आईं और उनकी विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय से भारतीय संस्कृति का क्षेत्र विस्तृत हुआ। देश की भौतिक अवस्थाओं का मानव-जीवन पर तो प्रभाव पड़ता ही है, साथ-ही-साथ उनका प्रभाव मनुष्य के आचरण पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए रेगिस्तान में, जहाँ मनुष्य को प्रकृति के साथ निरन्तर लड़ाई करनी पड़ती है, उसमें एक शुष्क स्वभाव और लूट-पाट की आदत का जन्म होता है। इसके विपरीत ही उष्ण कटिबन्ध में रहनेवालों की मुलायम आदतें उनसे सर्वथा भिन्न होती हैं, क्योंकि उष्ण कटिबन्ध में रहनेवाले मनुष्यों की आवश्यकताएँ प्रकृति भी सरलता से पूर्ण कर देती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव पर्वतमालाओं का पड़ता है। प्राचीन-काल में पर्वत-शृंखला लाँघी न जा सकने के कारण उसके दोनों ओर के निवासियों में पारस्परिक सम्पर्क बना रहना असम्भव-सा था। वहाँ सड़कें तथा यातायात के अन्य साधन भी उपलब्ध नहीं होते थे। पर्वतीय जलवायु और पथरीली भूमि की अपेक्षा विशाल उपजाऊ और हरे-भरे मैदानों में आने-जानेवालों को अधिक आकर्षण रहता था। इसी प्रकार यात्राओं का उस देश की भौतिक अवस्थाओं—बदलती जलवायु

---

१. 'दि रीजन्स ऑव दि वर्ल्ड'—(१९०४)—पृ० १ (टी० एच० होल्डिच)

आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यात्रा-पद्धति भी उसकी भौतिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होती है। यही परिवर्तन हमें भारत में भी मिलता है। भूगोल-विद्या-विशारदों का तो यहाँ तक मत है कि निकट भविष्य में उत्तर भारत के विशाल मैदानों के लगभग आधुनिक केन्द्र में ही सौर चक्रावर्तनों का कटिबन्ध फिर उपस्थित होगा।[१] अर्थात् जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तन जीवन में स्फूर्ति, गति और शक्ति उत्पन्न करेगा। जिस दिन मानव जलवायु पर विजय प्राप्त कर लेगा उस दिन संसार एक भव्य शक्ति-सम्पन्न स्थान हो जाएगा। हम यह देखते हैं कि पहाड़ों और रेगिस्तानों के यात्रा-मार्ग कठिन होते हैं, पर वही रास्ते नदी की घाटियों और खुले मैदानों में सरल बन जाते हैं। आरम्भिक युग में मनुष्य ने ढोरों को चराने की फिराक में घूमते हुए नवीन मार्गों की खोज की होगी और बाद में वही यातायात के पथ बन गए होंगे।

मुसलमान अपने साथ नई युद्ध-विद्या एवं राज्य-व्यवस्था लाए। उनका दृष्टिकोण सामन्तवादी था और देश के आर्थिक जीवन में उन्होंने बहुत-से परिवर्त्तन किए। उस समय भारत की सांस्कृतिक गतिविधि निर्धारित करने में हिमालय पर्वतमाला का बहुत बड़ा हाथ रहा है। गंगा की घाटी की सारी सम्पत्ति विभिन्न छोटी-बड़ी नदियों द्वारा हिमालय से ली गई। हम यह सरलतापूर्वक समझ सकते हैं कि हिमालय का यहाँ की भौगोलिक पृष्ठभूमि के विकास में कितना बड़ा भाग रहा है। मुसलमानों ने हिमालय के उत्तर-पश्चिमी दर्रों से देश मे प्रवेश किया। कुछ काल तक तो सीमान्त का पर्वतीय प्रदेश आक्रमणकारियों के मार्ग में भारी रुकावट बना रहा, किन्तु बाद में मुसलमान सेनाएँ पहाड़ी आंचल में प्रवेश करने में सफल हुई। इसके पश्चात् इन लोगों ने पर्वत से आने-जाने का यात्रा-मार्ग इसे ही बना लिया। भारत में अंग्रेज़ों का भी आगमन हुआ, किन्तु अंग्रेज़ उत्तर-पश्चिम सीमान्त के स्थल-मार्ग से नहीं आए। विन्ध्य-मेखला उत्तरी और दक्षिण भारत के बीच की विभाजन-रेखा मानी जाती है। प्राचीनकाल से उसके बीच के व्यापारिक रास्तों का विशेष सामयिक और व्यावसायिक गौरव रहा है। नर्मदा और सोन नदियों की घाटियाँ विन्ध्य को दो शाखाओं में विभाजित करती हैं। राजपूताना-मालवा की पर्वत-शृंखला और पन्ना-कैमोर आदि शृङ्खलाएँ उत्तर की ओर हैं और सतपुड़ा, हज़ारीबाग, राजमहल की शृंखला दक्षिण की ओर। आबू पर्वत विन्ध्यमेखला में ही है। यह मेखला प्रधान रूप से पर्वतीय और जंगली प्रदेश है। प्राचीन आर्यों ने इसे लाँघकर ही दक्षिण से सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित किया था। इसके पश्चात् बहुत दिनों तक उत्तर और दक्षिण में पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं आवागमन होता रहा। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में गुजरात तथा दक्षिण के प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आक्रमणकारी सिंध-प्रदेश के मार्ग से जाने के स्थान पर राजपूताना और मालवा होकर यह मेखला पार करते थे।

---

१. देखिए—'सिविलाइज़ेशन एण्ड क्लाइमेट'—एल्सवर्थ हंटिंगटन (१९१५), पृष्ठ ११२

देश के पथ के विकास में कितना समय लगा होगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके विकास में अनेक युग लगे होंगे और हजारों जातियों ने भाग लिया होगा। प्राचीन युग की सड़कों की यात्रा का सुख-दुख, सुरक्षा-अरक्षा आदि समय की भौगोलिक स्थिति पर अवलम्बित था। भारत के उत्तर-पूर्व में जंगलों से ढँकी पहाड़ियाँ और घाटियाँ हैं, जो मंगोल जाति को भारत में आने से रोकती हैं। फिर भी इन जंगलों और पहाड़ों से होकर मणिपुर और चीन के बीच एक प्राचीन रास्ता था, जिस रास्ते से चीन और भारत का थोड़-बहुत व्यापार चलता रहता था। ईसवी पूर्व दूसरी सदी में जब चीनी राजदूत चांगकियेन बलख पहुँचा, तब उसे वहाँ दक्षिणी चीन के बाँस देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। वास्तव में ये बाँस आसाम के रास्ते मध्य देश पहुँचते थे और वहाँ से बलख। फिर भी उत्तरी-पूर्वी रास्ते को पार करना सरल न था और यातायात के साधनों की कमी के कारण सभी लोग यात्राएँ नहीं कर पाते थे। मार्ग में पड़नेवाले प्राकृतिक दृश्यों को देखकर यात्रियों को आनन्द अवश्य अधिक आता था, पर उन्हें कष्ट भी बहुत झेलने पड़ते थे। भौगोलिक कठिनाइयों के कारण पद-यात्राओं का ही महत्त्व अधिक था। इच्छा रहते हुए भी धनाभाव के कारण जनसाधारण यात्रा नहीं कर पाता था।

२. **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि**—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत हमने यात्रा के क्रमिक-विकास को दिखाने का प्रयत्न किया है। इसे निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया गया है :—

१. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ
२. सामाजिक परिस्थितियाँ
३. यातायात के साधन
४. प्रमुख यात्रा-मार्ग
५. यात्रा-उद्देश्य

१. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ—ऐतिहासिक तारतम्य की दृष्टि से हम यात्राओं का प्रारम्भ उस समय से पाते है जब यूनानी पाटलिपुत्र पर धावा कर रहे थे। भारतवर्ष के साथ इनका सम्पर्क हो चुका था। देश में युद्ध-यात्राएँ बड़ी तेजी के साथ हो रही थीं। अशोक के बाद ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और देश की इस अवस्था से पूर्ण लाभ उठाकर बलख के राजा द्विमित्र ने हिन्दूकुश को पार करके भारतवर्ष पर चढ़ाई कर दी। परन्तु बलख के यूनानी भारत के हृदय में घुसते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गए। इस युद्ध-यात्रा का ठीक-ठीक समय तो निश्चित नहीं किया जा सकता; पर श्री टार्न की राय में यह चढ़ाई करीब ई० पू० १७५ में हुई होगी।[1] द्विमित्र का सेनापति मिलिन्द था, जिसकी सेना बनारस होती हुई

---

१. 'दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया'—डब्ल्यू-डब्लयू टार्न—पृ० १३३, कैम्बिज १९३८

पाटलिपुत्र पहुँची थी। स्त्राबो[1] के अनुसार ई० पू० सदियों से हेरात से भारतीय सीमा की यात्राओं के लिए तीन रास्ते चलते थे और इन्हीं रास्तों से यात्री भ्रमण किया करते थे। इन्हीं में से एक रास्ता दाहिनी ओर जाता हुआ बलख पहुँचता था और वहाँ से हिन्दूकुश होता हुआ उपरिशयेन से ओर्तोस्येन में पहुँचता था। दूसरा रास्ता हेरात के दक्षिण की ओर जाता था और तीसरा रास्ता पहाड़ों में होकर भारत और सिन्धु नदी की ओर जाता था। श्री फूशे[2] की राय है कि कबुर और ओर्तोस्येन दोनों ही काबुल के नाम थे और ओर्तोस्येन शायद काबुल के बगल-बगल कहीं बसा था। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने से हमें इस बात के अनेक प्रमाण मिलते है जिनके द्वारा युग का धीरे-धीरे विस्तार होता रहा। इस बात के प्रमाण भी हमें मिलते हैं कि अक्काद में भारतीयों की, संभवत: यात्री-व्यापारियों की एक बस्ता भी थी। इस बस्ती के लोग व्यापार के लिए यात्राएँ किया करते थे। गार्डन-चाइल्ड ने इसका विवरण अपनी पुस्तक में देते हुए लिखा है : "सिन्ध घाटी के शहरों की बनी हुई चीज़ें दजला और फरात के बाजारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ तरीके, मैसोपोटामिया के सिंगार के सामान और एक बेलन के आकार की मुहर की नकल सिंधवालों ने कर ली थी। कच्चे माल और विलास की चीज़ों तक ही व्यापार सीमित न था।"[3] इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि काल-विशेष की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण शहरों की चीजें व्यापारी यात्री एक दूसरे स्थान को ले जाते थे और उन्हें बेचकर लाभ उठाते थे। ये व्यापारी अकेले ही नहीं रहते थे वरन् इनका एक संघ होता था, जो भयावह परिस्थितियों के आने पर मिलकर दूसरों का सामना करता था। प्रो० वाशबर्न ने महाभारत का उदाहरण देते हुए इनके सम्बन्ध में लिखा है—"इन संघों की रक्षा एकता से है। कहा जाता है कि यात्री व्यापारियों के संघों का ऐतिहासिक युग में ऐसा ज़ोर था कि राजा भी इनके विरुद्ध कोई कानून नहीं बना सकता था। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है, जिनका राजा को खास ध्यान रखना चाहिए।[4] भारत का अन्य देशों से भी सम्बन्ध था, इसका मूल कारण व्यापार ही कहा जा सकता है। यद्यपि ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ई० पू० की सातवीं सदी के पूर्व से लेकर युगों बाद तक भारत और ईरान के सम्बन्ध हमें मिलते हैं। मुख्य रूप से यह विचार किया जाता है कि भारत और बैबिलोन के मध्य होनेवाला व्यापार का पथ फारस की खाड़ी से होकर था। मुख्यत: उत्तरी भारत में आनेवाले व्यापारी और यात्री स्थल-मार्गों से आते थे। दक्षिणी भारत समुद्र के ऊपर भरोसा करता था और उसका व्यापार सागरीय मार्गों से ही होता था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पिगट ने अपने ग्रन्थ 'प्री हिस्टोरिक इण्डिया' में यह अनुमान

---

१. स्त्राबो—१५। १। ८-९
२. ल वैय्यरुत द ला एंद-फूशे—भाग २, पृ०, २१३-१४
३. ह्वाट हैपेण्ड इन हिस्ट्री—गार्डन चाइल्ड पेलिकन बुक्स, पृष्ठ ११२
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—जिल्द १, पृ० २६९—प्रो० वाशबर्न हाप्किन्स का लेख

लगाया है कि शायद हड़प्पा के व्यापारी दक्षिण बलूचिस्तान में जाते थे, पर उनका वहाँ ठहरना एक कारवाँ के ठहरने से अधिक महत्त्व का नहीं था।[1] यह इस बात का प्रमाण है कि सिन्ध और बलूचिस्तान में व्यापार चलता था तथा बलूचिस्तान की पहाड़ियों से माल और कभी-कभी आदमी भी सिन्ध के मैदान में उतरते थे। इतिहास इस बात का प्रमाण भी देता है कि यह व्यापारिक सम्बन्ध समुद्र के रास्ते था, स्थल के रास्ते नहीं, क्योंकि कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध पश्चिम में ईरानी मकरान में स्थित बामपुर और ईरान के सूबे फार्स के आगे नहीं जाता।[2] आर्यों की यात्रा के सम्बन्ध में कदाचित यही अनुमान लगाया जाता है कि बलूचिस्तान और सिन्ध के रास्ते पश्चिम से आर्यों का इस देश में आगमन हुआ होगा। आर्यों के यात्रा-पथ की ऐतिहासिक और भौगोलिक छान-बीन श्री फूशे ने की है। उनकी जाँच-पड़ताल का आधार यह है कि पश्चिम से सब रास्ते बलख से होकर चलते थे और इसीलिए आर्य भी इसी पथ से होकर भारत पहुँचे होंगे।"[3] शासन-सम्बन्धी स्थितियों के साथ-साथ राजनैतिक स्थितियों का प्रभाव भी इन यात्रियों की परिस्थितियों पर पड़ा। भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे शीघ्र ही एक नवीन साम्राज्य की स्थापना हुई। ऐतिहासिक परिस्थितियों के ऐसे काल में इस्लाम-धर्म के अनुयायियों ने हिमालय की पर्वत-शृंखला के उत्तर-पश्चिमी स्थल-मार्ग से भारत पर आक्रमण किया था। नए साम्राज्य के संस्थापक ये ही ईसाई धर्मानुयायी थे। वे जल-मार्ग से भारत में आए थे और पहले-पहल दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर उतरे थे—आक्रमणकारियों के रूप में नहीं, वरन् व्यापारी-यात्रियों के रूप में। सिकन्दर महान् (३२७ ई० पू०) और वास्कोडीगामा (१४६८) के बीच के काल में भारत और यूरोप में कोई विशेष व्यापारिक सम्बन्ध न था। पुनरुत्थान काल (पन्द्रहवीं शताब्दी) के बाद ही भारतवर्ष यूरोप का ध्यान आकर्षित करने लगा था। कोलम्बस (१४६२) की असफलता के पश्चात् १४६६ के और १६१६ के मध्य जान कैबट, सरह्यू बिलूबाई, फोरबिशर, डैविड हडसन, बैसिन आदि इंग्लैण्ड के निवासियों ने उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व से जल-मार्ग ही नहीं वरन् बुखारा और ईरान होकर भारतवर्ष की यात्रा के लिए स्थल-मार्ग भी खोजने के असफल प्रयत्न किए। १५७७ में फ्रान्सिस ड्रेक हिन्दमहासागर में केवल मलाया द्वीप तक आ पाया था। रोमन कैथोलिक टामस स्टीवेन्स सर्वप्रथम अंग्रेज था, जो १५७६ में भारतीय समुद्र-तट (गोआ) तक पहुँच सका था। इसके पश्चात् १५८३ में जॉन एलड्रेड, जान न्यूबेरी, रैल्फ फिच, विलियम लीड्स और जेम्स स्टोरी नामक पाँच अंग्रेज यात्री व्यापारी भारतवर्ष आए। फिच अपने दो साथियों न्यूबेरी और लीड्स

१. प्री हिस्टोरिक इण्डिया—स्टुअर्ट पिगट ५, पृ० ११३-११४, लंदन—१६५०

२. वही—पृ० ११७-११८

३. ल बैयुयरूत द ला एन्ड—फूशे, पृ० १८२

के साथ दक्षिण भारत तथा बंगाल में भ्रमण करने के अतिरिक्त उज्जैन, आगरा, फतेहपुर, प्रयाग, बनारस, पटना आदि स्थानों पर भी गया था। भारतवर्ष आने के बाद वे पाँचों अलग-अलग हो गए और अपने-अपने निर्धारित मार्ग के अनुगामी बने। १५८८ में स्पेन की नाविक पराजय के बाद इंग्लैण्ड बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ा। १५६१ में एलिज़ाबेथ की आज्ञा प्राप्त कर कुछ व्यापारी यात्री तीन जहाज लेकर केप आफ गुड होप के रास्ते से कुछ दुर्घटनाएँ सहन करते हुए भारतवर्ष आए। उनके बाद कई सफल-असफल प्रयत्न हुए। इन्हीं परिस्थितियों में १६०३ में लन्दन का सर जान मिल्डेनहाल नामक व्यापारी ईरान होता हुआ स्थल-मार्ग से आगरा पहुँचा और सम्राट् अकबर से भेंट की। भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वी देशों में आने-जाने के लिए खोजे हुए नए मार्गों से यात्रा करके लाभ उठाने के लिए अंग्रेज़ पहले से ही प्रयत्नशील थे। सोलहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों की नाविक शक्ति बढ़ी और उन्होंने चारों ओर फैलना शुरू कर दिया। परिणामतः सत्रहवीं शताब्दी में मद्रास (१६४०), बम्बई (१६८६) और कलकत्ता (१६६०) में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उन्होंने अभूतपूर्व उन्नति कर ली। १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् भारतीय जीवन में अराजकता छा गई और ऐसे समय में भारत की यात्रा का द्वार उन्मुक्त हो गया और क्लाइव (१७४३-१७६७), वेलेजली (१७६८-१८०४) और हेस्टिंग्स (१८१४-१८२३) आदि ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। ऐतिहासिक घटनाचक्र के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों और विदेशी राजनीतिक सत्ता की स्थापना ने यात्राओं के क्षेत्र को और भी अधिक विस्तृत कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में सभी विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने लगे।

२. **सामाजिक परिस्थितियाँ**—युग के विस्तार में उस समय की सामाजिक परिस्थितियों का विशेष महत्त्व होता है। परिस्थिति के अनुसार ही समाज के गुण और दोष दोनों ही दिखाए जाते हैं। यही रूप हमें प्रारम्भिक यात्रा के युग-विस्तार में मिलता है, जिसके सम्बन्ध में श्री हेबर ने लिखा है: "सामाजिक परिस्थितियों द्वारा प्रोत्साहित आन्तरिक कलह और बाह्य आक्रमणों से उत्पन्न पारस्परिक फूट वैमनस्य, मतभेद और विश्रृंखलता और अराजकता, आर्थिक विनाश, रक्तपात, बर्बरता, जीवन और धन-सम्पत्ति की अनिश्चितता जीवन के आवश्यक अंग बन चुके थे।"[१]

इन परिस्थितियों में भी यात्रा-व्यापार खूब होता था, इसके प्रमाण हमें हड़प्पा-संस्कृति में भी मिलते हैं। हड़प्पा-संस्कृति में व्यापार का क्या स्थान था और वह किन स्थानों से होता था, इसका पता हम मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले रत्नों और धातुओं की जाँच-पड़ताल के आधार पर पा सकते हैं। शायद बलूचिस्तान

---

१. नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्राविन्सेज़ ऑफ इण्डिया
—रेजीनाल्ड हेबर, भाग २, पृ० २८४, लन्दन—१६२८.

से सेलखरी, अलबास्टर और स्टेटाइट आते थे और अफगानिस्तान या ईरान से चाँदी। ईरान से शायद सोना भी आता था; चाँदी, शीशा और राँगा तो वहाँ से आते ही थे। फिरोजा और लाजवर्द ईरान अथवा अफगानिस्तान से आते थे। हेमिटाइट फारस की खाड़ी में हुरमुज से आता था।[1] इस व्यापार से स्पष्ट है कि व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ठहरने के लिए माल ले जाते थे। शायद पन्थों पड़ावों पर ये टिकते भी होंगे। यात्री व्यापारी ऊँट पर माल ढोते थे, पर पर्वतीय स्थानों में लद्दू टट्टुओं से काम चलता था। हड़प्पा-संस्कृति में धीमी गति-वाली बैलगाड़ियों का काफी प्रचार था। इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि हड़प्पा-संस्कृति के युग मे नदियों मे नावें चला करती थीं। डा० मेके[2] का विचार तो यहाँ तक है कि बहुत प्रमाण होने पर भी यह कहा जाता है कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में सिन्ध के मुहाने से निकलकर जहाज बलूचिस्तान के समुद्री किनारे तक जाते थे। आज भी हम देखते है कि भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे के बन्दरगाहों से बहुत-सी देशी नावे फारस की ओर अदन तक जाती है। अगर ये रद्दी नावें आज कल समुद्र-यात्रा कर सकती हैं तो इसमे बहुत कम सन्देह रह जाता है कि उस काल में भी नावें समुद्र की यात्रा कर सकती थीं। ये भी सम्भव है कि विदेशी जहाज भारत के पश्चिमी समुद्र तट के बन्दरगाहों पर आते रहे हों।

सामाजिक परिस्थितियों में बँधे रहते हुए भी साधु-जीवन व्यतीत करने में कोई बाधा न थी। कोई भी व्यक्ति साधु होकर जनता पर अपना आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर सकता था। हिन्दुओं के लिए बैरागी और गुसाईं तथा मुसलमानों के लिए फकीर हो जाना सरल बात थी। इस रूप में उन्हें कम-से-कम भोजन तो प्राप्त हो ही जाता था।[3] इस प्रकार की परिस्थितियों को पाकर लोग दिन-रात भ्रमण ही किया करते थे। इन्हें किसी व्यवसाय हानि-लाभ आदि से कोई मतलब न होता था। एक प्रकार से ऐसे व्यक्ति समाज पर भारस्वरूप ही रहते थे। इधर-उधर के स्थानों के भ्रमण के साथ ये नित्य अनेकों तीर्थों का भ्रमण किया करते थे। ऐसे भक्त-जनों में से योगियों और संन्यासियों का सबसे अधिक आदर था। इन यात्रियों की कुछ धार्मिक-प्रथाएँ सामाजिक परिस्थितियों के कारण ऐसी भी होती थीं जिनमें देवी-देवताओं के रथों के नीचे लेटकर ये जीवन-दान भी दे देते थे। एक बार कई सन्तानों का वृद्ध पिता महामारी शान्त करने के लिए अग्नि की ज्वालाओं में भस्म हो गया।[4] इस प्रकार यात्री-साधु एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते हुए अपने-अपने चेले बनाते फिरते रहते थे। उन्हें समाज पवित्र और एक रहस्यात्मक शक्ति से

---

१. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र—पृ० ३१.
२. दि इन्डस वैली सिविलाइजेशन—डा० मेके—पृ० ११७-११८.
३. रैम्बिल्स एण्ड रिकलेक्शन्स—मेजर स्लीमैन—पृ० ३७०, लन्दन १९१५.
४. स्केचेज आफ दि हिन्दूज—पृ० १२८

सम्पन्न मानता था। जहाँ वे जाते थे लोगों की भीड़ लग जाती थी। ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जब उच्च वंश की स्त्रियाँ उनके पास भोजन लेकर जातीं और आशीर्वाद प्राप्त कर वापस आती थीं। सामाजिक परिस्थितियों से मुक्त इन घुमक्कड़ साधुओं में अनेक तो ऐसे भी थे जो 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए...' में विश्वास रख अनेक मादक द्रव्यों का सेवन करते थे। ऐसे ढोंगी भक्तों का केवल हिन्दुओं में ही नहीं मुसलमानों में भी अभाव न था।[1] इन यात्री-साधुओं के पास वैभव और ऐश्वर्य सभी कुछ था। बड़े ठाट-बाट से यह रहते थे और ऐश का जीवन व्यतीत करते थे। बनारस, अयोध्या, हरिद्वार, पटना आदि अनेक धार्मिक नगरों और ग्रामों में ऐसे साधु और उनके शिष्य भरे पड़े रहते थे। जनता केवल उनकी आध्यात्मिकता से प्रभावित ही नहीं रहती थी वरन् उनसे सशंकित और आतंकित भी रहती थी। वे जो कुछ किसीसे कराना चाहते थे, करा लेते थे, या जिस किसीसे जो कुछ चाहते थे, ले लेते थे। जनता के किसी व्यक्ति को इन्कार करने का साहस न हो पाता था। वे जादू-टोना अथवा मनुष्य की खोपड़ी में रखे हुए उल्लू, चमगादड़, साँप और नरमांस आदि द्वारा सहज ही में अपना आतंक जमा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी वे किसी सेना से मुठभेड़ भी ले बैठते थे। वे समाज की सम्पत्ति और शक्ति पर बड़े भारी भार के समान थे।[2] उस समय समाज में हिन्दू-मुसलमान में वैमनस्य की भावना अधिक नहीं थी। मेजर स्लीमैन ने इसी भावना का वर्णन करते हुए लिखा है : "शाह पूना आला' नामक प्रसिद्ध मुसलमान अपने बारह गाँवों की पच्चीस हजार रुपए वार्षिक आय से अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण और पथिकों तथा तीर्थ-यात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।"[3] इस व्यक्ति में हिन्दू-मुसलमान की भावना सदैव अच्छी ही बनी रही। इन पर हिन्दू भी श्रद्धा करते थे। ठीक इसी प्रकार ये मुसलमान हिन्दू विचारों का भी पालन किया करते थे। ऐसे अनेक हिन्दू भी थे जो मुसलमान सन्तों और धर्म तथा पवित्र स्थानों की पूजा करते थे। शेख ख्वाजा मुइनुद्दीन की दरगाह में हिन्दू भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित किया करते थे। जिस समय अजमेर सिंधिया-वंश के अधिकार में था उस समय वह भी एक प्रसिद्ध दरगाह के दानदाताओं में से था।[4] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि समाज की इन परिस्थितियों में ये लोग यात्रियों की सहायता सदैव

---

१. ऑरिएण्टल मेम्वायर्स—जेम्स फोर्ब्स—जिल्द १, पृ० ४७१-७२, एवं जिल्द २, पृ० २७६

२. थाट्स आन दि एफेक्ट्स आव दि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट आव दि स्टेट आव इण्डिया—विलियम टेनेण्ट—पृ० १४४-१४७—एडिनबरा—१८०७

३. जर्नी थ्रू दि किंगडम आव अवध—मेजर स्लीमैन—जिल्द १, पृ० ४८-४९ एवं २३३-३४ लन्दन—१८५८

४. नैरेटिव आव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्राविन्सेज आव इण्डिया—(१८२४-२५) रेजीनाल्ड हेबर—जिल्द २, पृ० ४४१-४२, लन्दन—१९२८

किया करते थे। जो भूले हुए पथिक होते थे उन्हें सही मार्ग का प्रदर्शन कराते थे और समय पड़ने पर उन्हें भोजन आदि की सुविधा भी प्रदान की जाती थी।

सामान्यतः इसका प्रधान कारण यही ज्ञात होता है कि हिन्दुओं में आशा और भय का संचार रहता था। वे धर्म के शाश्वत रूप को भूल गए थे। हिन्दू-धर्म में अनेक अच्छी बातें थीं; इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं किन्तु हिन्दू पण्डों, पुजारियों, पुरोहितों, गुरुओं आदि के संरक्षण में अज्ञान और भय से संवेष्टित रहकर ही अपने धर्म पर आरूढ़ रहता था। ब्राह्मण उसके अज्ञान और भय के प्रहरी थे। समाज में ये ही लोग सामान्य हिन्दुओं से विष्णु, शिव, शक्ति, हनुमान, भूत-प्रेत आदि की पूजा कराते, पिण्डदान कराते, लोगों के सिर मुण्डवाते, तिलक लगाते और यज्ञोपवीत पहनाते, गंगा-स्नान कराते, पापों का प्रायश्चित्त कराते थे, साथ ही तीर्थ-यात्रा का योग बताकर सारे प्रान्त का भ्रमण कराने स्वयं भी साथ चलते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज की इन परिस्थितियों में वे जीवन के अन्त तक एक हिन्दू पर छाए रहते थे।

समुद्र के मार्ग से यात्रा करनेवालों से नई-नई प्रथाओं का ज्ञान भी होता था। कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि हिन्दुओं में सागर-यात्रा का निषेध माना जाता था। समुद्र-यात्रा करनेवाले हिन्दू को प्रायश्चित्त भी करना पड़ता था। सूरत से कैम्बे जल-मार्ग तक यात्रा करने के कारण ही राघोबा को अनेक ब्राह्मणों और धर्मगुरुओं की भर्त्सना सहन करने के लिए बाध्य होना पड़ा था।[1] यह इसी बात का प्रमाण है। समाज की इन परिस्थिनियो में भी विभिन्न देशों का भ्रमण-क्रम चलता रहा। ऐसे समय में आर्थिक जीवन का नगरों के आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था, तो भी राजनैतिक उथल-पुथल के कारण व्यापारी प्रसन्न नहीं थे। युद्धों के कारण अनेक व्यापारियों के बड़े-बड़े मकान नष्ट हो जाया करते थे। व्यापारी यात्रियों का यही क्रम हम अठारहवी शताब्दी तक में देखते हैं। जब नगरों की साप्ताहिक हाटों में वस्तुओं का या तो क्रय-विक्रय होता था या विनिमय, उस समय पटना, मुंगेर, तिरहुत, बनारस, दिल्ली, गाजीपुर, फैज़ाबाद, फीरोज़ाबाद, लखनऊ, नगीना (जिसे उस समय अंग्रेज उत्तरी भारत का बर्रामघम कहते थे), कालपी, हीरापुर, बाँदा, कन्नौज, कानपुर, छपरा, चुनार, मिर्ज़ापुर, आगरा, जयपुर, जोधपुर, इटावा आदि प्रसिद्ध औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्र थे।[2] ये व्यापार और धन-सम्पन्नता के लिए विख्यात थे और जिनमें नमक, शोरा, शीशा, हथियार, रुई, नील, दुशालों, पत्थर की बनी चीजों, सोने-चाँदी के आभूषणों, बर्तनों, कम्बलों, रत्नों, सूती कपड़ों, रेशम और रेशमी-कपड़ों, बढ़िया ऊनी कपड़ों, कालीनों, लोहे की बनी चीजों,

---

१. ओरिएण्टल मेम्बायर्स—जेम्स फोर्ब्स—जिल्द १, पृ० ३११, लन्दन १८३४

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—एम० ए०, डी-फिल, डी० लिट्० पृ० ६, इलाहाबाद १९४८

गुलाब और इत्रों, खिलौनों, जीन और घोड़ों के सामानों, दस्तानों, मूर्त्तियों, पीतल के बर्तनों, लकड़ी की बनी चीजों, कमखाब, तनज़ेब, चीनी महाजनी आदि का व्यापार होता था। व्यापारी यात्री नावों आदि से भी माल ले जाते थे। भारतवर्ष से बाहर जानेवाली व्यापार की सामग्री में मुख्यतः भारतीय व्यापारी रेशम के कपड़े, मलमल, और महीन कपड़े, छुरियाँ, जिरह-बख्तर, कमखाब, जरदोज़ी की लोइयाँ, इत्र-फुलेल, दवाइयाँ, हाथी-दाँत की बनी चीजें, ज़ेवर और सोना (चाँदी कम) आदि ले जाते थे।[1] समाज की इन परिस्थितियों में भी धर्म का बाह्य रूप मूर्ति-पूजा एव अन्ध-विश्वासों में सीमित था। तीर्थ-यात्रा करना, भूखे रहकर शरीर सुखा लेना, एक पैर से खड़े रहना आदि विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों का समाज में प्रचलन था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद इस प्रकार की प्रथाओं में आमूल परिवर्तन हुए और समाज की रक्षा हो सकी। परिवर्तन के नव-युग की अवतारणा से यात्रा-विकास के नए मार्ग खुल गए।

३. **यातायात के साधन**—यातायात के साधनों का वर्गीकरण मूल रूप से तीन भागों में किया गया है, और इन्हींके अन्तर्गत समस्त वाहनों का विवरण भी समाहित है। ये तीन साधन इस प्रकार हैं—(१) पदातिक यात्रा, (२) पशुवाहन, (३) निर्मित वाहन। प्राथमिक यात्राओं के युग में यातायात का अधिक महत्त्व न था। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में इन साधनों के विषय में कुछ विवरण ही प्राप्त होता है। यातायात के साधनों की हमारे यहाँ सदैव कमी रही है, इसी कारण लोग पदातिक यात्राएँ अधिक करते थे। व्यापार ही यात्राओं का मूल कारण होन। था। प्रारम्भ में यातायात व्यापार जल के साथ-साथ स्थल के रास्ते से ही शुरू हुआ। ऐसे समय में मनुष्य बिक्री का सामान स्वयं ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने हाथ में, कन्धे, पीठ या सिर पर रखकर ले जाता था। जब मनुष्य ने पशु-पालन प्रारम्भ किया तब वह उनकी पीठ पर सामान ढोने लगा। इसके पश्चात् उसने यातायात के साधनों बैलगाड़ियों, ऊँटगाड़ियों, घोड़ागाड़ियों का निर्माण प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे आज के युग में मोटर, ट्रक, रेल, वायुयान आदि यातायात के अनेक साधनों से सम्पन्न हो सका है।

१. **पदातिक यात्राएँ**—इनका तात्पर्य उन यात्राओं से है जो मानव ने प्रारम्भ में की थीं। उस समय यातायात के साधनों के सुलभ न होने से इन यात्राओं का विशेष महत्त्व था। इस प्रकार की यात्राएँ दो रूपों में होती थीं—कभी एकाकी और कभी वर्गगत।

(क) **एकाकी यात्राएँ**—इनसे अभिप्राय उन यात्राओं से है जिनमें मनुष्य अकेला ही अपने निश्चित यात्रा-स्थल पर पहुँचता था। उसे एकाकी रहकर ही

१. बुद्धिस्ट इण्डिया—रीज डेविड्स, पृ० ६८

यात्राएँ करना पसन्द था। इस प्रकार की यात्राओं में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, क्योंकि रास्ते में लगनेवाले चोर, डाकू ऐसे एकाकी यात्रियों को लूटकर मार डालते थे। इन्हीं कारणों से एकाकी यात्राएँ बहुत कम हुआ करती थीं।

(ख) **वर्गगत यात्राएँ**—इनसे अभिप्राय उन यात्राओं से है जिसमें यात्री टोलियाँ बना लेते थे और झुंड-के-झुंड साथ चलते थे। पहली सदी से लेकर सातवीं सदी तक इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। यात्री रास्ते में खाते-पीते हुए विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते थे। उन्हें जहाँ भी अपने खाने-पीने योग्य सामग्री मिल जाती थी, वे वहीं अपना डेरा डाल लेते थे। जब वहाँ उनके खाने-पीने की वस्तु समाप्त हो जाती थी तो वे आगे के लिए प्रयाण करते थे। कभी-कभी व्यापार के कारण भी इस प्रकार की यात्राएँ की जाती थीं। सार्थ-रूप यात्राएँ भी हमें इसीके साथ मिलती हैं। सार्थ-रूप यात्राओं से हमारा तात्पर्य उन यात्राओं से है जिनमें वर्गगत यात्रियों के साथ-साथ चला करते थे। सार्थ पाँच प्रकार के होते थे—मण्डी सार्थ—माल ढोने वाले, २. बहलिया—इस सार्थ में ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते थे, ३. भारवह—इस सार्थ में लोग अपना माल ढोते थे, ४. औदरिका—यह उन मजदूरों का सार्थ होता था जो जीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते थे, ५. कार्पटिक सार्थ—इसमें अधिकतर भिक्षु और साधु होते थे।[1] उपर्युक्त प्रकार के सार्थ ही यात्रियों को विभिन्न यात्राओं में साथ देते थे। इन सार्थों के साथ यात्रा में अनुरंगा (एक तरह की गाड़ी), डोली, घोड़े, भैंसें, हाथी और बैल होते थे, जिन पर केवल असमर्थ बीमार, पायल, बूढ़े और पैदल यात्री चलते थे। कोई-कोई सार्थवाह इनके लिए कुछ किराया वसूल करते थे, पर किराया देने पर भी जो सार्थवाह बच्चों और बूढ़ों को सवारियों पर नहीं चढ़ाते थे वे क्रूर समझे जाते थे और लोगों को ऐसे सार्थवाह के साथ यात्रा करने की कोई राय नहीं देता था।[2] ऐसा सार्थ जिसके साथ दन्तिक्क (मोदक, मण्डक, अशोकबर्ती जैसी मिठाइयाँ) गेहूँ, तिल, गुड़ और घी हो, प्रशंसनीय समझा जाता था, क्योंकि आपत्तिकाल में, जैसे बाढ़ आने पर, सार्थवाह पूरे सार्थ और साधुओं तथा अपने साथ के यात्रियों को भोजन दे सकता था।[3] यात्रियों के साथ यात्रा में अक्सर सार्थों को आकस्मिक विपत्तियों का जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डाकुओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग-निरोध, राज्य-क्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ऐसे समय में यात्रियों और सार्थ के साथ खाने-पीने का सामान होने पर वह विपत्ति के निराकरण होने तक एक जगह ठहर सकता था। सार्थों के साथ यात्रियों के अतिरिक्त व्यापारियों और खासकर साधुओं का चलना ठीक नहीं समझा जाता था, क्योंकि इनके लूटने का

१. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य—३०६६
२. वही—३०७१
३. वही—३०७२

बराबर भय बना रहता था। रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिए छोटे-छोटे यात्रियों के साथ चलनेवाले सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर आगे बढ़ने के लिए रुके रहते थे।

सार्थवाह यात्रियों के आराम का ध्यान करके ऐसा प्रबन्ध करते थे कि उन्हें एक दिन में बहुत न चलना पड़े। क्षेत्रतः परिशुद्ध सार्थ एक दिन में उतनी ही मन्जिल मारता था जितनी बच्चे और बूढ़े आराम से तय कर सकते थे। सूर्योदय के पहले ही जो सार्थ चल पड़ता था वह ही अधिक पद-यात्रा कर पाता था। सार्थों के साथ यात्रा करनेवालों को एक अथवा दो सार्थवाहों की आज्ञा माननी पड़ती थी। उन दोनों सार्थवाहों में एक से भी किसी प्रकार अनबन होने पर यात्रियों का सार्थ के साथ यात्रा करना उचित नहीं माना जाता था। सार्थ-रूप यात्राओं में यात्रियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे उन शकुनों और अपशकुनों में विश्वास करें जिन्हें सारा सार्थ मानता था। सार्थवाह द्वारा नियुक्त चालक की आज्ञा मानना भी यात्रियों के लिए आवश्यक था।

इन सार्थों के साथ साधुओं की यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी। कभी-कभी उनके भिक्षाटन के लिए निकल जाने पर सार्थ आगे बढ़ जाता था और उन बेचारों को भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकना पड़ता था। एक ऐसे ही भूले-भटके समुदाय का वर्णन है जो उन गाड़ियों के, जो राजा के लिए लकड़ी लेने आई थीं, पड़ाव पर पहुँचा। वहाँ इन्हें भोजन मिला और ठीक रास्ते का पता भी चला। लेकिन साधुओं को ये कष्ट तभी उठाने पड़ते थे जब सार्थ उन्हें भोजन देने को तैयार न था। आवश्यक चूर्णि[1] में इस बात का उल्लेख है कि क्षितिप्रतिष्ठ और बसन्तपुर के बीच यात्रा करनेवाले एक सार्थवाह ने इस बात की मनादी कर दी कि उसके साथ यात्रा करनेवालों को भोजन, वस्त्र, बर्तन, दवाइयाँ मुफ्त में मिलेंगी। पर ऐसे उदार-हृदय भक्त थोड़े ही होते होंगे, साधारण व्यापारी अगर ऐसा करते तो उनका दिवाला निश्चित था। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए पड़ावों पर आग भी जलाई जाती थी। जहाँ डाकुओं का भय होता था वहाँ यात्री आपस में अपनी बहादुरी की डींगें इसलिए मारते थे कि डाकू उन्हें सुनकर भाग जाएँ, लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सार्थ इधर-उधर छितराकर अपनी जान बचाता था।[2]

भारतीय सार्थ घर बैठे हुए लोगों को बाहर निकलकर वास्तविक जीवन बिताने के लिए प्रबल आवाहन देता था। सार्थ की यात्रा व्यक्ति के लिए बोझिल नहीं होती थी। उसके पीछे आनन्द या उमंग, मेल-जोल, अन्यान्य हितबुद्धि की सरस भावनाएँ छाई रहती थीं। सार्थ के इस आनन्दमय जीवन की कुंजी महाभारत के उस वाक्य में मिलती है जो यक्ष-प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था—'सार्थः

---

१. आवश्यक चूर्णि—पृ० १०८.

२. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य—३१०४

प्रवसतो मित्र भार्या मित्रं गृहसत:'[1] घर के बाहर की यात्रा के लिए जो निकलते हैं सार्थ उनका वैसा ही सखा है जैसा घर में रहते हुए स्त्री। सार्थ के वातावरण में जीवन-रस का अक्षम्य स्रोता बहता हुआ अनेकों को अपनी ओर खींचता था। उसका उमगता हुआ सख्यभाव यात्रा के लिए मन को मथ डालता था। सार्थों के उपरान्त यात्रा की यही परम्परा आगे चलती रही, जिसका रूप आज भी हम अपने प्राचीन तीर्थों—बदरीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वरम्, प्रयाग, अयोध्या, वाराणसी आदि में देखते हैं। इन तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए बड़े-बड़े वर्ग एक ही साथ चलते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि आज यह वर्गगत यात्राएँ तीर्थ-दर्शन के लिए ही मुख्यतः होती हैं, परन्तु प्राचीन युग में ये मूलतः व्यापार के लिए ही होती थीं। यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में साधनों के आधिक्य से पद्धति समाप्तप्राय-सी हो गई है. और प्रत्येक व्यक्ति यात्राओं के लिए स्वतन्त्र है।

२. **पशुवाहन**—यह यात्रा का दूसरा साधन था। अन्य नवीन साधनों के न मिल पाने से बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि पर ही व्यापार का सारा सामान लादा जाता था। इन पशुओं पर केवल व्यापारिक सामग्री ही नहीं लादी जाती थी, वरन् ये यात्री की सवारी के काम भी आते थे। देव रूपों में पशुवाहन का स्वरूप हमें मिलता ही है जिसमें ये वाहन शीघ्रगामिता के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इन्हीं वाहनों पर बैठकर यात्रा की जाती थी और उन्हें बिभिन्न रूप-रंग से अलंकृत भी किया जाता था, इस प्रकार की परम्परा रामायण, महाभारत-युग से चली आई थी जिसके संकेत हमें साँची के अर्ध चित्रों तक में देखने को मिलते हैं, जिसमें कभी-कभी व्यापारी खूब सजे-सजाए बैलों पर भी यात्रा किया करते थे।[2] प्राचीन साहित्य में हमें इस बात के संकेत अधिक नहीं मिलते जिसमें सेना को छोड़ लम्बी यात्राओं के लिए घोड़े, बैल, खच्चर काम में लाए जाते थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि निकट के स्थानों की यात्राओं में लोग खूब सजे-सजाए घोड़ों पर यात्राएँ करते थे। सांची में ऐसे घोड़ों के चित्र बहुत बार आए हैं।[3] पशुओं को सजाने की यह प्रथा आज भी हम अपने देश के ग्रामों में देखते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऊँट, खच्चर, हाथी भी व्यापार एवं यात्रा के काम में लाए जाते रहे हैं। हम यह जानते हैं कि भारत में हाथियों की सवारी बड़े लोगों में बहुत प्रचलित थी। सेना के तो हाथी एक अंग होते ही थे, साथ ही राजा-महाराजाओं की दूर की यात्रा में वे बराबर उनके साथ चला करते थे। सवारी और माल की ढुलाई में ऊँटों का उपयोग भी बहुत पहले से होता आया है। रेगिस्तानी-यात्रा में तो यही एकमात्र यातायात एवं यात्री की सवारी

१. महाभारत वनपर्व—२८७।४५.

२. साँची—मार्शल—भाग २, प्लेo XXb

३. वही—XXXI

का साधन था। साँची में भी हमें एक ऊँट के सवार यात्री का चित्रण मिलता है।[१] राज्य-कर्मचारियों और शीघ्रगमिता वाले यात्रियों के लिए शिबिकाएँ होती थीं जो यात्राओं में बहुत आराम देती थीं। इस प्रकार की दो शिबिकाओं का चित्रण अमरावती के अर्ध-चित्रों में मिलता है।[२] टट्टू और खच्चर प्राचीन युग से आज तक पर्वतीय प्रदेशों में व्यापार के सामान को लादने के काम आते हैं। स्थल मार्गीय व्यापार एवं यात्राओं के लिए पशुवाहनों में बैल, घोडा, खच्चर, ऊँट, हाथी ही प्रमुख साधन रहे हैं। वाहनों के विकसित हो जाने पर भी हमें इन पशुवाहनों का प्रयोग भारत में आज भी मिलता है।

३. **निर्मित वाहन**—पशुवाहनों से काम न चलने पर मनुष्य ने अन्य नवीन वाहनों का निर्माण प्रारम्भ किया। इनके द्वारा उसे व्यापार एवं यात्राओं में बहुत सुविधा मिली। इनके निर्मित करने में उसे अनेकों कठिनाइयो का सामना पड़ा। ये साधन समयानुसार क्रमिक-विकास पाते गए। इनमें विशेष रूप से जहाज़, रथ, ठेला, गाड़ी, इक्का आदि वाहन आते हैं। सड़कों के ठीक न होने पर स्थल-यात्राएँ प्रारम्भ में कष्टप्रद होती थी परन्तु मार्गों के ठीक होने पर ये निर्मित वाहन सुविधा प्रदान करने लगे। विभिन्न प्रकार के जहाजों के निर्मित हो जाने पर यात्रा सरल हो गई थी। रथों द्वारा भी स्थलीय यात्राएँ होने लगी थीं, युद्ध-यात्राएँ मूल रूप से रथों पर ही होती थीं जिसके संकेत हमें रामायण, महाभारत, आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते है। इन्द्रजीत के स्वयं रथ हाँकने और युद्ध करने के सम्बन्ध मे लिखा है—

स्वयं सारथ्यमकरोत्पुनश्च धनुरस्पृशत्
तदद्भुतमभूत्तत्र सामर्थ्यं पश्यतां युधि ॥[३]

इसी प्रकार महाभारत के युद्धीय वर्णनों में युद्ध की विविध विधियों से रथों को घुमा-फिराकर शस्त्रों के प्रहारों का वर्णन किया गया है। गाड़ियों और इक्कों का चलन भी हमारे प्राचीन युग से चला आया है। हड़प्पा के खण्डहरों में ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन युग में यात्रा-साधनों के विकास में यहाँ इक्का भी चलता था।[४] इन इक्कों पर यात्राएँ की जाती थीं परन्तु गाड़ी और ठेलों पर व्यापार की सामग्री ही अधिक लादी जाती थी। रथों का प्रयोग सभी नहीं कर पाते थे, केवल राजा-महाराजा ही इन साधनों को उपयोग में लाते थे। भ्रमण के साथ-साथ युद्ध-यात्रा में इनका उपयोग अधिक होता था। निर्मित वाहनों के क्षेत्र में दिन-पर-दिन उन्नति ही होती रही और उसी क्रमिक विकास के

१. वही—भाग ३, प्ले० IXXVI, ६६ सी०
२. अमरावती स्कल्प्चर्स इन मद्रास म्यूजियम—शिवराम मूर्ति, प्ले० आ० १६, मद्रास १९४२
३. वाल्मीकि रामायण—युद्ध काण्ड, ९० सर्ग, पृ० ९७७, चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा
४. भारतीय संस्कृति और उसका साहित्य—सत्यकेतु विद्यालंकार—पृ० ७२, द्वि० सं० १९५६.

परिणामस्वरूप आज हम साइकिल, रिक्शा, मोटर, ट्राम्बे, रेलगाड़ी, वायुयान और राकेट आदि को यात्राओं में लाभप्रद पाते हैं। आज इन वाहनों द्वारा यात्रा अत्यधिक सुलभ हो गई है, जिसे सर्वसाधारण भी बड़ी सरलता से कर रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यातायात के अन्य साधनों की भाँति निर्मित वाहनों का भी क्रमिक-विकास होता रहा है और भविष्य में और अधिक होगा।

४. **प्रमुख यात्रा-मार्ग**—यात्रियों के कुछ प्रमुख पथ भी थे जिन पर चलकर वे अपने लक्ष्य तक पहुँचते थे। भारत के महापथों के लिए महाभारत के सबसे महत्त्व-पूर्ण यात्रा-मार्ग "उत्तरी महापथ" का वर्णन विशेष रूप से हमें मिलता है। यह महापथ केस्पियन सागर से चीन तक एवं बाल्हीक से पाटलिपुत्र ताम्रलिप्ति तक सारे एशिया भूखण्ड की विराटधमनी था। पाणिनी (५०० ई० पू०) ने इसका तत्कालीन संस्कृत नाम उत्तरपथ लिखा है।[1] इस पथ को ही प्रारम्भिक युगीन यात्राओं के वर्णन में मैगस्थनीज़ ने "नार्दर्न रूट" कहकर उसके विभिन्न भागों का परिचय दिया है। महाभारत के नलोपाख्यान में ग्वालियर के कोंतवार प्रदेश (चम्बल, बेतवा के मध्य) में खड़े होकर दक्षिण के रास्तों की ओर दृष्टि डालते हुए कहा गया है—"एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम्"।[2] और इसी प्रसंग में "बहवः पन्थानः" का ब्यौरा देते हुए विदर्भ मार्ग दक्षिण कोसल मार्ग और दक्षिण पथ मार्ग इन्हीं तीन पथों के नाम भी दिए गए हैं। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में भी हमें अपने लम्बे-चौड़े देश की इस विशेषता—जनायन-पंथों पर ध्यान दिलाया गया है—

'ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभयो भद्र पापास्तं पन्थानं जयेमान मित्र मतस्करम्॥
यच्छिवं तेन नो मृड।[3]

इसमें भारक के यात्रियों के अनेक प्रमुख पथों या मार्गों का विवरण दिया गया है, जिसे निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

१. इस भूमि पर मार्गों की संख्या अनेक है।
२. वे पंथ जनायन अर्थात् मानवों के यातायात के प्रमुख साधन हैं।
३. उन मार्गों पर रथों के वर्त्म या रास्ते बिछे हैं।
४. माल ढोने वाले शकटों के आवागमन के लिए (यातवे) भी ये ही साधन थे।
५. इन मार्गों पर भले-बुरे सभी को समान रूप से चलने का अधिकार है।
६. किन्तु इन पथों पर शत्रु और चोर-डाकुओं का भय हटना आवश्यक है।

---

१. उत्तर पथेनाहृतं च—पाणिनी-अष्टाध्यायी—५।१।७७
२. महाभारत—वनपर्व—५८।२
३. अथर्ववेद—१२।१।४७.

७. जो सुरक्षित एवं कल्याणकारी पथ हैं वे पृथिवी की प्रसन्नता के सूचक हैं। तत्कालीन यात्राओं का वर्णन करते हुए इसी महापथ की ओर कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में भी संकेत किया है।[1] रघुवंश में इसीको राजपथ कहा गया है जो कि सबसे अधिक दर्शनीय था।[2] इन महापथों के अतिरिक्त भी अनेकों प्रमुख मार्ग थे, जिन पर यात्री यात्रा के लिए चला करते थे।

प्रमुख यात्री और उनके यात्रा-मार्ग में पड़नेवाले प्रमुख नगर—जिस प्रकार अनेक यूनानी, चीनी, फ्रान्सीसी आदि लोगों के यात्रा-विवरण हमें यात्रा-साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में मिलते हैं, उसी प्रकार के सारे यात्रा-विवरणों में जो सबसे प्राचीन समझा जाता है वह सुलेमान नाम के एक सौदागर का लिखा हुआ है, जिसने व्यापारार्थ केवल भारत ही में भ्रमण नहीं किया वरन् चीन का भी भ्रमण किया था। इलियट महोदय ने भी अपने महत्त्वपूर्ण इतिहास में सुलेमान सौदागर के यात्रा-विवरण को ही सबसे प्राचीन लेख माना है।[3] इसके साथ ही इस यात्री की प्राचीनता का एक प्रमाण हमें और भी मिलता है। फ्रान्सीसी डाक्टर लीबान भी इस सौदागर को ही भारत का प्रथम मुसलमान-यात्री बतलाते हैं।[4] डाक्टर साहब का तो यहाँ तक कहना है कि सुलेमान का यात्रा-विवरण प्रथम पुस्तक है जो कि यूरोप में चीन के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई। सुलेमान फारस का सौदागर था, इसी कारण वह बहुत भ्रमण किया करता था। सौदागरी के ही लिए इस यात्री ने भारत तथा चीन की कई बार यात्रा की।

प्राथमिक यात्रियों में यात्रा-विवरण की दृष्टि से फाहियान भी बहुत प्राचीन यात्री माना जाता है। इसके पूर्व जो यात्री आए थे वे उद्यान से इधर नहीं बढ़ते थे। फाहियान जब श्रावस्ती पहुँचा था तो उससे यह जानकर कि वह चीन देश से आया है, लोगों ने आश्चर्यपूर्वक यह कहा था कि सुलेमान सौदागर के अतिरिक्त किसीको भी हमने चीन से यहाँ आते हुए नहीं देखा और न सुना ही है। इसका समय (२००-६०० ई०) माना जाता है, पर कुछ विद्वान् इसका समय ४००-४१४ ई० मानते हैं। इनके अनुसार से वह सन् ४०० ई० में भारतवर्ष में की ओर चला था

---

१. सन्तान काकीर्ण महापंथ पर्न्चांनांशुकैः कल्पित केतुमालम्। —कुमारसम्भव—७, ३

२. देखिए—'रघुवंश' १४, ३०—"श्रद्धापर्ण्य राजपथं"

३. देखिए—हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स (मुहम्मडन पीरियड), ८ भाग, इलियट लिखित एवं डासन द्वारा संपादित। प्रथम भाग के आरम्भ में सुलेमान का उल्लेख है।

४. "देखिए—उर्दू में 'तमद्दन अरब' (डा० लीबान फ्रान्सीसी भाषा में लिखित तथा सैयदअली बिलग्रामी द्वारा उर्दू में अनुवादित)

और सन् ४१४ ई० में अपने देश को लौट गया था।[1] फाहियान के अनन्तर यहाँ अनेक प्रमुख यात्री आए, उनके नाम निम्नलिखित हैं—

तावयुंग, तायिगं, हुईसांग, सुयेनच्वांग, हुइनि, सुयनेचिङ, सुयेनताई, चाउही, सिपिन, ईत्सिग, बुद्ध-धर्म, ताउफांग, उंगापो, सुयेनहुई, लुंग, मिंगयुएन, वानकी, मोक्षदेव, कुईचुंग, सिनचिउ, तावालिन, सुयेनता, सि-जि, ऊहिंग तथा सुंगयुन आदि।

इन यात्रियों का आगमन समय सन् ४१४ ई० से सन् १२०० ई० के मध्य रक्खा जा सकता है। इन यात्रियों के अतिरिक्त कुछ मुग़लकालीन प्रमुख यात्रियों का भी उल्लेख मिलता है। इस काल में (१२००-१५२६ ई०) अबुल फ़िदा (१२७३-१३७३ ई०) जकरिया कज़बीनी (१२८३ ई०), सूफी दुमिश्की (१३२७ ई०), इब्नबतूता (१३२५-१३४९ ई०), शहाबुद्दीन उमरी (१३४६ ई०), अब्दुर्रज्जाक (१४४२ ई०) आदि अनेक मुसलमान यात्री भारत आए।

इन यात्रियों के अतिरिक्त मार्कोपोलो, बर्नियर, तावर्नियर आदि के यात्रा-वृत्तान्त भी हमें मिलते हैं। इनके साथ ही कितने ही अन्य यात्रियों ने भी भारतवर्ष की ओर प्रयाण किया, परन्तु उनमें से बहुतों का तो पता ही नहीं है और कितने राह ही में मर गए और कितने आधे मार्ग से लौट गए।

मौर्य-काल के बाद भी प्राथमिक यात्राओं का वही रूप रहा। इस समय यात्रियों के लिए दो प्रधान सड़कों का उल्लेख मिलता है। प्रथम पाटलिपुत्र को काबुल की घाटी से और द्वितीय सिन्धु नदी के मुहाने से मिलाता था और ये ईरान होते हुए पश्चिम की ओर चले जाते थे।[2] इन विदेशी यात्रियों के यात्रा-वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में समय की भारतीय धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से लिखा है। ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ब्रिटिशकाल के अन्त तक न जाने कितने विदेशी यात्री भारत-भ्रमणार्थ आए। इनमें सत्यासत्य विवेचन भी क्षमता रखनेवाले कुछ विद्वान् यात्री भी थे, जिनके लेख विशेष महत्त्व के हैं। हेरोडोटस, सुलेमान सौदागर, मैगस्थनीज़, फाह्यान, हुएंगसांग, अलबरूनी, अबूज़ैद, अल इदरसी, इब्नबतूता, मार्कोपोलो, बर्नियर टैवर्नियर आदि विदेशी यात्रियों के वर्णन से भारतीय उद्योग-धन्धों एवं उस काल की यात्राओं के इतिहास से पता चलता है। इन्हें पढ़ने से यह भी पता चलता है कि प्राचीनकाल में इन विभिन्न देशों में किस प्रकार पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना थी और वे कैसे एक-दूसरे से राजनैतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों द्वारा जुड़े हुए थे।

---

१. सुंगयुन का यात्रा-विवरण—अनु० जगन्मोहन वर्मा—पृ० २—३, ना० प्र० सभा, काशी द्वारा प्रकाशित, सम्वत् १९७७.

२. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—भाग १, प्राचीन भारत—पृ० ५१६.

यदि हम भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में हिन्दूकुश के उत्तरी और दक्खिनी रास्तों की जाँच-पड़ताल करें तो हमें पता चलता है कि सब युगों में रास्ते एक समान ही नहीं चलते थे। पहाड़ी प्रदेश के रास्तों में कम हेर-फेर हुआ है, पर मैदान के मार्गों में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए बलख, बाम्यान, कापिशी, पुष्करावती और उदभाण्ड होकर तक्षशिला का रास्ता सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों तथा अनेक बर्बर जातियों द्वारा व्यवहार में लाया जाता था। वही मार्ग आधुनिक काल में मजारशरीफ अथवा खानाबाद, बाम्यान या सालंग, काबुल, पेशावर तथा अटक होकर रावलपिण्डी पहुँचता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तक्षशिला होकर महाजन पथ काशी और मिथिला तक चलता था। जातक से पता चलता है कि बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जंगलों से होकर गुजरता था। तक्षशिला उस युग में भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन-केन्द्र था। बौद्ध-साहित्य से इस बात का पता चलता है कि बनारस, श्रावस्ती और सोरेय्य (सोरों) के भारत के भीतर की यात्रा में युवानच्वाग ने गन्धार में पहुँचकर बहुत से सन्घाराम और बौद्धतीर्थ देखने के लिए अनेक मार्ग लिए। गन्धार से वे उड्डियान (स्वात) की राजधानी मेंग-की यानी मंगलौर पहुँचे।[1] इस प्रदेश की सैर करके उत्तर-पूर्व से वे देरल में पहुँचे।[2] यहाँ से कठिन पर्वतीय यात्रा में झूलों से सिन्ध पार करके वे बेलोर पहुँचे।[3] इसके बाद वे पुनः उदभाण्ड लौट आए और वहाँ से तक्षशिला गए। तक्षशिला से उरसा (हजारा जिला) के रास्ते चलकर वे कश्मीर पहुँचे। वहाँ भ्रमण करके वे एक कठिन मार्ग से पूंछ पहुँचे और पूंछ से राजोरी होते हुए वे काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में पहुँचे।[4] राजोरी से दक्षिण-पूर्व में जाकर वे टक्क देश पहुँचे और दो दिन की यात्रा के बाद व्यास पार करके वे साकल पहुँच गए।[5] भ्रमण करते हुए यहाँ से वे चीनपति, तमसाबन होते हुए उत्तर-पूर्व में जालन्धर पहुँचे। यहाँ से कुल्लू की यात्रा करके पायत्रि और कुरुक्षेत्र होते हुए मथुरा आए।[6]

तक्षशिला और मथुरा के बीच महापथ के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है महाजन पथ का रुख बौद्ध-काल में भी वही था और बाद में वही रहा, यद्यपि उस पर पड़नेवाले प्रमुख नगरों के नाम राजनैतिक कारणों से बदल गए थे।

---

१. आन युवानच्वांग—वटर्स—पृ० १, २२७
२. वही—२३६
३. वही—२३९-४०
४ वही—१, २८३-८४
५. वही—१, २८६
६. वही—१, २९२

अपनी दूसरी-यात्रा में युवानच्वांग कान्यकुब्ज होते हुए अयोध्या पहुँचे और वहाँ से अयमुख और प्रयाग होते हुए वे विशोक पहुँचे।[१] यहाँ से फिर वे आगे बढ़े और वैशाली पहुँच गए।[२] यहाँ नैपाल की यात्रा करके वापस आए और फिर पाटलिपुत्र गए।[३] पाटलिपुत्र से उन्होंने गया और राजगृह की यात्राएँ कीं। व्यापारी तक्षशिला में व्यापार के लिए आते थे।[४] भ्रमण करते हुए यात्रियों की टोलियाँ खुले मैदानों में भी पड़ाव डालती थीं। हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वैशाली से दक्षिण जानेवाली महापथ की शाखा पर अनेक पड़ाव थे जिन पर बुद्ध राजगृह से कुशीनगर की अपनी अन्तिम यात्रा में ठहरे थे।[५] अपनी इस यात्रा में बुद्ध-भगवान् राजगृह से चलकर अबलटिठक और नालन्दा होते हुए पाटलिग्राम में गंगा पार कर कोटिग्राम और नदिका होते हुए वैशाली पहुँचे थे, यहाँ से श्रावस्ती का रास्ता पकड़ कर मण्डगाम, हत्थिग्राम, अम्बगाम, जम्बुगाम, भोगनगर तथा उत्तर पावा (पपउर, वर्तमान पडरौना, तहसील गोरखपुर) होते हुए वे मल्लें के शालकुंज में पहुँचे थे।[६]

मौर्य-काल में भी यात्रियों के कुछ प्रमुख पथ थे जिनसे व्यापारी यात्रा करते थे। मौर्य साम्राज्य के प्रमुख राजपथ का वर्णन मैगस्थनीज़ ने दिया है। यह राजपथ तामलुक से प्रारम्भ होकर पाटलिपुत्र, प्रयाग, कान्यकुब्ज और तक्षशिला होते हुए पश्चिमोत्तर प्रान्तस्थ पुष्करावती नगरी तक गया था।[७] इससे ज्ञात होता है कि उस काल में यात्रा के मार्ग निश्चित हुआ करते थे और लोग उन्हीं पर चढ़कर अपने गन्तव्य स्थानों पर पहुँच जाते थे।

प्राथमिक यात्राओं में चीनी-यात्रियों का स्थान विशेष महत्व का है। ये दूर-दूर के प्रदेशों की यात्रा किया करते थे। युवानच्वांग ने बलख से तक्षशिला का सीधा रास्ता पकड़ा और अपनी यात्रा से लौटते समय वे दूसरे मार्ग से जो कन्धार से आता है, लौटा। युवानच्वांग बलख, कापिशी, नगरहार, पुरुषपुर, पुष्करावती और उदभाण्ड होते हुए तक्षशिला पहुँचे। चौदह वर्ष भारत की यात्रा करके जब युवानच्वांग भारत से चीन को लौटे तो उदभाण्ड में कुछ काल तक ठहरे। फिर वहाँ

---

१. वही—१, २३०-३१
२. वही—२, ६३
३. वही—२, ८३
४. डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स, १, ६८२, डा० जी० पी० मालालसेकरा—लन्दन १९३८
५. वही—२, ७२३
६. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र, पृ० १८, पटना—१९५३
७. Megasthenis IV, 3-Schwaubecks Megasthenis Indica, translated by Mc Crindle in Ancient India as described by Megasthenis and Arrian. (Trubner), London 1877.

से लम्पक (लगमान) होते हुए खुर्रम की घाटी से होकर वर्णु (बन्नू) के दक्षिण में पहुँचे।[1]

युवानच्वांग ऐसे प्रसिद्ध यात्री के यात्रा-विवरण से हमें पता चलता है कि सातवीं-आठवीं सदी में भी यात्रा के लिए वे ही प्रमुख मार्ग थे जो ई० पू० पाँचवीं सदी में। ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में भारत की पथ-पद्धति, प्रमुख मार्ग वही थे, यद्यपि उस पर के बहुत-से प्राचीन नगर नष्ट हो गये थे और उनकी जगह नए नगर बस गए थे। अलबरूनी के अनुसार उस समय पन्द्रह मार्ग आते थे जो कन्नौज, मथुरा, अनहिलवाड़, धार, बाड़ी और बयाना से चलते थे।[2]

मुगलकालीन भारत के प्रमुख मार्गों का पता हमें, डब्लू० फिच, तावर्नियर, टीफेन थालर और चहारगुलशन से लगता है। मुगल-काल में महापथ काबुल से आरम्भ होकर बेग्राम, जगदालक, गण्डमक, जलालाबाद और अलीमस्जिद होते हुए पेशावर पहुँचा था। यहाँ से वह अटक के रास्ते हसन अब्दाल होते हुए रावलपिण्डी जाता था। यहाँ से रोहतास और गुजरात होकर वह लाहौर आता था।[3] काबुल से एक रास्ता, चारिकार के रास्ते, गौरबन्द और तलीकान होकर बदख्शाँ पहुँचता था। खुसरों की बगावत दबाने के पश्चात् बादशाह जहाँगीर ने काबुल से लाहौर तक इसी रास्ते से यात्रा की थी।[4] चहारगुलशन[5] ने इस रास्ते पर बहुत से पड़ावों के नाम दिए हैं। लाहौर से मुल्तान का रास्ता औरंगाबाद, नौशहरा, चौकीफत्तू, हड़प्पा और तुलुम्ब होकर गुजरता था।[6]

यात्रियों के लिए लाहौर से दिल्ली तक का रास्ता पहले होशियारनगर, नौरंगाबाद और फतेहाबाद होते हुए सुल्तानपुर पहुँचता था, जहाँ शहर के पच्छिम कालना नदी पर और उत्तर में सतलज पर घाट लगते थे। वहाँ के बाद जहाँगीरपुर पर सतलज की पुरानी सतह मिलती थी और उसके बाद फिल्लौर और लुधियाना आते थे। यहाँ से सड़क, सरहिन्द, अम्बाला, आनेसर, तरावड़ी, करनाल, पानीपत और सोनीपत होते हुए दिल्ली पहुँचती थी।[7] दिल्ली से आगरे की सड़क बड़ा पुल, बदरपुर, बल्लभगढ़, पलवल, मथुरा, नौरंगाबाद, फरह सराय और सिकन्दरा होकर आगरा पहुँचती थी। दिल्ली, मुरादाबाद, बनारस, पटनावाला रास्ता, गाजिउद्दीननगर,

---

१. ल वैय्य रुत द ला एंद—फुशे—पृ० २३१
२. इण्डिया—सचाऊ—१, पृ० २००
३. अर्ली ट्रवेल इन इण्डिया—डब्लू फास्टर, पृ० १६१, लंदन—१९२१,
४. तुजूक—१, पृ० ९०
५. इण्डिया आफ औरंगजेब—जे० सरकार, पृ० C, कलकत्ता— १९०१
६. वही—c VI-C VII
७. वही—XCVIII

डासना, हापुड़, बागसर, गढ़मुक्तेश्वर और अमरोहा होकर मुरादाबाद पहुँचता था। मुरादाबाद से बनारस तक के पड़ावों का उल्लेख नहीं मिलता। बनारस से सड़क गाजीपुर होकर बक्सर पहुँचती थी जहाँ सात मील दक्खिन में गंगा पार करके रानीसागर होकर पटना पहुँचती थी।[१] तावर्नियर के कथनानुसार[२] आगरा-पटना ढाकावाली सड़क आगरा से फिरोजाबाद, इटावा और औरंगाबाद होते हुए इलाहाबाद पहुँचती थी। इलाहाबाद में महसूल जमा करने के बाद सूबेदार से हस्ताक्षर लेकर गंगा पार करके जगदीशसराय होते हुए व्यापारी वाराणसी पहुँचते थे। गंगा पार करते समय यात्रियों के माल की छानबीन होती थी और उनसे चुंगी वसूल की जाती थी। वाराणसी से सैयदराजा और मोहन की सराय होकर रास्ता पटना की ओर जाता था। करमनासा नदी खुर्रमाबाद में और सोन सासाराम में पार की जाती थी। यही मार्ग दाऊदनगर और अरवल होते हुए पटना आ पहुँचता था।

बावरी ने कुछ शिष्यों को बुद्ध के पास भेजा था, उन शिष्यों ने आलक से अपनी यात्रा आरम्भ की। वहाँ से वे पतिट्ठान (पैठन, हैदराबाद), महिस्सति (महेसर, म० भारत), उज्जैनी, गोनद्ध, वेदसा (भेलसा, म० भारत), बन सह्वय होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। दक्षिण भारत के पथ नदियों के साथ-साथ चलते हैं। पहला मार्ग मनमाड से मछलीपट्टम के रेलमार्ग के साथ चलता है। दूसरा पूना से कांजीवरम् को जाता है, तीसरा गोआ से तन्जौर, नेगापटन, चौथा कालीकट से रामेश्वरम् और पाँचवाँ मार्ग केवल एक स्थानिक मार्ग है। पहले तीन पथों का बहुत महत्त्व है।

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि ये रास्ते आपस की लड़ाई-भिड़ाई, व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रधान साधन थे, फिर भी इन ऐतिहासिक पथों का विशेष महत्त्व है। पश्चिम और दक्षिण भारत की मार्ग-पद्धति के कुछ टुकड़ों का ऐतिहासिक वर्णन हमें अलबरूनी से अवश्य प्राप्त होता है। बयाना होकर मारवाड़ के रेगिस्तान से एक सड़क भाटी होती हुई लहरीबन्दर, यानी कराची जाती थी।[३] दिल्ली, अजमेर, अहमदाबाद का मार्ग कनौज, बयाना के रास्ते में ही था।[४] तावर्नियर के कथनानुसार सूरत से अहमदाबाद होकर भी एक मार्ग आगरा तक चलता था। सूरत से बड़ौदा और नाडियाड होकर अहमदाबाद यात्री पहुँचते थे। अहमदाबाद और आगरा के बीच की प्रसिद्ध जगहों में येसाणा, सीधपुर, पालनपुर, भिन्नमाल, जालोर, मेड़ता, हिंडौन, बयाना और फतेहपुर सीकरी पड़ते

१. इण्डिया आफ औरंगजेब—जे० सरकार
२. ट्रवेल्स—तावर्नियर—पृ० ११६-२०
३. देखिए इण्डिया—सचाऊ—१, ३१६-१७
४. वही—१, २०२

थे।[1] रक्षिण भारत के कुछ अन्य मार्गों का वर्णन करता हुआ वह लिखता है : "सूरत और गोलकुण्डा का मार्ग बारडोली, पिम्पलनेर, देवगाँव, दौलताबाद, औरंगाबाद, आष्टी, नाडेंड होकर था। सूरत और गोआ के मध्य का मार्ग उमन, वसई, चोल, डामोल, राजापुर और बेनगुला होकर था।[2]

मार्कोपोलो ही ऐसा यात्री था जिसने एशिया के अनेक देशों की यात्राएँ कीं और उनका विस्तृत वर्णन अक्षरबद्ध किया। उसने अपनी यात्राओं में ईरान (फारस) के मरुस्थलों और हरे-भरे मैदानों को देखा, उसने चीन और उसकी बड़ी-बड़ी नदियों, उसकी घनी आबादी, उसके ऐश्वर्यशाली नगरों और व्यापारिक वस्तुओं का व्यौरेवार वर्णन किया। उसने अपनी प्राथमिक युगीन यात्रा में तिब्बत, लाऊस (लासा), बर्मा, श्याम, चीन, कोचीन, जापान, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, सीलोन, भारतवर्ष, अंडमन, अफ्रीका, जंजीबार, मेडागास्कर, साइबेरिया और आर्कटिक ओशन इत्यादि अनेक स्थलों का भ्रमण किया और उनके वृत्तान्त को लिपिबद्ध किया जो इस समय तक किसी को ज्ञात भी न थे। प्राचीन वेनिस के व्यापारी यात्री संसार-भर में अपनी कीर्ति छोडकर गए हैं। आज भी सुदूर स्थानों के साथ उनके व्यापार एवं भ्रमण की अद्भुत कहानियाँ देश-देश के लोगो की जिह्वा पर नृत्य करती हैं। मार्कोपोलो की कहानी भी इसी प्रकार की है। उसको भी एक साहसी व्यापारी निकोलोपोलो के साथ जाना हुआ था १२६० में निकोलोपोलो और उसका भाई माफेओपोलो वाणिज्य-व्यापार के लिए कुस्तुनतुनिया गए। उन दिनों मध्य-एशिया का व्यापार-केन्द्र बुखारा था। बुखारा की यात्रा के लिए इन लोगों ने प्रस्थान कर दिया। बुखारा पहुँचने पर इन्हें सम्राट कुब्लाखाँ के प्रताप और ऐश्वर्य तथा उसकी राजधानी पीकिंग के वैभव की बातें सुनकर पोलो बहुत मुग्ध हुए। उनका मन पीकिंग के वैभव को देखने के लिए ललचा उठा। तब उन्होंने पीकिंग की यात्रा आरम्भ कर दी। वे एशिया के बीच से यात्रा करते हुए एक दिन सम्राट् कुब्लाखाँ के दरबार में जा उपस्थित हुए। वहाँ भ्रमण कर लेने के पश्चात् १२६६ ई० के एप्रिल मास में दोनों पोलो भाई यरूशलम पहुँचे। उन दिनों इस प्रकार की लम्बी यात्राओं का साहस कोई बिरला ही कर पाता था। १२७१ ई० में दोनों पोलो-भाइयों ने चीन के लिए पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ की। उनके साथ दो पादरियों के अतिरिक्त एक और भी व्यक्ति था और वह था निकोलोपोलो का पुत्र मार्कोपोलो। उस समय मार्कोपोलो १७ वर्ष का ही था, पर उसे यात्राओं की बड़ी इच्छा थी। तीनों पोलो यात्रा करते हुए बगदाद पहुँचे। वहाँ से टाइग्रिस अर्थात् दजला नदी के जलमार्ग से वे फारस की खाड़ी में से होकर ओरमज तक चले आए। वहाँ से उत्तर की ओर यात्रा आरम्भ हुई और वे किरमान, खोरिस्तान तथा बलख से होते हुए

१. ट्रवेल्स—तावर्नियर—पृ० ६६-७१
२. वही—पृ० १४२-४७

आमू नदी को पार कर गए। धीरे-धीरे वे पामीर के पठार की ओर गए। इस पठार को पार करते हुए वे एक मरुस्थल के किनारे चलते-चलते खेतान तथा अन्य कई शहरों का भ्रमण करते हुए लवनीर झील के निकट पहुँचे। लवनीर झील से चलकर उन्होंने विशाल गोबी मरुस्थल को पार किया। इस प्रकार साढ़े तीन वर्ष के पर्यटन के पश्चात् वे तीनों पोलो कुब्लाखाँ की राजधानी में पहुँचे। अपनी इन्हीं यात्राओं के सिलसिले में मार्कोपोलो का चीन, स्याम, जावा, जापान, लंका और भारतवर्ष की यात्राओं के लिए आगमन हुआ।

अपनी यात्रा में मार्कोपालो ने सम्राट् कुब्लाखाँ की राजधानी का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। उसके वर्णन के अनुसार राजधानी पीकिंग बहुत ही सुन्दर नगर था। उसकी सड़कें बहुत खुली और साफ-सुथरी थीं। वहाँ के भवन बहुत सुन्दर और विशाल थे। विशाल और हरे-भरे मनोहर उद्यान नगर की शोभा को चार चाँद लगाते थे। पीकिंग की अपेक्षा हांग्युनगर और भी अधिक सुन्दर था। मार्कोपोलो की राय में संसार भर में उस नगर से बढ़कर सुन्दर और कोई शहर न था।[1] सम्राट् के आदेश से मार्कोपोलो ने तिब्बत और समस्त दक्षिण-पश्चिम रूशिया और बंगाल तक भ्रमण किया। १२९५ ई० में वे तीनों पोलो अपने देश वेनिस में सकुशल पहुँच गए।

इसके बाद भारत में यवनों का आधिपत्य छाया जिसमें सुल्तान मुहम्मद तुगलक आदि ने मार्गों के निर्माण पर विशेष बल दिया। इसका वर्णन करते हुए १४वीं शताब्दी के अरब यात्री इब्नबतूता ने लिखा है : "सुल्तान के साथ उसकी दिल्ली से दौलताबाद की यात्रा बड़ी आनन्दमय रही। सड़कों के दोनों किनारों पर यात्रियों के आराम के लिए वृक्षारोपण था।[2] शेरशाह के शासनकाल में भी नई सड़कों के साथ-साथ पुरानी सड़कों की भी अच्छी व्यवस्था रहती थी, इसी कारण इतिहास में इसे मार्ग-निर्माता भी कहा गया है। ग्रैण्ड ट्रंक रोड का निर्माण एक प्रसिद्ध घटना थी जिससे यात्रियों को बहुत सुविधाएँ मिलती थीं। परन्तु यवनों की शासन-व्यवस्था के क्षीण होने तक यह मार्ग बहुत भयावने बन चुके थे जिनमें यात्रियों को ठग और चोर, डाकू लूट लिया करते थे।"

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मार्गों की बड़ी अव्यवस्था रही। इसके बाद ब्रिटिश शासन-काल में यात्रा-मार्गों का प्रसार हुआ जिसमें यात्रियों की सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया गया। यात्रा-मार्गों का यह रूप क्रमिक विकास पाता रहा और आज इतना उन्नतिशील हो सका है।

---

१. विकट पथ के राही—प्रो० बालकृष्ण—पृ० ६

२. ट्रान्सपोर्ट इन इंडिया एण्ड एब्राड—एन० एल० भटनागर—पृ० २६, मेरठ—१९५१

इस प्रकार हमें उपर्युक्त विवरण में यात्राओं के प्रमुख मार्ग, उन मार्गों पर चलनेवाले प्रमुख यात्री एवं मार्ग में पड़नेवाले प्रमुख नगरों का वर्णन मिलता है। देश में मार्ग-पद्धति का विकास सभ्यता के विकास का मापदण्ड है। जैसे-जैसे महाजन पथों से अनेक उपपथ निकलते गए, वैसे-ही-वैसे सभ्यता भारतवर्ष के कोने-कोने में फैलती गई और यात्राओं के मार्ग खुलते गए। इन्हीं स्थल यात्रियों द्वारा सभ्यता का विकास बृहत्तर भारत में हुआ और इन्हीं व्यापारियों, यात्रियों ने इस देश की संस्कृति को अग्रसर किया।

५. यात्रा-उद्देश्य—सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टि डालने से हमें—अध्ययन, धर्म-प्रचार, लूट-पाट, व्यापार, व्यवसायादि, युद्ध-यात्रा एवं मनोरंजन आदि ही यात्रा के प्रमुख उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं। प्रारम्भ मे मूलतः तीर्थ-यात्राएँ ही अधिक हुआ करती थीं। इनके अतिरिक्त व्यापारी व्यापार के उद्देश्य को लेकर देश-विदेश की यात्राएँ किया करते थे। तीर्थ-यात्रा-प्रेमी अनेक कष्टो के बाद भी यात्राएँ करते रहते थे। बहुत से ब्राह्मण पण्डित अपनी जीविका के लिए देश भर में भ्रमण किया करते थे। यात्रा ही उनके जीवन की प्रधान वृत्ति थी।

अध्ययन—बौद्ध-काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बालक इन्हीं यात्रा-पथों से अकेले बहुत दूर-दूर से तक्षशिला को विद्या-अध्ययनार्थ जाते थे।[1] हिन्दू राजा यात्रियों के लिए सड़कें निर्मित करवाकर धार्मिक लाभ प्राप्त करते थे। विद्या-अध्ययन ही इन विद्यार्थियों की यात्रा का प्रमुख उद्देश्य रहता था।

धर्म-प्रचार—यात्राओं द्वारा बौद्ध-धर्म के प्रचार से भारतवर्ष के साथ चीन देश का गुरु-शिष्य सम्बन्ध सुदृढ़ होता गया। बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ-साथ चीन में इस धर्म के अनेक भक्तों ने प्रव्रज्या ग्रहण की और चीन देश में भिक्षुसंघ का संगठन हो गया, तब से अनेक भिक्षु यात्री भारतवर्ष की ओर धर्म-यात्रा के लिए आते रहे, पर पंजाब से आगे कोई नही बढ़ा और न किसीने अपनी धर्म-यात्रा का विवरण ही लिख छोड़ा जिससे उसकी यात्रा का कुछ भी पता चल सके, ऐसे यात्रियों ने भारतवर्ष के विभिन्न नगरों तथा अन्य देशों में भ्रमण किया। बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों की खोज में भी यात्राएँ की जाती थीं। लेवी महोदय ने फाहियान की यात्राओं का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक की भूमिका में एक अन्य ग्रन्थ का भी विवरण दिया है जो उस युग की यात्राओं का उद्देश्य तथा विवरण बताता है। उन्होंन लिखा है : "एक और बृहत् ग्रन्थ है जिसमें भिन्न-भिन्न जनपदों में उसकी यात्रा का विवरण है···यदि कोई और बड़ा ग्रन्थ फाहियान के यात्रा-विवरण का इसके अतिरिक्त, जिसका यह

१. बौद्धकालीन भारत—पं० जनार्दन भट्ट—पृ० २३६

अनुवाद है, रहा होगा तो बहुत दिनों से लुप्त हो गया।"[१] सन् ४२० ई० में सीनवंश का तातारियों ने उच्छेद कर दिया और एक प्रबल तातारी साम्राज्य लोयांग में स्थापित हो गया। यह वंश वीई के नाम से प्रख्यात हुआ। इसी वीई वंश के साम्राज्य काल में सुंगयुन और हुईसांग भारतवर्ष में आए थे, जिस समय वे लोयांग से चले उस समय वहाँ एक विधवा रानी का राज्य था। उसके नाम का उल्लेख हमें नहीं मिलता है। केवल इतना मात्र लिखा है कि वीई महावंश की विधवा महारानी ने अपना दूत बनाकर पश्चिम के जनपदों में बौद्ध-धर्म की पुस्तकों की खोज में यात्रा के लिए भेजा था।[२] यह सुंगयुन का लेख नहीं है, वरन् यह चीनी संग्रहकार की प्रस्तावना का वाक्य है जो उसने यात्रा को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थ के आदि में लिखा है। यद्यपि इसमें विशेष रूप से सुंगयुन की ही यात्रा का वर्णन है और उसीके हस्तलिखित पत्रादि संग्रहकार को मिले थे तथा इसी कारण से यात्रा-विवरण सुंगयुन के नाम से अंकित भी किया गया है। इसकी यात्रा का मूल उद्देश्य वहाँ से बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों एवं वहाँ के लोगों के रहन-सहन के चित्रों को लेना ही था।

लूटपाट—कुछ आक्रमणकारियों ने भारत को लूटने के ही उद्देश्य से यात्रा की। ये हूण थे। सुंगयुन ने अपनी यात्रा में इन हूणों का अच्छा विवरण दिया है। इन लोगों के रहन-सहन का भी उसने बहुत स्पष्ट चित्र खींचा है। ये लोग पुष्यमित्र (४५४ ई०) के समय में सबसे पहले भारतवर्ष में मध्य एशिया से आने लगे थे, पर उस समय स्कन्दगुप्त ने गद्दी पर बैठकर उन्हें मारकर भगा दिया था। भारत पर हूणों का यह आक्रमण सन् ४५५ ई० से पूर्व हुआ था, क्योंकि स्कन्दगुप्त सन् ४५५ ई० में सिंहासनासीन हुआ। परन्तु हूणों के प्रभाव को स्कन्दगुप्त न रोक सका। मिस्टर विन्सेंट स्मिथ अपने इतिहास में इस सम्बन्ध में लिखते हैं : "स्कन्दगुप्त ने पहले उन्हें रोका था; पर फिर जब वे विदेशी लगातार सेना लेकर झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे तो वह उन्हें न रोक सका और न कुछ कर सका। वे भारत को लूटने के लिए मध्य एशिया से बराबर आते रहे।"[३] विन्सेंट स्मिथ की यही बात आगे समझ में नहीं आती

---

१. It is added that their is another larger work giving an account of his travels with a various countries...........If these were ever another and larger account of Fahien's travels than the narrative of which a translation is now given, it has long ceased to be in existence.

—फाहियान—अनु० जगन्मोहन वर्मा—पृ० १२३

२. सुंगयुन का यात्रा-विवरण—अनु० जगन्मोहन वर्मा—पृ० १४, ना० प्र० सभा, काशी, सं० १९७७

३. "He (Skandagupta) was unable to continue the successful resistence which he had offered in the earlier days of his rule, and was forced at last to succumb to the repeated attacks of the foreigners, who were, no doubt, constantly recruited by fresh hordes eager for the plunder of India".

—विन्सेन्ट स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया—पृ० ३१७, तृतीय संस्करण

कि मुंगयुन से हूण के राजा से हिरासत में कहाँ सन् ५१६ ई० में हुई इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, पर वह चालीस राज्यों से कर वसूल करता था, इसका ब्यौरा दिया गया है।[1]

व्यापार—प्राथमिक यात्राओं का मूल उद्देश्य व्यापार होता था। व्यापारियों की लम्बी-लम्बी यात्राएं उनके अदम्य साहस और धन-लाभ की तीव्र लालसा का प्रमाण उपस्थित करती हैं।

व्यवसायादि—*कुछ यात्रियों का यात्रा-उद्देश्य व्यवसाय करना होता था और* कुछ का विभिन्न स्थानों—देशों के उद्योग-धन्धों का निरीक्षण करना। बर्नियर ने भारत आकर यही किया था। उसने भारत आकर मुग़लकाल के विभिन्न शिल्पियों एवं कारखानों को भी देखा था। राजकीय कारखानों का निरीक्षण कर उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए उसने लिखा है कि बड़े कारखानों में लम्बे-चौड़े कमरे होते थे। उनमें कहीं बनाई का, कहीं कढ़ाई का और कहीं रँगाई का कार्य होता था। किसी-किसी कारखाने में बारीक रेशमी वस्त्र तैयार किए जाते थे। इसी प्रकार लकड़ी, लोहा, चमड़ा, बर्तन आदि के अलग-अलग कारखाने थे।[2] यात्राओं के उद्देश्यानुसार सडकों या मार्गों का निर्माण भी होता था। व्यावसायिक एवं सामयिक दृष्टि से की जानेवाली यात्राओं के लिए इन पथों का मूल्य अवश्य ही असाधारण रहा होगा।

युद्ध-यात्रा—इन उद्देश्यों के अतिरिक्त युद्धों के लिए भी यात्राएँ की जाती थीं। यात्रियों के काफिलों के साथ-साथ विभिन्न स्थानों को युद्ध के लिए फौजें भी भेजी जाती थीं। यात्रियों के इन पथों की देखभाल का कार्य एक प्रमुख विभाग के कर्मचारियों पर निर्भर रहता था, जो इसकी सुव्यवस्था को बनाए रखते थे।[3] इन मार्गों के आध-आध[4] कोस पर यात्रियों के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रदर्शक पत्थर (माइल स्टोन) गड़े रहते थे।[5] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी जल और स्थलमार्गीय यात्राओं के उद्देश्य वर्णित किए हैं।[6] इन यात्राओं के उद्देश्य भी धन-लाभ एवं व्यापार ही थे।

मनोरंजन—यात्रा का उद्देश्य कभी-कभी मनोरंजन भी होता था। यद्यपि बारहवीं-तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी मे युद्धों के लिए ही मूलरूप से यात्राए होती

---

१. वही—पृ० ३१०
२. ट्रेवेल्स इन दि मुगल एम्पायर—बर्नियर—पृ० २५९
३. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया – स्मिथ—पृ० १४२
४. वही—फुटनोट—पृ० १४२
५. मैगस्थनीज—XXXIV ३
६. कौटल्य अर्थ-शास्त्र – अधिकरण ७, अध्याय १२, प्रकरण ११६, पृ० २९८ बिबलियोथिका संस्कृता में प्रकाशित।

थीं, जिसमें मुसलमान राजा विभिन्न देशों को परास्त करके अपने में मिलाने के लिए यात्राएँ. करते थे। काश्मीर आदि की यात्राएँ विशेषकर मनोरंजन के लिए ही की जाती थीं, यहाँ तक कि मनोरंजनार्थ बर्फ मँगाने के लिए भी पर्वतीय यात्राएँ करनी पड़ती थीं। कभी-कभी राजधानियों को बदलने के हेतु यात्राएँ की जाती थीं।

यही परम्परा ब्रिटिश युग की यात्राओं में भी मिलती है। इस युग में भी युद्धों के लिए, व्यापार के लिए, ईसाई-धर्म के प्रचार के लिए यात्राएँ की जाती रही हैं, जिनमें यात्रा-मार्गों का पूर्ण उपयोग होता रहा है। आज भी यात्राओं का मूल उद्देश्य शिक्षा, ज्ञानार्जन, धर्म-प्रचार, शान्ति-स्थापना, व्यापार एवं मनोरंजन ही है, जिसके लिए केवल जल और स्थल के मार्ग ही नहीं आकाश-मार्ग भी निर्मित हो चुके हैं।

काल-विभाजन

हस्तलिखित ग्रन्थों का युग (१६००-१६६६ वि०)
१. भारतेन्दु-युग (१८५०-१६०० ई०)
२. द्विवेदी-युग (१६००-१६२० ई०)
३. उत्तर द्विवेदी-युग (१६२१-१६५५ ई०)
४. वर्त्तमान-युग (१६५५ से अब तक)

हस्तलिखित ग्रन्थों का युग[1] (१६००-१६६६ वि०)—रचनाक्रम में हमें सर्वप्रथम कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। १७वीं शताब्दी विक्रमीय के आरम्भ में कुछ ऐसे धार्मिक-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। ये संवत् १६०० से लगभग १६६६ विक्रमी तक के बीच में मिलते हैं। इस काल में प्राप्त इन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर ही हम उस युग का नामकरण तथा तत्कालीन साहित्य का रूप-निर्धारण कर सकेंगे। ग्रन्थों से पता लगता है कि इस युग में यात्राएँ विशेषकर धार्मिक भावना के कारण ही हुआ करती थीं, यद्यपि अन्य विषयों से सम्बन्धित एकाध ग्रन्थ जैसे 'बात दूर देश की' आदि भी मिलते हैं जिसमें गोमठ-यात्रा वर्णित की गई है। शैली की दृष्टि से इस युग की रचनाएँ प्रधानतः पद्य में लिखी गई हैं। गद्य-रचना अधिक नहीं है, जो कुछ है वह चम्पू के प्राधान्य से रचा गया है। वास्तव में चम्पू शैली ही इस युग की प्रमुख शैली है। भाषा-प्रधानतया ब्रजभाषा है। इसके स्वरूप में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का मिश्रण ही अधिक है। इस प्रकार इस युग का यात्रा-आधार, मार्मिकता-प्रधान है और ब्रजभाषा ही रचना का माध्यम है। इस युग के उपलब्ध ग्रन्थ ये हैं—

बनयात्रा—सर्वप्रथम हमें संवत् १६०० वि० की रचित विट्ठलजी की 'बनयात्रा' नामक पुस्तक की हस्तलिखित प्रति प्राप्त होती है। इसके लेखक का पता इसकी एक पंक्ति से ही लग जाता है। इसमें लिखा है : "अथ बनयात्रा श्री गुसाईंजी

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—परिशिष्ट

महाराज प्रभु किए सो प्रकार लिखते हैं।[१]" इस वाक्य से हमें यही ज्ञात होता है कि इसके लेखक कोई गुसाईंजी महाराज ही थे। ये गुसाईंजी महाराज कौन थे ? कहाँ रहते थे ? इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। हाँ, इस ग्रन्थ में धार्मिक भावना की प्रधानता अवश्य दिखाई देती है। इसके प्रमाण के लिए एक उद्धरण ही यथेष्ट होगा—

"रात्रि ही मथुरा को पधारे। नन्द-यशोदा-बलिदाऊ-श्रीकृष्ण को दर्शन करि पाछै ललिताकुण्ड, बनवारी कुण्ड, छछिहारी कुण्ड होइ गोपेश्वर होइ अक्रूर उतरे को स्थल देखि। पाछै ईसरा की परिवारि बैरागी की क्यारी जहाँ उद्धव ज्ञानोपदेश की राहें ब्रजभक्तन को सो देखि।[२]

बनयात्रा—दूसरा हस्तलिखित ग्रन्थ 'बनयात्रा' नामक है। इसका रचनाकाल संवत् १६०६ है। इसका रचनाकाल का वाक्य इस प्रकार दिया हुआ है: 'संवत् सोलै सै ना साल रे। भादरवों वदि द्वादशी सार रे॥[३] इसकी लेखिका श्रीमती जीमनजी की माँ (बल्लभ सम्प्रदायी) हैं।

बनयात्रा—इसी संवत् की एक 'बनयात्रा' और भी है। इसमें रचनाकाल के लिए लिखा है: 'संवत् सोल्हे सै नी साल रे। भादरवों वदि द्वादशी सार रे॥[४] इसकी लेखिका भी श्री जीमनजी की माँ (गोकुल निवासी) हैं।

सेठ पद्मसिंह की यात्रा—एक अन्य ग्रन्थ 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा' नाम से है। इसके रचनाकाल का अनुमानित संवत् १७०५ के बाद ज्ञात होता है। इस अनुमान का आधार इनकी यात्रा का एक वाक्य ही है, जिसमें लिखा है: "असद्रावादथ की सेठ पद्मसिंह यात्रा करणे वास्ते गया तारा तो बाल संमत १७ स ५ के साल में।"[५] इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

बात दूर देश की—नामक ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १८८६ दिया हुआ है: "इति श्री देस दूर की बात संपुरर्णम संवत् १८८६ वार बुधवार मीती कातिक वदी २।[६] इसमें जैन तीर्थ-स्थान गोमठ का वर्णन है, परन्तु लेखक के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। यह ग्रन्थ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डोलोजी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के पास वर्त्तमान है।

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्राप्त, 'बनयात्रा' हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ० १३७—अप्रकाशित

२ वही—पृ० १३१

३. ना० प्र० सभा, काशी—'बनयात्रा' हस्तलिखित ग्रन्थ नं० ६२१, पृ० १

४. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वां त्रैमासिक विवरण सन् १९३५-३७ ई०, पृ० १५३, सम्पादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी सं० २०१२

५. ना० प्र० सभा काशी में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थ "सेठ पद्मसिंह की यात्रा" से उद्धृत— ग्रन्थ संख्या १०७४

६. ना० प्र० सभा काशी की अप्रकाशित हस्तलिखित रिपोर्ट के आधार पर।

बद्री-यात्रा कथा—इस यात्रा-ग्रन्थ का निर्माणकाल संवत् १८८८ वि० है। इसकी लेखिका अयोध्यानरेश बख्तावरसिंह की पत्नी हैं। सभा में सुरक्षित खण्डित प्रति के कारण लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता है। इस सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखा भी है—"बख्तावरसिंह की स्त्री (सुदानि) ये अयोध्यानरेश महाराज बख्तावरसिंह की रानी थी। इन्होंने संवत् १८८८ में बद्रीनाथ की यात्रा की थी, जिसमें इन्हें तीन मास और एक दिन लगा था, तथा जिसका इन्होने "बद्री-यात्रा कथा" नामक पुस्तक में पद्य-बद्ध वर्णन किया है।···इसकी प्रस्तुत प्रति खण्डित है जिससे लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता।"[1]

बन-यात्रा परिक्रमा—रामसहायदासजी द्वारा लिखित एक हस्तलिखित यात्रा-ग्रन्थ और मिलता है। इसका रचनाकाल संवत् १८९१ दिया हुआ है—"संवत् १८९१ मिति कातिक शुक्ल १० शुभ म्गलवासरे। लिखित वैस्मश्व रामसहाय दास।"[2]

ब्रज चौरासी कोस बन-यात्रा—यह ग्रन्थ "वन-यात्रा परिक्रमा" से मिलता-जुलता है। सभा में मायाशंकर याज्ञिक के संग्रह में सुरक्षित है। इसका लिपिकाल सवत् १९०० है। क्योंकि इसमें लिखा है: "इति श्री कामवन के कुण्डन कीर्ति गति समाप्त। मिति आषाढवदिण संवत् १९०० लिषंत मथुराजी रामघाट मध्ये यमुनातटे।"[3]

बद्रीनारायण सुगम-यात्रा—इस ग्रन्थ के रचयिता पं० वाचस्पति शर्मा उपनाम "चैत" हैं। इसका रचना-काल संवत् १९६६ वि० है, जैसा कि इनके इस श्लोक से ज्ञात होता है—

श्री बद्रीनारायणस्याऽथ सुगमांचार्थ विस्तृतां।
यात्रां प्रबक्तु मुत्सेहै खटरसाकेन्द्र १९६६ वंक्रमे॥[4]

उपर्युक्त हस्तलिखित-ग्रन्थों में "बनयात्रा" (१९०० वि०), सेठ पद्मसिंह की यात्रा एवं "बात दूर देश की" आदि ग्रन्थ केवल गद्य में हैं। बद्री यात्रा-ग्रन्थों में गद्य-पद्य (चम्पू) का मिश्रण मिलता है। यद्यपि (१९०९ वि०) की दोनों बन-यात्राओं एवं "बद्री यात्रा-कथा" में पद्य की प्रधानता है और "बनयात्रा परिक्रमा" तथा "ब्रज-चौरासी कोस बनयात्रा" में गद्य की प्रधानता दिखाई देती है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—संपादक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ११०-१११, वर्ष ५८, सं० १०१०. अंक (१-२)
२. ना० प्र० सभा काशी से प्राप्त "बनयात्रा परिक्रमा" की हस्तलिखित प्रति के आधार पर—पु० नं० ६२०
३. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ "ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा", पृ० १
४. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित-ग्रन्थ "बद्रीनारायण सुगम यात्रा", पु० नं० ६०८।४३३

इन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इस युग में विशेषकर ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। ब्रजभाषा में ही यात्रा-विवरण लिखे जाते थे। इन विवरणों में गद्य-पद्य मिश्रित (चम्पू) शैली की ही प्रधानता थी। साथ ही ये ग्रन्थ प्रधानत: वर्णनात्मक हैं; यद्यपि इनमें लेखक के भावुक हृदय का परिचय भी प्रचुर मात्रा में मिल जाता है। उदाहरणार्थ, यहाँ पर एक संक्षिप्त उदाहरण दिया जा रहा है—

"तहाँ श्री बलदेवजी के मन्दिर हैं तहाँ ताके आगे माधुरी कुण्ड है। तहाँ सरोवर है तहाँ मोर आदिक पक्षी नाना प्रकार के शब्द करत हैं। ताके आगे परासौली ग्राम है। तहाँ चन्द्र सरोवरी है। तहाँ श्री गोकुलनाथजी को मन्दिर है तथा श्री विट्ठलजी को मन्दिर है तथा श्री मदनमोहनजी को मन्दिर है ताके आगे रूंड कुण्ड है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि सं० १६०० के लगभग से लेकर सं० १६६६ वि० तक के हस्तलिखित यात्रा-ग्रन्थ हमें इस काल में प्राप्त होते है- जिनसे यह सिद्ध होता है कि यात्रा-साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ इस काल में भी लिखे जाते थे।

१. भारतेन्दु-युग (१८५०-१९०० ई०)—यात्रा-साहित्य के भारतेन्दु-युग की दो विशेषताएँ कही जा सकती हैं। १—रेलवे का आगमन तथा २—भारत में मुद्रण-यन्त्र की स्थापना। प्रथम के द्वारा यात्रा का एक सशक्त साधन उपलब्ध हुआ, दूसरे के द्वारा पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों के प्रकाशन को प्रसार मिला। पश्चिमीय प्रभाव से प्राच्य देशो में भी युग-परिवर्तन हुआ और यूरोप में व्यापारिक क्रान्ति ने (१७५०-१८२५) अच्छी सड़कें, नहर, रेल और जहाज का आविष्कार किया।[2] इसका वर्णन हेनरी ग्रोट लेविन ने अपनी पुस्तक "ब्रिटिश रेलवे सिस्टम" में किया है।[3] रेल-निर्माण का वर्णन करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयजी ने लिखा है : "१८४५ में कोर्ट के डाइरेक्टरों का ध्यान भारत में रेल-निर्माण की ओर सर्वप्रथम गया था। उस समय सैनिक तथा शासन-सम्बन्धी समस्याएँ उनके सामने थीं। किन्तु कोर्ट के

१. ब्रज चौरासी कोस वन-यात्रा—ना० प्र० सभा काशी हस्तलिखित ग्रन्थ, पु० नं० ३।४६-अप्रकाशित।

२. The Industrial Revolution in England (1750-1825) brought on the scene good roads, canals, the Railways and the steamships —Indian Economics, K. P. Jain, page 247.

३. As early as the seventeenth century a species of tramroad came into common use in certain mining districts of this country, where on horses drew wagons of coal, the wheels of which ran on rough wooden logs placed parallel to one another from the mine the Shipping point, and by the aid of this device the load formerly conveyed was more than doubled.
The British Railway System—Henry Grote Lewin, p. 3, London 1914.

इस निर्णय से हिन्दी प्रदेश में रेलों का निर्माण न होकर ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी द्वारा कलकत्ता (हावड़ा) से रानीगंज (१२० मील) तक सबसे पहली रेलवे लाइन बनी; दूसरी ग्रेट इण्डिया पैनिन्सुला रेलवे कम्पनी द्वारा बम्बई से कल्यान तक (३३ मील), और तीसरी मद्रास रेलवे कम्पनी द्वारा मद्रास से अराकान (३६ मील) तक बनी। तत्पश्चात् १८५३ में लार्ड डलहौज़ी ने उनके राजनीतिक, व्यापारिक और सामाजिक लाभ देखकर उन्हें विस्तार देने का विचार किया। १८५६ तक आठ रेलवे कम्पनियाँ बनीं जिनमें से ईस्ट इण्डियन, दि इण्डियन ब्रांच (बाद में अवध एण्ड रुहेलखण्ड रेलवे), दि सिन्ध, पंजाब एण्ड दिल्ली रेलवे (बाद में नार्थ-वेस्टर्न स्टेट रेलवे) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आगे चलकर रेलों से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि आन्दोलनों को काफी बल मिला। दुर्भिक्षों तथा बाढ़ के समय अथवा तीर्थ-यात्रा के लिए जाते समय रेलों के कारण धन, समय, शक्ति आदि सभी बातों में बचत होने लगी।[1] रेलों द्वारा यात्रा सरल हो गई और सभी क्षेत्रों का भ्रमण शुरू हो गया। यातायात का यह प्रमुख साधन बन गई। डॉ० ट्रुमन और मैरिल ने अपनी "ट्रान्सपोर्ट" नामक पुस्तक में उस युग के यातायात एवं व्यापारिक यात्राओं का वर्णन करते हुए लिखा है: "व्यापार का क्षेत्र यातायात के सभी साधनों (प्राचीन और नवीन) और वस्तुओं पर निर्भर है। इसमें हम वायुयान, साइकिल, नाव तथा जानवरों को भी ले सकते हैं।[2] वास्तव मे १९वीं सदी के अन्त तक भारत में रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछ गया था। बीसवी सदी में रेलवे का और अधिक विस्तार हुआ। अब वह समय आ चुका है कि यातायात और यात्रा की दृष्टि से भारत को संसार के उन्नत देशों मे गिना जा सकता है। निःसन्देह रेलवे के कारण यात्रा और व्यापार तथा युद्ध-यात्राओं में अत्यधिक सहायता मिली है। इसका वर्णन ब्लैक और वैबर ने अपने ग्रन्थों में देते हुए लिखा है: "रेलों ने युद्ध में बहुत बड़ी सहायता की है। इसके द्वारा युद्ध के सैनिक उनके अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन का प्रबन्ध होता था। इनका अमेरिकन सिविल वार में बहुत उपयोग हुआ था।"[3] साइरिल फाल्स ने भी इनका युद्ध-यात्रा की शताब्दी में वर्णन करते हुए लिखा है—"रेलों के प्रादुर्भाव द्वारा ही पनडुब्बी, इंजिन, वायुयान, टेलीग्राफी और टेलीफोनी तथा ऐटम बम के क्षेत्र में प्रगति हुई है।"[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि रेलों के

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, डी० फ़िल०, डी० लिट०, पृ० १३१-१३२, जून १९५२, इलाहाबाद
२. ट्रान्सपोर्टेशन—डा० ट्रुमन एवं डा० मैरिल जे० राबर्टस—पृ० १-२ द्वि० स० १९५२ लन्दन
३. रेल रोड्स आव दि कानफीडिरेसी—ब्लैक—पृ० १८२
दि नार्दर्न रेल रोड्स इन दि सिविल वार—वैबर, पृ० १७६
४. ए हन्ड्रेड ईयर्स आफ वार—साइरिल फाल्स, पृ० २, लन्दन—१९६३

आगमन से युद्ध-स्थल में सेना की टुकड़ियों को इकट्ठा करने तथा उनमें गतिशीलता देने का कार्य किया है। आधुनिक यातायात और यात्रा के साधनों में प्रमुख स्थान रेलों एवं मोटरों का ही रहा है। फाल्स ने इसका वर्णन बड़े सुन्दर रूप में किया है। इस वर्णन में रेलवे इंजिन और मोटर पर ही जोर दिया गया है।[1] रेल के आगमन से यात्राएँ—अधिक होने लगीं क्योंकि मानव को सबसे अधिक सहायता इसी द्वारा मिलने लगी। 'रैप' ने इसी बात को "रेलवे यातायात" में कहा है : "रेलों के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जाता है कि मानव जाति के हित के लिए रेलवे के समान अन्य कोई आविष्कार नहीं हुआ।"[2] मेयर के शब्दों में : ' रेलों ने संसार में एक प्रकार का युगान्तर उपस्थित कर दिया है, एक नवीन सृष्टि रच दी है।"[3] रेलवे से सर्वोत्तम लाभ यात्रा की सुगमता का हो जाना है। भारत में यह लाभ देर से उठाया जा सका। विदेशों में रेलवे के कारण यात्रा नि:स्सन्देह अत्यन्त सुखकर और सुसाध्य हो गई है। भारत में यह सुख अधिक नही मिल पाता है और यात्रा भी कुछ अधिक कष्टसाध्य होती है। इस सम्बन्ध में रामनिवास पोद्दारजी का विचार कुछ और ही है। उनके शब्दों में : "यहाँ की रेलों में यात्रियों की जो दुर्दशा होती है इसको देखकर यही कहना पड़ता है कि यहाँ की रेलों ने यात्रा को सुगम नही, किन्तु दुर्गम बना रक्खा है।"[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि १९वीं शताब्दी में रेल आदि के कारण यात्रा करना सरल हो गया और इसीके फलस्वरूप अधिक यात्राएँ भी की जाने लगीं। अधिक यात्राएँ किए जाने के साथ-ही-साथ यात्रा-साहित्य की भी उन्नति हुई। विभिन्न-यात्रा-प्रेमियों ने अपनी यात्राओं को लिपिबद्ध किया, इस प्रकार हिन्दी यात्रा-साहित्य का आरम्भिक युग पनपा और धीरे-धीरे उन्नति की ओर अग्रसर हुआ।

भारतवर्ष में सबसे पहले २९ जनवरी १७८० ई० को जैम्स आगस्टस हिक्की ने छापाखाना खोलकर 'बंगाल गजट' अथवा 'कलकत्ता जेनरल एडवरटाइजर' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था।"[5] हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई सन् १८२६ ई० को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। यह साप्ताहिक पत्र

---

१. Modern means of transportation, especially the railway engine and the internal combustion motor engine now for the first time taking over some of the functions of the draught horse—and modren means of communications had made it possible to assemble, control, manoeuvere feed and maintain these massess.
—A Hundred Year's of War—Cyril Falls, Page 162.

२. रेलवे ट्रान्सपोर्टेशन—रैप, पृष्ठ १

३. रेलवे लेजिस्लेशन—मेयर, पृष्ठ ३१८

४. भारत में रेल-पथ—रामनिवास पोद्दार, पृ० २०६, आदर्श प्रेस, आगरा सं० १९८१

५. दि राइज एण्ड दि ग्रोथ आफ हिन्दी जरनलिज़्म
—डा० रामरतन भटनागर, पृष्ठ १, इलाहाबाद १९४८

था और प्रति मंगलवार को प्रकाशित होता था।[1] इसी वर्ष से भारत में मुद्रण-कला का कार्य प्रारम्भ हुआ था। व्यवहारिक लोकप्रचलित खड़ीबोली गद्य के प्रचार का सूत्रपात इसी मुद्रण-यंत्र द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। आरम्भिक युगीन गद्य-साहित्य के विभिन्न रूपों में एक रूप हमें यात्रा-साहित्य का भी मिलता है। यद्यपि इस युग में हिन्दी यात्रा-साहित्य का अधिक विकास नहीं हुआ था, फिर भी यात्राओं का वर्णन अधिकांश मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में निकलने लगा था। इस समय हिन्दी की विभिन्न शैलियों की समस्या भी सामने आ चुकी थी। इस युग में प्राप्त लेखों में गद्य-शैली की विशेषता उतनी देखने को नहीं मिलती जितनी होनी चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य में वर्णनात्मकता की प्रधानता अवश्य दिखाई देती है। आगरा में सन् १८५३ ई० में प्रकाशित होनेवाले 'बुद्धि प्रकाश'[2] नामक साप्ताहिक समाचार-पत्र में इस युग की एक पैदल यात्रा वर्णित मिलती है। मुन्शी सदासुखलालजी के संपादन में यह पत्र निकलता था। इस पत्र में वर्णित यह यात्रा शिमला से काश्मीर तक के पर्वतों की है। इसका वर्ण्य-विषय पर्वतों का वातावरण ही है। इस वातावरण का वर्णन करते हुए लिखा गया है: "मनुष्य दृष्टि नहीं आते; ऊँचे-ऊँचे पहाड आकाश से बातें करते हैं। उनकी ऊँचाई को देख करके करतार का महत्त्व और ईश्वरत्व स्मरण आता है।"[3] इस युग का यात्रा-साहित्य छुटपुट लेखों से ही प्रारम्भ होता है। लेखों के दृष्टिकोण से इस युग के प्रधान लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का विशेष महत्त्व है। इन्होंने यात्रा-सम्बन्धी कई निबन्ध लिखे थे। अपने यात्रा-स्थान की छोटी-से-छोटी बात पर भी उनकी दृष्टि गई और प्रकृति-सौन्दर्य से लेकर रीति-रिवाज और खान-पान, बोल-चाल तक सबका वर्णन उन्होंने अत्यन्त रोचक ढंग से किया है। भारतेन्दुजी प्रायः यात्राएँ किया करते थे और उनसे अनुभव भी बहुत प्राप्त किया था। उन्होंने अपने इन निबन्धों में अपने अनुभव का रोचक वर्णन किया है। यात्रा-सम्बन्धी उनके पाँच निबन्ध ये हैं:—सरयू पार की यात्रा, मेहदावल की यात्रा, लखनऊ की यात्रा, हरिद्वार की यात्रा, वैद्यनाथ की यात्रा। ये निबन्ध १८७१ ई० से १८७९ ई० तक 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित हुए। इन निबन्धों में कई प्रकार की यात्राओं के उदाहरण देख पड़ते हैं। तीर्थ-यात्रा नगरदर्शन आदि का उद्देश्य भी दिखाई पड़ता है और नौका, रेल आदि यात्रा के साधन भी वर्णित हैं। भारतेन्दुजी के अतिरिक्त इस युग के कई अन्य प्रसिद्ध हिन्दी लेखकों ने भी यात्रा-विवरण लिखे। बाकृष्णभट्टजी ने 'हिन्दी प्रदीप'

---

१. आधुनिक पत्र-कला—रा० र० खाडिलकर—पृ० १२, ज्ञानमण्डल, वाराणसी १९५३

२. बुद्धि प्रकाश—३१ अगस्त १८५३, पृ० २९१-९२, सम्पादक मुन्शी सदासुखलाल

३. वही—पृ० २९२

में 'कतिकी का नहान'[1] एवं 'गया यात्रा'[2] और प्रतापनारायण मिश्र ने 'विलायत यात्रा'[3] लिखी। इन लेखों ने अन्य लेखकों को यात्रा-साहित्य लिखने की प्रेरणा दी और यात्रा-सम्बन्धी लेखों की धूम मचना प्रारम्भ हो गई। मुद्रण-कला विकास पर आ ही रही थी, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के अतिरिक्त धीरे-धीरे यात्रा-साहित्य के ग्रन्थों का मुद्रण भी प्रारम्भ हुआ। इस मुद्रित रूप में यात्रा-साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ जो हमें देखने को मिल सका है वह 'लन्दन-यात्रा' नाम से है। इसकी लेखिका हरदेवीजी हैं। इनकी यह पुस्तक ओरिएटंल प्रेस, लाहौर से सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुई थी। सन् १८८३ ई० से ही यात्रा-ग्रन्थों की परम्परा का विकास हुआ ज्ञात होता है, जिसके बाद पुस्तकाकार यात्रा-साहित्य प्रकाशित होने लगा। इस युग में यात्रा-साहित्य पर लिखे गए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :—'लन्दन का यात्री (१८८४) भगवानदास वर्मा, मेरी पूर्वादिग्यात्रा (१८८५) पं० दामोदरशास्त्री, मेरी दक्षिणदिग्यात्रा (१८८६) पं० दामोदरशास्त्री, ब्रजबिनोद (१८८८) तोताराम वर्मा, केदारनाथ-यात्रा (१८९०) लाला कल्यानचन्द्र, विलायत की यात्रा (१८९२), अज्ञात लेखक, रामेश्वर यात्रा (१८९३) देवीप्रसाद खत्री, ब्रज-यात्रा (१८९४) पं० विशु मिश्र।

उक्त ग्रन्थों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि इस भारतेन्दु-युग में विभिन्न प्रकार की यात्राएँ होती रहती थीं। इन पचास (१८५०-१९००) वर्षों में हिन्दी यात्रा-साहित्य अत्यधिक पनपा और इसका विशाल भण्डार भरने लगा। इस साहित्य का हम दो रूपों में वर्गीकरण कर सकते हैं। प्रथम—विदेश-यात्रा और द्वितीय स्वदेश-यात्रा। इस विभाजन के अनुसार हम यह देखते हैं कि विदेश यात्रा में लन्दन की यात्रा ही अधिक वर्णित है और स्वदेश यात्रा में तीर्थों का प्राधान्य है। इस युग ने दो प्रमुख लेखकों को जन्म दिया। इन लेखकों में पं० दामोदर शास्त्री, बाबू देवीप्रसाद खत्री का नाम उल्लेखनीय है। इस युग द्वारा यात्रा-साहित्य को एक नवीन दिशा मिली, यही इस युग की प्रधान विशेषता है।

२. द्विवेदी-युग (१९००-१९२० ई०)—द्विवेदी-युग का आगमन 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म के साथ-साथ हुआ। इस समय की साहित्यिक पत्रिकाओं में सरस्वती, मर्यादा, चित्रमय जगत्, लक्ष्मी, इन्दु इत्यादि का नाम प्रमुख है। हिन्दी साहित्य के मध्य-युग के पूर्व यद्यपि यत्र-तत्र बिखरे रूप में ही हिन्दी के गद्य के दर्शन होते हैं

---

१. हिन्दी प्रदीप—मार्च, १८९४
२. वही—नवम्बर १८९७
नोट :—ये निबन्ध अब 'भट्ट-निबन्धावली' भाग १, २ में संग्रहीत हैं—सम्पादक धनञ्जय भट्ट ना० प्र० सभा काशी सं० २००४
३. निबन्ध नवनीत—प्रतापनारायण मिश्र—भाग १, प्र० सं० १९११, पृ० ११२-१५ अभ्युदय प्रेस, प्रयाग

परन्तु हिन्दी गद्य का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। इसके पहले न तो गद्य का कोई सुधार निश्चित रूप ही मिलता है और न महत्वपूर्ण रचनाओं की परम्परा ही, साथ ही इसके पूर्व गद्य की आवश्यकता और महत्ता भी पूर्व सिद्ध नहीं हो पाई थी। भारतेन्दु-युग में अनेक कारणों से हिन्दी-गद्य अपने विविध रूपों में प्रस्फुटित हुआ। इसका प्रथम कारण तो पत्र-पत्रिकाओं का प्रारम्भ और प्रवर्त्तन है। पत्र-पत्रिकाओं के विचार से विषयों का प्रतिपादन गद्य के माध्यम से हुआ। इस युग के गद्य में विविध रूपों के साथ ही यात्रा-सम्बन्धी लेखों का बहुत महत्त्व है। यद्यपि इसमें शैली की विशेषता नहीं मिलती जितनी वर्ण्य-विषय की। हिन्दी जगत् के पाठकों का मनोरंजन, हिन्दी के विविध अंगों का पोषण परिवर्द्धन और कवियों तथा लेखकों को प्रोत्साहित करने की भावना से प्रेरित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित "सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका" सरस्वती का प्रकाशन सन् १९०० ई० से प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ मे पत्रिका का कलेवर १६ से २१ पृष्ठों तक ही सीमित रहा, परन्तु सरस्वती के उस प्रथम अंक से ही यात्रा-साहित्य के रूप में "काश्मीर-यात्रा" प्रकाशित हुई। यद्यपि आरम्भिक अव्यवस्था के कारण विषय-सूची भी अव्यवस्थित थी और लेखों के आरम्भ या अंत मे कहीं भी लेखकों का नाम नहीं दिया गया। इससे स्पष्ट हो जाता है डॉ० श्यामसुन्दर दास ने यात्रा-सम्बन्धी लेखों को कितना महत्त्व उस समय दिया था। सन् १९०३ ई० से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी सरस्वती को सम्पादक हुए। वे स्वयं भी भ्रमण-सम्बन्धी कुछ भौगोलिक लेख लिखा करते थे।

द्विवेदी-युग में अर्थात् १९०० के बाद निबन्ध-साहित्य का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ। इस युग के निबन्धों में एक विशेष रोचकता है। अधिकांश निबन्ध आत्मानुभव की अभिव्यक्ति के रूप में हैं। उसमें वस्तु या वर्ण्य-विषय के प्रति लेखक का अपना निजी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। इसी विशेषता के कारण हम यह देखते हैं कि निबन्धकार का व्यक्तित्व उसके निबन्धों के भीतर झाँकता हुआ दिखलाई देता है। द्विवेदी-युग में जिन विषयों पर अधिक लिखा गया उनमें यात्रा-भ्रमण भी है। इस युग के निबन्ध-साहित्य के भीतर हम विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और कथात्मक सभी प्रकार के निबन्ध पाते हैं। स्वयं द्विवेदीजी इस बात का ध्यान रखते थे कि उनकी सरस्वती पत्रिका में विविधों विषयों पर लेख निकल सकें। उन्होंने 'व्योम विहरण"[1], "उत्तरी ध्रुव की यात्रा"[2], "दक्षिणी ध्रुव की यात्रा"[3] तीन ऐसे निबन्ध लिखे भी थे। इन यात्रा-सम्बन्धी निबन्धों में प्रायः दूसरों की कथा ही वर्णित है। इस युग की पत्रिकाओं के कुछ प्रमुख लेखों का यहाँ पर उल्लेख किया

१. सरस्वती १९०५ ई०, पृ० ३१५, ३४०
२. वही – १९०७ ई०, पृ० ७४
३. वही—१९०९ ई०, पृ० २६५

जाता है : "अपने राम की मसूरी शैला यात्रा[१], मारिशस यात्रा[२], विलायत की सैर[३], दक्षिणी ध्रुव की यात्रा[४], देहरादून-शिमला यात्रा[५], विलायत समुद्र यात्रा[६], काश्मीर समीर[७], युद्धक्षेत्र की सैर[८], रेलयात्रा[९], एक जर्मन का भारत-भ्रमण[१०], हमारी यात्रा[११], जमुना दर्शन[१२], जापान की सैर[१३], मेरी तीर्थयात्रा[१४], रामेश्वर यात्रा-वर्णन[१५], हमारी दक्षिण भारत की यात्रा[१६] इत्यादि। इस प्रकार इस कार्य में द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित सरस्वती तथा तत्कालीन उपर्युक्त पत्रिकाओं का बड़ा हाथ रहा।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकलनेवाले लेखों के अतिरिक्त इस युग में यात्रा-साहित्य पर अनेकों सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ भी प्रकाश में आए। इन ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है—

दुनियाँ की सैर (१९०१) अज्ञात लेखक, बदरिकाश्रम यात्रा (१९०२) बाबू देवीप्रसाद खत्री, हमारी एडवर्ड तिलक विलायत यात्रा (१९०३) ठाकुर गदाधरसिंह, भारत-भ्रमण ५—भाग (१९०३) साधुचरण प्रसाद, पजाब यात्रा (१९०७) पं० रामशंकर व्यास, अमेरिका दिग्दर्शन (१९११) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, द्वारिकानाथ यात्रा (१९१२) धनपतिलाल, पृथिवी प्रदक्षिणा (१९१४) शिवप्रसाद गुप्त, मेरी कैलाश यात्रा (१९१५) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, अमेरिका भ्रमण (१९१६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, लंका यात्रा का विवरण (१९१६) गोपालराम गहमरी।

---

१. चित्रमय जगत—अपने राम—सितम्बर १९११, पृ० १३७-४२
२. मर्यादा—स्वामी मंगलानन्द पुरी—जुलाई १९१२ भाग ४ अंक ३
३. चित्रमयजगत—ग० स० मराठे—फरवरी—मार्च १९१३—पृ० ६६-६८
४. इन्दु—लालनारायण सिह—मार्च १९१३, पृ० २२१-२३२
५. मर्यादा—श्रीधर पाठक—जून-जुलाई-अगस्त सितम्बर १९१३
६. वही—लक्ष्मीशंकर मिश्र—जुलाई १९१४, पृ० १६१-६९
७. वही—हरिहरस्वरूप शर्मा शास्त्री—अक्तूबर १९१४, पृ० २७५-८५
८. गृहलक्ष्मी—श्रीमती उमा नेहरू—१९१४, पृ० ६४४-४८
९. वही—कृष्णमुरारी लाल—१९१४, पृ० ९४-१०१
१०. चित्रमयजगत—भारतीय—एप्रिल १९१५, पृ० १०१-१०३
११. इन्दु—लोचनप्रसाद पांडेय—सितम्बर १९१५, पृ० २३०-३६
१२. मर्यादा—ग्रामीण—जुलाई १९१६, पृ० १७-१८
१३. वही—अज्ञात—अगस्त १९१७, पृ० १९१-९७
१४. चित्रमयजगत—गोविन्द हरि फड़के—जून से सितम्बर तक—१९१८ ई०
१५. वही—बालकृष्ण श्रीधर कोल्हटकर—मार्च १९१९, पृ० १०२-१०५
१६. वही—बाबा सा० पंत—जून एवं जुलाई १९२०

इन ग्रन्थों की नाम-सूची से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग में यात्राओं का रचनाक्षेत्र पर्याप्त रूप में व्यापक हो चला था। इन वर्षों में यात्रा-साहित्य प्रारम्भिक युग की अपेक्षा बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ और इसकी ओर श्रेष्ठ साहित्यिकों की दृष्टि भी गई। इस युग में स्वदेश यात्राएं (बदरिकाश्रम, द्वारिकाश्रम, कैलाश यात्रा आदि) लेखकों का विषय इतना नहीं बनीं, पर विदेश यात्राओं (चीन, अमेरिका, लंका, इंग्लैण्ड आदि) पर मुख्यतः अधिक पुस्तकें लिखी गई। स्वदेश यात्राओं के विषय इस युग में भी धार्मिक स्थानों से अधिक सम्बन्धित रहे।

इस युग के यात्रा-सम्बन्धी लेखकों में प्रमुख रूप से बाबू देवीप्रसाद खत्री, ठाकुर गदाधरसिंह, साधुचरण प्रसाद, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक एवं शिवप्रसाद गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इन लेखकों के ग्रन्थों में भी वर्णनात्मकता ही प्रमुख विशेषता है, साथ ही शैली भी बड़ी अलकृत है। इस युग के लेखकों ने मौलिकता की दृष्टि से सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में तथा ग्रन्थों में यात्रा की स्वतन्त्र उद्-भावनाओं को भी स्थान दिया है। यद्यपि इस युग में बहुत अधिक हिन्दी यात्रा-साहित्य उपलब्ध नहीं हो सका; फिर भी उद्देश्य, रीति और शैली की दृष्टि से उपयोगी और साहित्यिक रचना के साथ ही अपने तथा परिवर्ती युग के यात्रा-साहित्य की आदर्श भूमिका अवश्य प्रस्तुत हो गई। हिन्दी यात्रा-साहित्य को इस युग की यही देन है।

३. **उत्तर द्विवेदी-युग (१६२१-१६५५ ई०)**—उत्तर द्विवेदी-युग को यात्रा की दृष्टि से अगर वायुयान-युग कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि इस युग में यात्राएँ—विशेषकर वायुयानों द्वारा ही होती रही हैं। अमेरिका के ओहियो प्रान्त के निवासी राइट-बन्धुओं ने १७ दिसम्बर १६०३ ई० में हवाई जहाज तैयार किया था।[1] इसके बाद से ही वायुयानों का चलन प्रारम्भ हुआ। साथ-ही-साथ इनका विभिन्न कार्यों में उपयोग भी होने लगा। धीरे-धीरे यही वायुयान युद्धों में सहायक सिद्ध हुए और लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी इसीके द्वारा होने लगी। युद्ध में वायुयान का उपयोग किस प्रकार हुआ इसका वर्णन साइरिल फाल्स ने अपने ग्रन्थ में दिया है।[2] आधुनिक युग में सर्वप्रथम वायुयानों का प्रयोग प्रथम महायुद्ध (१६१४-१६१८ ई०) में प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में वायुयानों के कारण यातायात की सबसे बड़ी कठिनाई सरल हो गई जिसके द्वारा युद्ध में सेनाएँ आक्रमणकारी गोला-बारूद, सैकड़ों मील

---

१. हिन्दी विश्वभारती (भाग २), भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव—पृ० १००६-८, संवत् १६६६ वि०

२. The German acquired the first, a monoplane with a machine-gun—Air Crafts were used at sea, but though they could take of from the deck of a ship, they could not land on it and had to come down beside it in the Water Sea planes were used with success in the Gallipot Campaign.

—A Hundred Years of War—Cyril Falls, page 183, London 1953.

दूर से कुछ घण्टों में आने जाने लगा। बम-वर्षा इन विमानों का प्रमुख काम था। इस काल में १६१८ ई० के बाद जब युद्ध शान्त हुआ तब इन वायुयानों द्वारा यात्रा का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। विलायत से वायुयान द्वारा भारत लौटनेवालों में श्रीधर्मचन्द सरावगी प्रथम भारतीय हैं। साथ-ही-साथ हिन्दी-साहित्य के सुलेखक भी।[1] आपने अपनी यात्रा को "यूरोप में सात मास" नाम से सन् १६३६ ई० में प्रकाशित कराया था।

प्रारम्भ में वायुयान द्वारा देश-विदेश का भ्रमण कुछ ही व्यक्ति कर पाते थे। इन व्यक्तियों में केवल धनिकों नाम ही अग्रगण्य था। कुछ व्यक्ति जीवन-मृत्यु के भय के कारण विमानों पर यात्रा नहीं करते थे। परन्तु क्रमशः वायुयान-यात्रा में प्राणभय कम हो गया और लोग इस यात्रा-साधन को अपनाने लगे। विदेश-यात्रा सरल हो गई। लोग हजारों मील की यात्राएँ वायुयान द्वारा करने लगे। एक नये युग का सूत्रपात हुआ। यात्राओं की अधिकता के कारण लेखकों की वृद्धि हुई। हिन्दी का यात्रा-साहित्य प्रचुर हुआ ; नवीन यात्रा-साहित्य लिखा जाने लगा। इस प्रकार आधुनिक गद्य-शैली के माध्यम से यात्रा-सम्बन्धी बहुत-से ग्रन्थ प्रकाश में आए। सन् १६४१ से १६४५ ई० तक द्वितीय महायुद्ध की आग धधकती रही। इस भीषण युद्ध के पश्चात् वायुयान द्वारा यात्रा एक साधारण-सी बात हो गई और प्रायः स्वदेश और विदेश की वायुयान द्वारा यात्राएँ होने लगीं। इन यात्राओं के फलस्वरूप हिन्दी यात्रा-साहित्य की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई। इस काल में यात्रा-साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए हिन्दी की सरस्वती, चित्रमयजगत्, विश्वमित्र, माधुरी, विशालभारत, वीणा, सुधा, चाँद, नया समाज एवं मधुकर आदि सभी प्रमुख पत्रिकाओं का सहयोग रहा है। इन पत्रिकाओं में यात्राओं पर विभिन्न लेख लिखे गए हैं। वास्तव में यह युग यात्रा-साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इस युग के ग्रन्थों के नाम और उनका रचनाकाल निम्नलिखित है—

हमारी विलायत यात्रा (१६२६) केदाररूप राय, लन्दन पेरिस की सैर (१६२६) वेणी शुक्ल, मेरी जर्मन यात्रा (१६२६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, रूस की सैर (१६२६) पं० जवाहरलाल नेहरू, श्याम देश-यात्रा (१६२७) महता जेमिनी, अफ्रीका यात्रा (१६२८) स्वामी मंगलानन्द पुरी, हमारी जापान यात्रा (१६३१) पं० कन्हैयालाल मिश्र, विदेश की बात (१६३२) कृपानाथ मिश्र, मेरी यूरोप-यात्रा (१६३२) गणेशनारायण सोमाणी, यूरोप यात्रा में छः मास (१६३२) पं० रामनारायण मिश्र, तिब्बत में सवा बरस (१६३३) राहुल सांकृत्यायन, मेरी दक्षिण भारत यात्रा (१६३४) हरिकृष्ण झाझड़िया, दक्षिण भारत की यात्रा (१६३५) सत्येन्द्र नारायण, मेरी यूरोप यात्रा (१६३५) राहुल सांकृत्यायन, यूरोप में सात मास (१६३६) धर्मचन्द सरावगी, यात्रीमित्र (१६३६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक,

---

१. सरस्वती—जुलाई १६३३

उत्तराखण्ड के पथ पर (१९३६) प्रो० मनोरंजन, यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, स्वतन्त्रता की खोज में (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७) राहुल सांकृत्यायन, कैलाश पथ पर (१९३७) रामशरण विद्यार्थी, यूरोप के झकोरे में (१९३८) डॉ० सत्यनारायण, मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९) राहुल सांस्कृत्यायन, रोमांचक रूस में (१९३९) डॉ० सत्यनारायण, युद्ध-यात्रा (१९४०) डॉ० सत्यनारायण, कैलाश दर्शन (१९४०) शिवनन्दन सहाय, ईराक की यात्रा (१९४०) कन्हैयालाल मिश्र, काश्मीर (१९४०) श्रीगोपाल नेवटिया, स्वदेश-विदेश यात्रा (१९४०) संताराम, इंग्लैण्ड यात्रा (१९४१) रामचन्द्र शर्मा, सागर प्रवास (१९४१) पं० सूर्यनारायण व्यास, दुनियाँ की सैर (१९४१) योगेन्द्रनाथ सिन्हा, मेरी काश्मीर यात्रा (१९४१) देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', यूरोप के पत्र (१९४२) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, कैलाश मानसरोवर (१९४३) स्वामी प्रणवानन्द, विकट यात्रा (१९४३) रामचन्द्र वर्मा, संयुक्तप्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ (१९४३) लक्ष्मीनारायण टंडन प्रेमी', काश्मीर और सीमाप्रान्त (१९४४) कृष्णवंश सिंह बाघेल, संयुक्तप्रान्त के तीर्थस्थान (१९४४) लक्ष्मीनारायण टंडन, कैलाश दर्शन (१९४६) स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, मेरी जीवन यात्रा (१९४६) राहुल सांकृत्यायन, भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान (१८४६) चक्रधर 'हस', विश्वयात्री (१९४७) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, किन्नर देश में (१९४८) राहुल साकृत्यायन, राहुल यात्रावली (१९४९) राहुल सांकृत्यायन, दार्जलिंग परिचय (१९५०) राहुल, प्रमुख भारतीय तीर्थस्थान (१९५०) लक्ष्मीनारायण टंडन, काश्मीर की सैर (१९५०) सत्यवती मल्लिक, दिल्ली से मास्को (१९५१) महेशप्रसाद श्रीवास्तव, देश-विदेश (१९५२) नवलकिशोर अग्रवाल, सत्यलोक (१९५२) स्वामी सत्यभक्त, पैरों में पंख बाँधकर (१९५२) श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी', वो दुनियाँ (१९५२) डॉ० भगवत शरण उपाध्याय, यात्रा के पन्ने (१९५२) राहुल साकृत्यायन, माम्रों के देश में (१९५२) रामग्रासरे, रूस में २५ मास (१९५२) राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१९५३) राहुल सांकृत्यायन, लाल चीन (१९५३) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, लोहे की दीवार के दोनों ओर (१९५३) यशपाल, अरे यायावर रहेगा याद (१९५३) अज्ञेय, आँखोंदेखा रूस (१९५३) पं० जवाहरलाल नेहरू, तिब्बत में २३ दिन (१९५३) कृष्णवंश सिंह बाघेल, खोज की पगडंडियाँ, खण्डहरों का वैभव (१९५३) डॉ० मुनिकान्त सागर, आखिरी चट्टान तक (१९५३) मोहन राकेश, शिवालिक की घाटियों में (१९५३) श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, उडते चलो, उड़ते चलो (१९५४) श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी', हिमालय के कुछ स्थान (१९५४) कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृथ्वी-परिक्रमा (१९५४) सेठ गोविन्ददास, बदलते दृश्य (१९५४) राजवल्लभ ओझा, हिमालय की गोद में (१९५४) महावीरप्रसाद पोद्दार, कलकत्ता से पेकिंग (१९५५) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, जय अमरनाथ (१९५५) यशपाल जैन,

लद्दाख यात्रा की डायरी (१६५५) कर्नल सज्जनसिंह, मेरी अफ्रीका यात्रा (१६५५) स्वामी सत्यभक्त, अनजाने देशों में (१६५५) विमला कपूर।

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह सिद्ध होता है कि इस युग मे अत्यधिक यात्रा-साहित्य-लेखन की गति और भी तीव्र हुई। इस काल में कुछ तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण यात्रा-लेखक रहे हैं, जिन्होंने इस साहित्य में एक प्रमुख स्थान प्राप्त किया। इन प्रमुख लेखकों के नाम निम्नलिखित है :—

पं० रामनारायण मिश्र (जन्मकाल सन् १८७६ ई०), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (जन्मकाल सन् १८८६ ई०), डॉ० सत्यनारायण (जन्मकाल १६१० ई०)।

उपर्युक्त प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त और भी बहुत से लेखक हैं, जिनका यात्रा-साहित्य की बहुमुखी उन्नति में महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। रचनाकाल-क्रमानुसार आगे हम इन लेखकों का नाम दे रहे है। केदाररूप राय (रचनाकाल १६२६ ई०), वेणीशुक्ल (रचनाकाल १६२६), पं० जवाहरलाल नेहरू (रचनाकाल १६२६-१६५३), महता जेमिनी (रचनाकाल १६२७), स्वामी मगलानन्द पुरी (रचनाकाल १६२८), प० कन्हैयालाल मिश्र (रचनाकाल १६३१), कृपानाथ मिश्र (रचनाकाल १६३२), गणेशनारायण सोमाणी (रचनाकाल १६३२), हरिकृष्ण झाझडिया (रचनाकाल १६३४), सत्येन्द्रनारायण (रचनाकाल १६३५), प्रो० मनोरजन (रचनाकाल १६३६), रामशरण विद्यार्थी (रचनाकाल १६३७), डॉ० सत्यनारायण (रचनाकाल १६३८), शिवनन्दन सहाय (रचनाकाल १६४०), श्री गोपाल नेवटिया (रचनाकाल १६४०), सन्तराम (रचनाकाल १६४०), रामचन्द्र शर्मा (रचनाकाल १६४१), प० सूर्यनारायण व्यास (रचनाकाल १६४१), योगेन्द्रनाथ सिन्हा (रचनाकाल १६४१), देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' (रचनाकाल १६४१), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (रचनाकाल १६४२) कृष्णवश सिंह बाघेल (रचनाकाल १६४४-१६५४), लक्ष्मीनारायण टंडन (रचनाकाल १६४३-४४), स्वामी प्रणवानन्द (रचनाकाल १६४३), रामचन्द्र वर्मा (रचनाकाल १६४३), स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी (रचनाकाल १६४६), चक्रधर 'हंस' (रचनाकाल १६४६), डॉ० भगवतशरण उपाध्याय (रचनाकाल १६४७-५५), सत्यवती मल्लिक (रचनाकाल १६५०), महेशप्रसाद श्रीवास्तव (रचनाकाल १६५१), नवलकिशोर अग्रवाल (रचनाकाल १६५२), स्वामी सत्यभक्त (रचनाकाल १६५२-५५), रामआसरे (रचनाकाल १६५२), श्रीरामवृक्ष 'बेनीपुरी' (रचनाकाल १६५२-५४), यशपाल (रचनाकाल १६५३-५६) सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (रचनाकाल १६५३), डॉ० मुनिकान्त सागर (रचनाकाल १६५३), मोहन राकेश (रचनाकाल १६५३), श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार (रचनाकाल १६५३), राजवल्लभ ओझा (रचनाकाल १६५४), महावीरप्रसाद पोद्दार (रचनाकाल १६५४), यशपाल जैन (रचना-

काल १९५५-५८), कर्नल सज्जनसिंह (रचनाकाल १९५५), विमला कपूर (रचना-काल १९५५)।

हमने इन लेखकों के नाम कालक्रमानुसार प्रस्तुत किए है। यद्यपि इनका महत्त्व इनके रचना-परिमाण और भावाभिव्यंजना की श्रेष्ठता पर आधारित है। आधुनिक युग में यात्रा-साहित्य ने साहित्यिक दृष्टि से भी परिपूर्णता प्राप्त की है। तात्पर्य यह कि इस युग में यात्रा-साहित्य का उत्कर्ष चरम मीमा पर पहुँचा हुआ है।

भारत के इस नवजागरण में वायुयान के द्वारा बहुत-सी यात्राएँ हुई हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य की जो प्रक्रिया बीसवी सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद प्रारम्भ हुई थी, वह अब तक भी पूर्ण वेग के साथ जारी है। इस युग के लेखकों ने विदेश-यात्राएँ ही अधिक लिखी है, अपेक्षाकृत स्वदेश यात्राओ के। यूं स्वदेश के विभिन्न पर्वतीय एवं चट्टानी स्थानो की भी यात्राएँ की गई है। इन विदेश-यात्राओं के अधिक लिखे जाने का प्रमुख कारण वायुयान एवं नवयुग का आगमन ही है। इस युग में वायुयान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री-भावना का भी विकास हुआ है और इस कारण से विभिन्न देशों के सास्कृतिक मण्डलों का आवागमन आरम्भ हो गया। विश्वविद्यालयों के छात्र तथा अध्यापक वायुयान की सहायता से अपने कार्य में अधिक सफलता तथा पूर्णता प्राप्त करने लगे। समय तथा दूरी का अतिक्रमण करके वायुयान ने मनुष्य के लिए सामान्य रूप से यात्रा सुलभ कर दी। विदेशों मे शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भी यात्राएँ होने लगी हैं। इस युग की यात्राओं का स्तर मध्ययुग से बहुत ऊंचा है। इस काल में विभिन्न स्थानों जैसे लन्दन, पेरिस, रूस, अफ्रीका, स्याम, जापान, तिब्बत, ईराक तथा अनेक अनजाने देशों की यात्राएँ की गई। साथ-ही-साथ स्वदेश की यात्राओं में उत्तराखण्ड, दक्षिणभारत, कैलाश, लद्दाख, काश्मीर, दार्जलिंग आदि स्थानों की यात्राएँ की गई।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में यात्रा-साहित्य की बहुत वृद्धि हुई। इस वृद्धि के साथ ही लेखकों को इस साहित्य की रचना की प्रेरणा मिली। साथ ही इस युग में विभिन्न विषयों का वर्गीकरण हुआ और रचनाओं का विस्तार भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

४. **वर्तमान युग (१९५५ ई० से अब तक)**—वर्तमान युग का प्रारम्भ हमने सन् १९५५ ई० से माना है। इस युग में राकेट का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है, जिसके द्वारा कुछ ही घण्टों में मानव चन्द्रलोक और मंगललोक की यात्रा कर सकता है। इस प्रकार की यात्राओं के लिए प्रयोग हो रहे हैं यद्यपि इन पर साहित्यिक दृष्टि-कोण-विशेष से अभी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। हाँ, इस विषय से सम्बन्धित अनेक काल्पनिक और वैज्ञानिक लेख अवश्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और

इस युग के साहित्य को एक नवीन क्षेत्र प्रदान कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त इस युग में की गई विभिन्न यात्राओं को लिपिबद्ध करके नवीन यात्रा-ग्रन्थों का रूप तो दिया ही जा रहा है। इस प्रकार के यात्रा-सम्बन्धी लेख आज और भी अधिक प्रगतिशीलता के साथ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकल रहे हैं। इन प्रमुख पत्रों में वाराणसी से प्रकाशित होनेवाले दैनिक 'आज' का और दिल्ली से प्रकाशित होने वाले हिन्दी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का नाम उल्लेखनीय है। बम्बई के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में भी इस प्रकार के लेख निकले है। 'सरस्वती' और 'विशाल भारत' नामक प्रसिद्ध पत्रिकाओं में तो प्रारम्भ से ही इस प्रकार के लेख निकलते रहे हैं और आज भी निकल रहे हैं। इधर इस युग में यात्रा-सम्बन्धी कुछ लेखों का 'आकाशवाणी प्रसारिका' (त्रैमासिक पत्रिका) में भी प्रकाशन हुआ है। ये यात्रा-विवरण आकाशवाणी केन्द्र दिल्ली एवं इलाहाबाद आदि से प्रसारित हुए थे। इस युग के यात्रा-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

राहबीती (१९५६) यशपाल, भारत में बुलगानिन (१९५६) गोविन्दसिंह, ज्ञान की खोज में (१९५७) डॉ० जगदीशशरण शर्मा, देश-विदेश (१९५७) रामधारीसिंह 'दिनकर', नन्दन से लन्दन (१९५७) ब्रजकिशोर 'नारायण', हालैण्ड में २५ दिन (१९५७) रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, बदलते रूस में (१९५८) रा० र० खाडिलकर, जापान की सैर (१९५८) रामकृष्ण बजाज, उत्तराखण्ड के पथ पर (१९५८) यशपाल जैन, आँखों-देखा यूरोप (१९५८) भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन', पार उतरि कहँ जइहौ (१९५८) प्रभाकर द्विवेदी।

उपर्युक्त यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि आज यात्रा-साहित्य की ओर लेखक विशेष ध्यान दे रहे हैं और इस प्रकार का साहित्य अधिक लिखा जा रहा है। इस युग में लन्दन, हालैण्ड, जापान, रूस तथा अमेरिका की विदेश-यात्राएँ वर्णित हैं, स्वदेश यात्राओं में केवल उत्तराखण्ड का ही नाम आता है। इस युग में रचना-परिमाण एवं भावाभिव्यंजना की श्रेष्ठता पर बल नहीं दिया जा रहा है, यद्यपि कुछ पुराने प्रतिष्ठित लेखक भी यात्रा-सम्बन्धी साहित्य रचते जा रहे हैं तथापि नवीन लेखक उस सहृदयता और भावुकता का सहारा लेकर नहीं लिखते हैं जिसका उपयोग आरम्भिक और मध्ययुग के लेखक करते रहे हैं। भाषा-सौष्ठव की ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है; फिर भी इस युग में यात्रा-साहित्य ने सभी प्रमुख पत्रिकाओं, साप्ताहिक एव दैनिक पत्रों तथा आकाशवाणी आदि में स्थान पा लिया है। इस प्रकार यह साहित्य दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है और लेखक साहित्य के इस अंग की पूर्ति भी कर रहे हैं। इस युग के लेखकों का नाम हम रचनाकाल-क्रमानुसार आगे दे रहे हैं—

यशपाल (रचनाकाल १९५३-५६), गोविन्दसिंह (रचनाकाल १९५६), डॉ० जगदीशशरण शर्मा (रचनाकाल १९५७), दिनकर (रचनाकाल १९५७), ब्रजकिशोर 'नारायण' (रचनाकाल १९५७), रा० र० खाडिलकर (रचनाकाल

१९५७-५८), रामकृष्ण बजाज (रचनाकाल १९५८), यशपाल जैन (रचनाकाल १९५८), भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन' (रचनाकाल १९५८), प्रभाकर द्विवेदी (रचनाकाल १९५८)।

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस युग के साहित्य में वैज्ञानिकता एवं बुद्धिवाद का पूर्ण विश्लेषण किया गया है, जो कि इस युग की महत्त्वपूर्ण देन है। साहित्य की ओर लेखकों की दृष्टि विशेषतया बौद्धिक ही है। राकेट की चमत्कारपूर्ण यात्रा की सम्भावना और वायुयान की नित्यप्रति की सरल यात्राओं ने इस युग के यात्रा-साहित्य को अत्यन्त रोमांचक बना दिया है। काल्पनिकता तथा औपन्यासिकता का भी समावेश उसमें हो गया है। इससे हिन्दी का यात्रा-साहित्य दिन-पर-दिन प्रगतिशील हो रहा है। साहित्यिकों की अनुकूल दृष्टि होने के कारण यात्रा-साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी के यात्रा-साहित्य का वर्गीकरण

सम्पूर्ण हिन्दी यात्रा-साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए हम उसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजन कर सकते हैं। प्रथम वर्ग यात्रा के साधनों से सम्बद्ध है और दूसरा उसमें वर्णित विषय से। साधनों के अन्तर्गत यात्रा-यातायात-साधन लिए जा सकते हैं तथा विषय के अन्तर्गत विभिन्न यात्रियों तथा यात्रा-उद्देश्यों को लिया जा सकता है।

१. यात्रा-मार्ग तथा यातायात-साधन
२. विषयानुसार यात्रा-साहित्य

इन दो रूपों के अन्तर्गत हम विभिन्न प्रकार की यात्राओं को रख सकते हैं।

१. यात्रा-मार्ग तथा यातायात-साधन

(i) स्थलमार्ग की यात्राएँ
(ii) जलमार्ग की यात्राएँ
(iii) आकाशमार्ग की यात्राएँ

२. विषयानुसार यात्रा-साहित्य

१. पशु-पक्षियों की यात्राएँ	५. साहित्यिक यात्राएँ
२. धार्मिक यात्राएँ	६. ऐतिहासिक यात्राएँ
३. शिकारियों की यात्राएँ	७. भौगोलिक यात्राएँ
४. सांस्कृतिक यात्राएँ	८. राजनैतिक यात्राएँ

स्थलमार्ग तथा यातायात—थल की यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो स्थलमार्ग पर भ्रमण हेतु की गई हों। भारत में इस प्रकार की यात्राएँ बहुत प्राचीनकाल से होती रही हैं। इस प्रकार की यात्राओं में विभिन्न साधनों से की गई यात्राएँ सम्मिलित हैं। मार्गों के स्वरूप के क्रमिक विकास के साथ-साथ इस प्रकार की यात्राएँ और भी अधिक होने लगीं। आज यात्राओं में इतनी

अधिक असुविधाएँ नहीं होती हैं क्योंकि यातायात साधनों में रेल, मोटर, वायुयान आदि विभिन्न प्रकारों का प्रयोग होता है। इन्हीं कारणों से आज यातायात का विकास होता जा रहा है। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राओं के ग्रन्थ अधिकतर गद्य-शैली में ही लिखे गए हैं। कुछ ग्रन्थों में यात्राओं को भावात्मक शैली में वर्णित किया गया है। इनमें काश्मीर, मेरी काश्मीर यात्रा, भारत के कुछ दार्शनिक स्थान, आखिरी चट्टान तक, अरे यायावर रहेगा याद, आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। कुछ में बुद्धिवाद की प्रधानता दिखाई देती है—जैसे तिब्बत में सवा बरस, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में, आदि। स्थल की यात्राओं के इन ग्रन्थों में किसी-किसी में कलात्मकता का सुन्दर समावेश किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में नेवटिया का 'काश्मीर', देवदत्त शास्त्री का 'मेरी काश्मीर यात्रा' और अज्ञेय का 'अरे यायावर रहेगा याद' प्रमुख हैं। इनमें ही हमें कल्पनात्मकता और आलंकारिकता का पूर्ण सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक प्रकृति मनोरमता का प्रश्न है उसमें उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों के अतिरिक्त दुनियाँ की सैर, काश्मीर और सीमाप्रान्त, भारत के कुछ दर्शनीय स्थान का नाम भी अमर है। दार्शनिकता की भावना बहुत कम दिखाई देती है। भाषासौष्ठव—अमेरिका भ्रमण, मेरी लद्दाख यात्रा, काश्मीर, दुनियाँ की सैर, मेरी काश्मीर यात्रा, संयुक्तप्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ, भारत के कुछ दर्शनीय स्थान, यात्रा के पन्ने, आखिरी चट्टान तक, अरे यायावर रहेगा याद, तिब्बत में २३ दिन आदि ग्रन्थों में बहुत सुन्दर है। दार्शनिक विचारधारा किसी-किसी लेखक में प्रासंगिक रूप में पाई जाती है। वर्णनों में कहीं-कहीं भावात्मकता एवं कलात्मकता का सामंजस्य भी मिलता है। अज्ञेयजी के प्रकृति मनोरमता के चित्रणों में जहाँ भी कल्पना ने जोर पकड़ा है, आलंकारिता स्वतः आ गई है। शैली भी यात्रा-साहित्य में अपने ढंग की निराली है। अधिकतर लेखकों ने यात्राओं को विवरणात्मक रूप ही दिया है। इन थलयात्राओं में पर्वतीय यात्राओं का भी समावेश कर लिया गया है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्थलयात्रा-सम्बन्धी साहित्य में करीब-करीब सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार के यात्रा-साहित्य की हिन्दी में निम्न पुस्तकें हैं—

मेरी पूर्वादिग्यात्रा (१८८५) दामोदर शास्त्री, पंजाब यात्रा (१७०७) रामशंकर व्यास, अमरीका भ्रमण (१६१३) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, श्याम देश यात्रा (१६२७) मेहता जैमिनी, तिब्बत में सवा बरस (१६३३) राहुल सांकृत्यायन, दक्षिण भारत की यात्रा (१६३५) सत्येन्द्रनारायण, मेरी तिब्बत यात्रा (१६३७) राहुल सांकृत्यायन, मेरी लद्दाख यात्रा (१६३६) राहुल सांकृत्यायन, युद्ध-यात्रा (१६४०) डॉ० सत्यनारायण, काश्मीर (१६४०) श्री गोपाल नेवटिया, स्वदेश-विदेश यात्रा (१६४०) सन्तराम, दुनियाँ की सैर (१६४१) योगेन्द्रनाथ सिन्हा, मेरी काश्मीर यात्रा (१६४१) देवदत्त शास्त्री, संयुक्तप्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ (१६४३) लक्ष्मीनारायण टण्डन, काश्मीर और सीमाप्रान्त (१६४४) कृष्णवंश सिंह बाघेल, भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान (१६४६) चक्रधर 'हंस', किन्नर देश में

(१६४८) राहुल सांकृत्यायन, राहुल यात्रावली (१६४६) राहुल सांकृत्यायन, साइकिल यात्रा (१६४६) जी० डी० जोशी, यात्रा के पन्ने (१६५२) राहुल साकृत्यायन, आखिरी चट्टान तक (१६५३) मोहन राकेश, अरे यायावर रहेगा याद (१६५३) स० ही० वा० 'अज्ञेय', तिब्बत मे २३ दिन (१६५३) कृष्णवंश सिंह बाघेल, नेपाल यात्रा (१६५३) राहुल साकृत्यायन, हिमालय की गोद में (१६५४) महावीरप्रसाद पोद्दार।

उपर्युक्त थल-यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त स्थल-यात्राओं पर प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ मे अनेक साहित्यिक लेख भी प्रकाशित हुए है। अपने वर्गीकरण के इस अश (थल-यात्रा) मे हमने पर्वती यात्राओ के समस्त लेखों का भी समावेश कर लिया है। यहाँ पर हम इन लेखो की सूची काल-क्रम के अनुसार दे रहे हैं—

लेख	लेखक
लखनऊ[1]	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
जब्बलपुर[2]	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
अपने राम की मसूरी शैल-यात्रा[3]	अपने राम
देहरादून-शिमला यात्रा[4]	पण्डित श्रीधर पाठक
युद्ध-क्षेत्र की सैर[5]	उमा नेहरू

काश्मीर समीर[6]—हरिहरस्वरूप शर्मा, युद्ध-क्षेत्र की सैर[7]—उमा नेहरू, हमारी यात्रा[8]—लोचनप्रसाद पाण्डेय, यमुना-दर्शन[9]—ग्रामीण, काश्मीर[10]—चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, काश्मीर-यात्रा[11]—बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, काश्मीर का प्रवास[12]—बाबासाहब पंत सचिव, ज्वालाजी की यात्रा[13]—सन्तराम, मेरी दक्षिण-यात्रा[14]—रामदास गौड, नियाग्रा प्रपात की सैर[15]—एस० बहादुर, शिमला की यात्रा[16]—कन्नोमल, हमारी पूसा-यात्रा[17]—गिरीन्द्रनारायण सिंह, वाराह क्षेत्र की सैर[18]—

१. कविवचन सुधा—Vol. २, No. २२. श्रावण कृष्ण ३०, सन् १८७१, पृ० १७३
२. वहीं—जुलाई सन् १८७२ ई०
३. चित्रमय जगत—सितम्बर १६११
४. मर्यादा—जुलाई से सितम्बर १६१३
५. गृहलक्ष्मी—मन १६१४
६. गृहलक्ष्मी—अक्तूबर १६१४
७. मर्यादा—जनवरी एवं जून १६१५
८. इन्दु—सितम्बर १६१५
९. मर्यादा—जुलाई १६१६
१०. सरस्वती—दिसम्बर १६१७
११. सरस्वती से—चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा, द्वारा हिन्दी गद्य-पद्य ... में ... १६१८
१२. चित्रमय जगत—(विशेषांक) जनवरी १६२२
१३. सरस्वती—मार्च १६२४
१४. सरस्वती—दिसम्बर १६२४
१५. सरस्वती—मार्च १६२५
१६. सरस्वती—जुलाई १६२६
१७. सुधा—मई १६२८
१८. माधुरी—अगस्त १६२८

लक्ष्मीनारायण सिंह, नेपाल की यात्रा[१]—पाटेश्वरीप्रसाद, श्रीनगर की सैर[२]—पृथ्वीपाल सिंह, शीतकाल में शिमला की सैर[३]—डॉ० धनीराम प्रेम, शिमला के अंचल में[४]—गिरीन्द्रनारायण सिंह, मैसूर-यात्रा—[५]डा० नवल बिहारी मिश्र, काश्मीर में एक मास[६]—ईश्वरचन्द्र शर्मा, महाराष्ट्र भ्रमण[७]—डॉ० धनीराम प्रेम, मेरी बीकानेर-यात्रा[८]—पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्रीनगर[९]—रायबहादुर हीरालाल, नैनीताल की सैर[१०]—नारायणप्रसाद पोद्दार, मेरी छतरपुर-यात्रा[११]—गणेश पाण्डेय, मसूरी यात्रा[१२]—गुरुनारायण शुक्ल।

मेड़ाघाट की गोद में[१३]—नर्मदाप्रसाद खरे, मेरी शैल-यात्रा[१४]—डा० धनीराम 'प्रेम', चिलका-यात्रा[१५]—रामानन्द शर्मा, लाहौर की यात्रा[१६]—श्रीराम शर्मा, खाती पिनुरी की यात्रा[१७]—फक्कड़, काश्मीर में दस दिन[१८]—आर० एस० पंडित, मसूरी से शिमला[१९]—दीनदयालु शास्त्री, राजपूताने की यात्रा[२०]—गणेश पाण्डे, दार्जलिंग-यात्रा[२१]—पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, उदयपुर की यात्रा[२२]—पं० सूर्यनारायण व्यास, मसूरी-शैल की सैर[२३]—पं० सूर्यनारायण व्यास, धुआँधार की ओर[२४]—रामगोपाल भूना, सोलन के पहाड़ों में[२५]—शिवनारायण टण्डन, मेरी काश्मीर-यात्रा[२६]—बलदेवप्रसाद गुप्त, बिहार के उत्तुङ्ग शैल-शिखर पर[२७]—ऋतुलाल प्रसाद वर्मा, गंगोत्री-यात्रा[२८]—सत्येन्द्र, एम० ए०, हिमाचल के अन्तराल में[२९]—रामेश्वरदयाल दुबे, काश्मीर में कुछ मास[३०]—मधुसूदनदास चतुवदी, सोमेश्वर की पहाड़ियों में[३१]—महन्त धनराज पुरी, शिमला-शैल की पैदल यात्रा[३२]—सन्तराम, झेलम के साथ-साथ[३३]—सुबोध अदावल, हमारी मोटर-यात्रा[३४]—आदर्शकुमारी

१. सुधा—जनवरी १९२९
२. सुधा—अगस्त १९२९
३. सुधा—दिसम्बर १९२९
४. माधुरी—वर्ष ८ खण्ड २ सं० ४ १९२९
५. माधुरी—वर्ष ८ खण्ड २ सं० ३ १९२९
६. चाद—मई १९३०
७. माधुरी—१९३०
८. सरस्वती—जनवरी १९३१
९. सुधा—अगस्त १९३१
१०. सरस्वती—जुलाई-दिसम्बर १९३१
११. विशाल भारत—दिसम्बर १९३१
१२. सुधा—जून १९३२
१३. सरस्वती—सितम्बर १९३२
१४. सुधा—नवम्बर १९३२
१५. माधुरी—मार्च १९३३
१६. सुधा—नवम्बर १९३३
१७. विशाल भारत—जनवरी १९३४
१८. सरस्वती—जनवरी १९३४
१९. विशाल भारत—अप्रैल १९३४
२०. चाद—फरवरी-अप्रैल १९३५
२१. सुधा—सितम्बर १९३५
२२. बालक—सितम्बर १९३६
२३. सुधा—जुलाई एवं दिसम्बर १९३६
२४. सुधा—अगस्त १९३७
२५. वीणा—फरवरी १९३८
२६. सुधा—मार्च १९३८
२७. सुधा—फरवरी १९३९
२८. सुधा—मई १९३९
२९. सुधा—अक्तूबर १९४०
३०. माधुरी—सितम्बर १९४०
३१. सरस्वती—दिसम्बर १९४०
३२. सरस्वती—जुलाई १९४२
३३. माधुरी—सितम्बर १९४२
३४. मधुकर दिसम्बर १९४२

यशपाल, महाराष्ट्र का काश्मीर[१]—प्रो० प्र० नेने, मेरी अल्मोड़ा-यात्रा[२]—सन्त-राम, अमरनाथ सन्' ४६ में[३]—पं० हरिशंकर त्रिवेदी, शैलसुन्दरी[४]—पं० सूर्य-नारायण व्यास, रोहतंग की यात्रा[५]—कुंजबिहारी गोस्वामी, पहाड़ यात्रा[६]—अमृतराय, काश्मीर की सैर[७]—रामधारीसिंह 'दिनकर', कुरतालम[८]—घोरपड़े, लद्दाख के गोम्बा[९]—श्रीधर कौल, उत्तरी बर्मा की यात्रा[१०]—प्रो० बालचन्द्र अग्रवाल, मेरी पग यात्रा[११]—डा० उदयनारायण तिवारी, मेरी चीन-यात्रा[१२]—हर्षदेव मालवीय, पर्यटकों का स्वर्ग मसूरी[१३]—पर्यटक, नैनीताल[१४]—बेढब बनारसी, मेरी मसूरी यात्रा[१५]—कमला अग्रवाल।

जल-मार्ग तथा यातायात

जलमार्ग की यात्राएँ देश के बाहर जाने के लिए ही अधिकतर की गई हैं। इस मार्ग की यात्राएँ कोई नवीन नहीं हैं, यद्यपि इनमें प्राणाभय सदैव बना रहता है। यातायात का विकास भी जलमार्ग द्वारा ही हुआ है। इस प्रकार की सभी साहित्यिक यात्राएँ गद्य-प्रधान हैं। दो-एक लेखकों में ही भावात्मक दृष्टिकोण दृष्टिगत हुआ जैसे पंडित सूर्यनारायण व्यास एवं व्रजकिशोर 'नारायण'जी में। विवरणात्मकता की सभी लेखकों के ग्रन्थों में प्रधानता है। साहित्यिक कलात्मकता हमें ठाकुर गदा-धरसिंह, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, शिवप्रसाद गुप्त, प० सूर्यनारायण व्यास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, विमला कपूर एवं व्रजकिशोर 'नारायण' के यात्रा-ग्रन्थों में खूब मिलती है। कल्पनात्मक और आलंकारिक शैली हमें केवल कुछ ही लेखकों में मिलती है जैसे ठाकुर गदाधरसिंह, शिवप्रसाद गुप्त, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक और प० सूर्यनारायण व्यास आदि, भाषासौष्ठव सभी लेखकों का सुन्दर और स्पष्ट है। प्रकृतिक मनोरमता के चित्रण में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, शिवप्रसाद गुप्त, सेठ

१. सरस्वती—जुलाई १९४५
२. सरस्वती—अगस्त १९४६
३. सरस्वती—जनवरी-फरवरी १९५०
४. धर्मयुग—२६-११-७३
५. सरस्वती—जनवरी-जून १९५६
६. आज 'साप्ताहिक'—१० जून, १९५६
७. आकाशवाणी प्रसारिका—अक्तूबर, दिसम्बर १९५६
८. 'आज' साप्ताहिक—२६ अगस्त १९५६
९. 'आज' साप्ताहिक—१८ नवम्बर १९५६
१०. 'आज' साप्ताहिक—२३ दिसम्बर १९५६
११. 'आज' साप्ताहिक—१० फरवरी १९५७
१२. 'आज' साप्ताहिक—१० फरवरी १९५७
१३. 'आज' साप्ताहिक—२८ अप्रैल १९५७
१४. 'आज' साप्ताहिक—४ अगस्त १९५७
१५. 'आज' साप्ताहिक—२५ अगस्त १९५७

गोविन्ददास एवं पं० सूर्यनारायण व्यासजी का नाम उल्लेखनीय है। व्यासजी की शैली निराली है जिसमें भाषासौष्ठव सबसे सुन्दर है। यहाँ पर हम जलमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों की सूची क्रमानुसार दे रहे हैं—

लन्दन-यात्रा (१८८३) हरदेवी, लन्दन का यात्री (१८६२) भगवानदास वर्मा, चीन में तेरह मास (१६०२) ठाकुर गदाधरसिंह, हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा (१६०३) ठाकुर गदाधरसिंह, रूस-जापान-युद्ध (१६०५) ठा० गदाधरसिंह, अमरीका दिग्दर्शन (१६११) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृथ्वी-प्रदक्षिणा (१६१४) शिवप्रसाद गुप्त, लंका-यात्रा का विवरण (१६१६) गोपालराम गहमरी, लन्दन पैरिस की सैर (१६२६) वेणी शुक्ल, मेरी जर्मन-यात्रा (१६२६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, हमारी विलायत-यात्रा (१६२६) केदाररूप राय, अफ्रीका-यात्रा (१६२८) मंगलानन्द पुरी, हमारी जापान यात्रा (१६३१) कन्हैयालाल मिश्र, विदेश की बात (१६३२) कृपानाथ मिश्र, मेरी ईरान-यात्रा (१६३२) महेशप्रसाद मौलवी, मेरी यूरोप-यात्रा (१६३२) गरोशनारायण सोमाणी, मेरी यूरोप-यात्रा (१६३५) राहुल सांकृत्यायन, हमारा प्रधान उपनिवेश (१६३८) सेठ गोविन्ददास, ईराक की यात्रा (१६४०) पं० कन्हैयालाल मिश्र, इंग्लैण्ड-यात्रा (१६४१) रामचन्द्र शर्मा, सागर-प्रवास (१६४१) यूरोप के पत्र (१६४२) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट०, मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा (१६५१) स्वामी स्वतन्त्रानन्द, अनजाने देशों में (१६५३) विमला कपूर, अफ्रीका-यात्रा (१६५५) स्वामी सत्यभक्त, नन्दन से लन्दन (१६५७) ब्रजकिशोर 'नारायण' आदि।

उपर्युक्त जलमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक विद्वानों के साहित्यिक लेख भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। जलमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी इन लेखों की सूची हम यहाँ पर क्रमानुसार दे रहे है—

विलायत की सैर[१]—ग० स० मराठे, विलायत समुद्र-यात्रा[२]—लक्ष्मीशंकर मिश्र, लन्दन की सैर[३]—वेणीप्रसाद शुक्ल, अमेरिका की यात्रा[४]—अमेरिका का एक यात्री, रूस की सैर[५]—वीरेन्द्रकुमार मुखोपाध्याय, मेरी फीजी-यात्रा[६]—

१. चित्रमय जगत—फरवरी-मार्च १६१३
२. मर्यादा—जुलाई १६१४
३. सरस्वती—अप्रैल १६१६
४. सरस्वती—जुलाई-अगस्त १६१६
५. सरस्वती—जनवरी १६२२
६. मर्यादा—चैत्र १६२३

गोविन्दसहाय शर्मा, कलकत्ता से वेनिस [१]—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, जर्मनी आस्ट्रेलिया की सैर [२]—श्यामाचरण राय, स्वीडेन में [३]—श्रीयुत यात्री, मेरी मिसद्वीय-यात्रा [४]—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, बरमा की यात्रा [५]—सत्यव्रत विद्यालंकार, लन्दन का प्रथम दर्शन [६]—डॉ० धनीराम 'प्रेम', मेरी जावा-यात्रा [७]—के० सी० बनर्जी, कोलम्बो से लन्दन [८]—डॉ० धनीराम 'प्रेम', मेरी फीजी-यात्रा [९]—गोपेन्द्रनारायण 'पथिक', मेरी ईरान-यात्रा [१०]—साधुप्रसाद, हमारी विदेश-यात्रा [११]—रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र, मेरी ईरान-यात्रा [१२]—मोशियो आर तूर्त, नवद्वीप-यात्रा [१३]—दीनानाथ सिद्धान्तालकार, मेरी यूरोप-यात्रा [१४]—डॉ० मनजीतसिंह राठौर, कलकत्ता से तेहरान [१५]—मु० इस्हाक, मेरा यूरोप-भ्रमण [१६]—डॉ० धनीराम 'प्रेम', न्यूजीलैण्ड-यात्रा [१७]—शंकरप्रताप फीजी, मेरी यूरोप-यात्रा के पृष्ठों से [१८]—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, साम्यवादी देशों मे [१९]—नित्यनारायण बनर्जी, मेरी रूस-यात्रा [२०]—पं० ब्रजलाल नेहरू, यूरोप-यात्रा [२१]—डॉ० हरिशंकर चतुर्वेदी, सैल्सबर्ग में एक सप्ताह [२२]—प० सूर्यनारायण व्यास, वर्न की यात्रा [२३]—प० सूर्यनारायण व्यास, मेरी जापान-यात्रा और जापानी-जीवन पर विहंगम दृष्टि [२४]—सेठ लक्ष्मणप्रसाद, यूरोप की यादगार [२५]—विश्वनाथ सहाय माथुर आदि।

आकाश की यात्राएँ

आकाश की यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन साहित्यिक यात्राओं से है जो आकाश-मार्ग पर वायुयान द्वारा की गई हों और उन्हें अपने अनुभव के आधार पर शब्द-बद्ध कर दी गई हों। वायुयान के चलन के बाद से आकाश-मार्ग का यात्रारम्भ हुआ। यातायात का विकास हुआ। बहुत-से व्यक्ति आकाश-मार्ग से विदेशों की यात्रा करते हैं, पर सभी अपनी उस यात्रा का वर्णन साहित्य के लिए लिपिबद्ध नही करते। हम यहाँ केवल उन्हीं यात्राओं का विवरण करेंगे जो हमें

---

१. माधुरी—१९२३
२. माधुरी—१९२३
३. सरस्वती—अगस्त १९२४
४. सरस्वती—दिसम्बर १९२४
५. माधुरी—अगस्त-सितम्बर १९२८
६. चाद—जून १९२९
७. सरस्वती—अक्तूबर १९२९
८. माधुरी—१९२९
९. विशाल भारत—जनवरी १९३०
१०. सरस्वती—मई १९३०
११. सुधा—फरवरी-सितम्बर १९३१
१२. विशाल भारत—अप्रैल १९३१
१३. चांद—मार्च १९३१
१४. सुधा—फरवरी १९३२
१५. विशाल भारत—फरवरी १९३२
१६. चाद—जनवरी-फरवरी-मई-जून १९३२
१७. चाद—अप्रैल १९३२
१८. माधुरी—दिसम्बर १९३२ फरवरी-मार्च १९३३
१९. विशाल भारत—जनवरी १९३४
२०. सरस्वती—फरवरी १९३४
२१. वीणा—अगस्त १९३४
२२. सुधा—वर्ष ११, संख्या २-३
२३. कौमुदी—सन् १९३८
२४ सुधा—जनवरी १९३९
२५. माधुरी—दिसम्बर १९४०

साहित्यिक रूप में लिपिबद्ध मिलती हैं। आधुनिक-युग में जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से इस प्रकार की यात्राओं को प्रेरणा मिली है और यही कारण है कि १९५० ई० के बाद से इस प्रकार का साहित्य हमें पूर्व की अपेक्षा अधिक मिलता है।

इस प्रकार की यात्राओं का साहित्य गद्य रूप में ही मिलता है। भावात्मक और विवरणात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता हमें धर्मचन्द सरावगी, सेठ गोविन्ददास, रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय और राजवल्लभ ओझा में अधिक मिलती है। साहित्यिक कलात्मकता में भी उपर्युक्त लेखक ही उल्लेखनीय हैं। राहुल जी में बुद्धिवादी दृष्टिकोण मिलता है। भाषा में आलंकारिकता का पुट कई लेखकों द्वारा दिया गया है, पर इसकी प्रधानता किसीमें नहीं है। कल्पनात्मकता में डॉ० सत्यनारायण, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, रामवृक्ष 'बेनीपुरी', राजवल्लभ ओझा, सेठ गोविन्ददास अग्रणीय हैं। प्रकृति मनोरमता के दृश्यों का उल्लेख करने में ओझाजी और बेनीपुरीजी सबसे आगे हैं। ओझाजी के दृश्यों में मौलिकता है, पर बेनीपुरीजी में केवल कल्पनात्मकता। भाषा-सौष्ठव में पं० रामनारायण मिश्र, धर्मचन्द सरावगी, डॉ० सत्यनारायण, सेठ गोविन्ददास, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, यशपाल, बेनीपुरी, राजवल्लभ ओझा आदि का स्थान सर्वोपरि है। इन लेखकों ने बड़ी ही सरल भाषा-शैली में अपनी आकाशमार्गीय यात्राओं के वर्णनों को समावेष्ठित किया है, जो पाठकों को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यहाँ पर हम आकाशमार्गीय यात्राओं के प्रकाशित साहित्यिक ग्रन्थों की सूची दे रहे हैं—

रूस की सैर (१९२९) पं० जवाहरलाल नेहरू, यूरोप यात्रा में ६ मास (१९३२) पं० रामनारायण मिश्र, यूरोप में ७ मास (१९३६) धर्मचन्द सरावगी, रोमांचक रूस में (१९३९) डॉ० सत्यनारायण, यूरोप के झकोरे में (१९३९) डॉ० सत्यनारायण, सुदूर दक्षिण-पूर्व (१९५१) सेठ गोविन्ददास, दिल्ली से मास्को (१९५१) महेशप्रसाद श्रीवास्तव, वो दुनिया (१९५२) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, पैरों में पंख बाँधकर (१९५२) रामवृक्ष 'बेनीपुरी', रूस में २५ मास (१९५२) राहुल सांकृत्यायन, लोहे की दीवार के दोनों ओर (१९५३) यशपाल, कलकत्ता से पैकिंग (१९५३) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, उड़ते-चलो उड़ते-चलो (१९५४) रामवृक्ष 'बेनीपुरी', बदलते दृश्य (१९५४) राजवल्लभ ओझा, पृथ्वी-परिक्रमा (१९५५) सेठ गोविन्ददास, राहबीती (१९५६) यशपाल, ज्ञान की खोज में (१९५७) डॉ० जगदीशशरण शर्मा, देश-विदेश (१९५७) रामधारीसिंह 'दिनकर', हालैण्ड में पच्चीस दिन (१९५७) रा० र० खाडिलकर, जापान की सैर (१९५७) रामकृष्ण बजाज, दुनियाँ की सैर ८० दिन में (१९५७) डॉ० परमेश्वरदीन शुक्ल, आँखोंदेखा यूरोप (१९५८) भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन', बदलते रूस में (१९५८) रा० र० खाडिलकर।

उपर्युक्त साहित्यिक-यात्रा ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ लेख भी प्रमुख हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आकाशमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी इन लेखों की सूची निम्नलिखित है :—

कवीन्द्र के साथ ईरान को[1]—केदारनाथ चट्टोपाध्याय, मध्य यूरोप में ३ सप्ताह[2]—राजकुमार मानसिंह, बुडापेस्ट-यात्रा[3]—श्रीमती मनसा पंडित, आकाश-मार्ग द्वारा अमरीका-यात्रा[4]—गिरिजाकुमार माथुर, नए चीन की एक झलक[5]—एफ० सी० अरोड़ा।

विषयानुसार यात्रा-साहित्य

पशु-पक्षियों की यात्राएँ—पशु-पक्षियों की यात्राओं-सम्बन्धी साहित्य से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो पशु-पक्षियों की यात्राओं पर लिखा और प्रकाशित किया गया है। विश्व का कण-कण शक्तिमान् है और प्रत्येक कण में गति है। विश्व की इसी गति पर विश्व का विकास निर्भर है, तब ये पशु-पक्षी ही अपनी इस गतिशीलता की शक्ति के सदुपयोग से क्यों वंचित रह जाएँ। मानव-मन की भाँति पशु-पक्षी भी विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हैं। भले ही मानव की यात्राओं की भाँति इनका उद्देश्य प्रकृति पर्यवेक्षण और मनोरंजन न होकर उनका उद्देश्य भोजन की खोज-मात्र ही होता है। रामायण, महाभारत, पंचतन्त्र आदि में भी पशु-पक्षियों की यात्रा के संकेत मिलते हैं। मानस में—कागभुशुण्ड की यात्रा तथा पद्मावत में हीरामन तोते की यात्रा आदि इसी प्रकार ही यात्राएँ हैं। इसी प्रकार की यात्राएँ बाल-साहित्य में भी मिलती हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिन्दी में पशु-पक्षियों की यात्राओं से सम्बन्धित साहित्य बहुत कम मिलता है। इस सम्बन्ध में कुँवर सुरेशसिंह कालाकांकर का नाम लिया जाता है; पर भरसक प्रयत्न करने के बाद भी उनका साहित्य हमें नहीं मिल सका है। इस प्रकार की हमें केवल एक पुस्तक ही प्राप्त हो सकी है, इसके लेखक श्री सीताराम शाह हैं, यह सन् १९०६ ई० में ज्ञान-मण्डल कार्यालय, काशी से 'दिलचस्प सच्ची कहानियाँ' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसमें अनेक पशु-पक्षियों की यात्राओं और उनके रहन-सहन का विवरण दिया हुआ है। इस प्रकार की यात्राओं के लेखकों में पं० श्रीराम शर्माजी भी प्रमुख हैं जिनके लेख यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं।

धार्मिक यात्राएँ—वे हैं जो धार्मिक-स्थानों के दर्शन हेतु की गई हैं और दर्शन-पूजन के बाद साहित्य-रूप में लिपिबद्ध कर दी गई हैं। इस प्रकार की यात्राएँ

१. विशाल भारत—सितम्बर १९३२
२. वीणा—सितम्बर १९३४
३. नया समाज—दिसम्बर १९४९
४. सरस्वती—मार्च १९५६
५. आकाशवाणी प्रसारिका (त्रैमासिक पत्रिका) अप्रैल--जून (१९५७)

हिन्दी में बहुत-सी मिलती हैं। इस प्रकार का साहित्य गद्य-पद्य (चम्पू) दोनों शैलियों में मिलता है परन्तु गद्य-रूप में ही इसकी प्रधानता है। पद्यात्मक-यात्राओं में पंडित विन्नू मिश्र, बाबू तोताराम वर्मा और लाला कल्यानचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। गद्यात्मक यात्राओं मे विवरणात्मकता की प्रधानता है। यह विशेषता हमें बाबू देवी-प्रसाद खत्री, धनपतिलाल, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, रामशरण विद्यार्थी, शिवनन्दन सहाय, लक्ष्मीनारायण टण्डन, हरिकृष्ण झाभड़िया मे मिलती है। भावात्मकता केवल कुछ ही लेखकों में दिखाई देती है। जैसे सत्यदेव परिव्राजक, प्रो० मनोरंजन, रामशरण विद्यार्थी। बुद्धिवादी दृष्टिकोण किसी मे भी नही मिलता है। कलात्मकता अवश्य प्रो० मनोरंजन एवं शिवनन्दन सहाय में सबसे अधिक है। धार्मिक भावना की करीब-करीब सभी लेखकों मे प्रधानता है। कल्पनात्मकता हमे विशेषरूप से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, प्रो० मनोरजन, रामशरण विद्यार्थी और यशपाल जैन मे ही मिलती है। इन लेखकों की अद्वितीय लेखन-शैली मे आलकारिकता का भी पुट मिश्रित है। कला-वैचित्र्य मे परिव्राजक, प्रो० मनोरजन, रामशरण विद्यार्थी और शिवनन्दन सहाय का स्थान उच्च है। दार्शनिक भावना केवल शिवनन्दन सहाय में ही दिखाई देती है। प्रकृति मनोरमता के चित्रण मे स्वामी सत्यदेव परिव्राजक. प्रो० मनोरंजन, रामशरण विद्यार्थी, स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी एव जैनजी अग्रगणी हैं। ये लेखक भाषा-सौष्ठव मे भी निपुण है। इस प्रकार की धार्मिक यात्राओ के साहित्यिक ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है :—

मेरी दक्षिण दिग्यात्रा (१८८६) दामोदर शास्त्री, केदारनाथ-यात्रा (१८६०) लाला कल्यानचन्द्र, ब्रज-यात्रा (१८६४) पं० विन्नू मिश्र, ब्रजविनोद (१८८८) बाबू तोताराम वर्मा, रामेश्वर-यात्रा (१८६३) बाबू देवीप्रसाद खत्री, बदरिकाश्रम-यात्रा (१६०२) बाबू देवाप्रसाद खत्री, द्वारिकानाथ-यात्रा (१६१२) धनपतिलाल, मेरी कैलाश-यात्रा (१६१५) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, कैलाश-यात्रा (१६३२) पं० श्रीराम शर्मा, उत्तराखण्ड के पथ पर (१६३६) प्रो० मनोरजन, कैलाश-पथ पर (१६३७) रामशरण विद्यार्थी, संयुक्तप्रान्त के तीर्थ-स्थान (१६४५) लक्ष्मीनारायण टण्डन, कैलाश-दर्शन (१६४६) स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, मेरी दक्षिण भारत-यात्रा (१६४६) हरिकृष्ण झाभड़िया, जय अमरनाथ (१६५५) यशपाल जैन।

उपर्युक्त धार्मिक यात्राओं-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक स्थानों की यात्राएँ लेखों के रूप में भी लिखी गई है। ये लेख हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों की सूची हम यहाँ पर दे रहे हैं—

हरिद्वार[1]—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सरयू पार की यात्रा[2]—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,

१. कविवचन सुधा—३० अप्रैल एवं १४ अक्तूबर १८७१
२. हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका—फरवरी १८७४

बद्रीनाथ की यात्रा[1]—भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र, मेरी तीर्थ-यात्रा[2]—गोविन्दहरि फड़के, रामेश्वर-यात्रा वर्णन[3]—बालकृष्ण श्रीधर कोल्हटकर, हमारी दक्षिण भारत की यात्रा[4]—बाबा सा० पत, व्यासकुण्ड की यात्रा[5]—सन्तराम, गंगोत्री-यात्रा-वर्णन[6]—श्रीराम शर्मा, मेरी द्वारिकापुरी की यात्रा[7]—प० मोहनलाल नेहरू, श्री जगन्नाथ-पुरी[8]—प्रोफेसर दयाशकर दुबे, मेरी छतरपुर-यात्रा[9]—गणेश पाण्डेय, दार्जलिंग यात्रा[10]—लोकनाथ द्विवेदी, मेरी अमरनाथ की यात्रा[11]—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह, मेरी द्वारिका-यात्रा[12]—डॉ० सरजूप्रसाद तिवारी, कैलाश-दर्शन[13]—प्रो० शिवनाथ कश्यप, जयपुर का गलता तीर्थ[14]—प० हरिशकर शर्मा, भुमग के प्रस्तर-खण्डो मे[15]—लक्ष्मीकान्त पाठक 'कात', केदारनाथ की यात्रा[16]—चन्द्रकुँवर वर्तवाल, बद्रीनारायण धाम-यात्रा[17]—शम्भूनाथ चतुर्वेदी, मेरी बद्रीनाथ-यात्रा[18]—विष्णु प्रभाकर, देवभूमि कागडा-कुल्लू[19]—शर्मा, नन्दादेवी अभियान[20]—नारेन वी० जोशी।

शिकारियों की यात्राएँ—शिकारियो की यात्राओ से हमारा अभिप्राय उन यात्राओ से है जो शिकारियो द्वारा स्वय की गई है और अपनी उन यात्राओं को उन लोगो ने अक्षरबद्ध कर दिया है। हम यहाँ केवल उन्ही यात्राओ को इसके अन्तर्गत ले रहे है, जो साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी गई है। इस प्रकार का साहित्य यद्यपि हिन्दी मे

१. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका—और मोहन चन्द्रिका—१८८०
२. चित्रमय जगत—जून से सितम्बर १९१८
३. चित्रमय जगत—मार्च १९१९
४. चित्रमय जगत—जून-जुलाई १९२०
५. विशाल भारत—जनवरी १९२३
६. प्रभा—अगस्त १९२४
७. चांद—जुलाई १९२६
८. माधुरी—अगस्त-सितम्बर १९२८
९. विशाल भारत—दिसम्बर १९३१
१०. सरस्वती—सितम्बर १९३२
११. सुधा—अक्तूबर १९३२
१२. वीणा—दिसम्बर १९३२
१३. सुधा—फरवरी १९३६
१४. माधुरी—अगस्त १९४०
१५ सरस्वती—अक्तूबर १९४२
१६. तरुण—मई १९४३
१७. सरस्वती—अक्तूबर १९५०
१८. विशाल भारत—अप्रैल १९५६
१९. सरस्वती—जुलाई से दिसम्बर १९५६
२०. सरस्वती—जुलाई से दिसम्बर १९५६

बहुत कम है; फिर भी जो है वह बहुत ही रोचक और मनोरंजक है। इस प्रकार का साहित्य देना प्रतिभावान लेखकों का ही कार्य है। भावात्मकता और कलात्मकता के क्षेत्र में पं० श्रीराम शर्मा अग्रगणी हैं। परन्तु कल्पनात्मकता में शर्माजी के साथ-साथ श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार और कर्नल सज्जनसिंह भी ऊँचे कलाकार हैं। इनकी शिकारी यात्राओं में भौगोलिकता के दर्शन हो जाते हैं। वन, पर्वत, नदी-नाले आदि सभी के प्रकृति मनोरम शब्द चित्र इसमें अंकित कर दिए गए हैं. जो कि सरल और सुगठित भाषा में हैं। इस प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों की सूची हम क्रमानुसार दे रहे हैं—

शिकार (१९३२) पं० श्रीराम शर्मा, प्राणों का सौदा (१९३३) पं० श्रीराम शर्मा, शिवालिक की घाटियों में (१९५३) श्रीनिधि सिद्धान्तालकार, लद्दाख-यात्रा की डायरी (१९५५) कर्नल सज्जनसिंह।

सांस्कृतिक यात्राएँ—सांस्कृतिक यात्राएँ वे हैं जो किसी देश की संस्कृति को समझने या समझाने के लिए की जाती हैं। इस प्रकार की यात्राएं की अवश्य जाती हैं; पर इनका साहित्य नहीं के बराबर है। यूँ दो-तीन साहित्यिक ग्रन्थ इस प्रकार की यात्राओं के अवश्य प्राप्य हैं. जिनका उद्देश्य दूसरे देशों में भारतीय हिन्दू-संस्कृति का प्रचार ही था। इस प्रकार के ग्रन्थों की भाषा सरल और भावात्मक है। इनमें स्वामी सत्यदेव परिव्राजक और स्वामी सत्यभक्त का नाम अग्रगणी है। इस प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों की सूची हम क्रमानुसार दे रहे हैं—

ज्ञान के उद्यान में (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, यूरोप की सुखद-स्मृतियाँ (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, मेरी अफ्रीका-यात्रा (१९५५) स्वामी सत्यभक्त।

साहित्यिक यात्राएँ—साहित्यिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य उन यात्राओं से है जो साहित्यकारों द्वारा साहित्यिक दृष्टिकोण से की गई हो। इस प्रकार की यात्राओं में वे सभी यात्राएँ भी सम्मिलित कर ली गई हैं जो साहित्यिक महारथी दर्शनार्थ, साहित्य सदन दर्शनार्थ, साहित्यिक सामग्री के एकत्रीकरण हेतु या साहित्य के प्रचारार्थ की गई हैं। इस प्रकार की यात्राओं के अधिक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हैं वरन् इस प्रकार की यात्राएँ केवल पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुई हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले सन् १८८५ ई० में दामोदर शास्त्रीजी ने अपनी एक पुस्तक 'मेरी पूर्वा-दिग्यात्रा' नाम से प्रकाशित कराई थी। इसमें शास्त्रीजी ने हिन्दी प्रचार एवं भाषण के लिए की गई यात्राओं को लिपिबद्ध करके संगृहीत किया है। इस पुस्तक के अतिरिक्त साहित्यिक यात्राएँ हमें केवल लेखों के रूप में ही मिलती हैं।

मेरी रींवा-यात्रा[1]—भगीरथ प्रसाद दीक्षित, मेरी बीकानेर-यात्रा[2]—पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, शान्तिनिकेतन-यात्रा[3]—बनारसीदास चतुर्वेदी, कलकत्ते की साहित्यिक-यात्रा[4]—श्रीनाथसिंह, पं० पद्मसिंह शर्मा के गाँव की यात्रा[5]—श्रीराम शर्मा, मेरी दक्षिण-यात्रा[6]—पं० रामनरेश त्रिपाठी, वर्षा में तीन दिन[7]—डॉ० बाबूराम सक्सैना, दार्जलिंग-यात्रा[8]—पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, दौलतपुर की यात्रा[9]—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, साहित्य सदन की यात्रा[10]—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, संकटमय पथ के मधुर यात्री[11]—पं० माखनलाल चतुर्वेदी।

ऐतिहासिक यात्राएँ—ऐतिहासिक यात्राएँ वे हैं जो विद्वानों द्वारा पुरातत्व अन्वेषण, अध्ययन और प्राचीन सुन्दरता का अवलोकन करने के लिए की जाएँ। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राएँ संख्या में बहुत कम हैं। इनमें ऐतिहासिक तत्वों का ही निरूपण किया गया है। इस प्रकार की यात्राओं में मुनिकान्तिसागर का "खण्डहरों का वैभव" नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन सन् १९५३ ई० में हुआ था। इसके अतिरिक्त सभी लेख मिलते हैं जिनकी सूची यहाँ दी जा रही है—

तक्षशिला और खैबर घाटी की यात्रा[12]—रायसाहब सोहनलाल, मेवाड़ दर्शन[13]—केदारनाथ चटर्जी, जयपुर[14]—पं० मंगलदेव शर्मा, उद्धवस्त अवंतिका के खण्डहरों में[15]—पं० सूर्यनारायण व्यास, मेरी उज्जैन यात्रा[16]—सन्तराम, मेरी उदयपुर-यात्रा[17]—महेन्द्रकुमार मानव—विजयगढ़-यात्रा[18]—बनारसीलाल आर्य, नालन्दा के उजड़े-आँगन में[19]—बनारसीलाल आर्य।

भौगोलिक यात्राएँ—भौगोलिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो भौगोलिक क्षेत्रों मे की गई हैं और उनका वृत्तान्त भौगोलिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। देश की सुरक्षा के लिए हमें अपने देश के महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थानों का ज्ञान होना आवश्यक है, या किसी देश, अथवा उसके प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में यदि सब मौन हैं तो वहाँ की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त जो यात्राएँ की जाती हैं वे भी भौगोलिक यात्राएँ ही कहलाती हैं। इस प्रकार की

१. सरस्वती—मई १९२६
२. सरस्वती—जनवरी १९३१
३. विशालभारत—जनवरी १९३२
४. सरस्वती—जुलाई १९३३
५. सुधा—जनवरी १९३४
६. विशालभारत—फरवरी १९३४
७. सुधा—सितम्बर १९३५
८. सुधा—सितम्बर १९३५
९. सुधा—दिसम्बर १९३८
१०. मधुकर—फरवरी १९४५
११. सरस्वती—जनवरी से जून १९५६
१२. सरस्वती—जुलाई १९४२
१३. विशालभारत—अगस्त १९३०
१४. चाद—जून १९३४
१५. सुधा—अगस्त १९४०
१६. माधुरी—अक्तूबर १९४०
१७. माधुरी—फरवरी १९४६
१८. 'आज' साप्ताहिक—३० जून १९५५
१९. 'आज' साप्ताहिक—१ जून १९५७

भौगोलिक यात्राओं में भावात्मकता और कल्पनात्मकता का पूर्ण अभाव है। भाषा-सौष्ठव के कारण इसमें कलात्मकता अवश्य आ गई है। इस क्षेत्र में साधुचरण प्रसाद और राहुल सांकृत्यायन का नाम उल्लेखनीय है। वर्णनात्मकता की प्रधानता हमें राहुलजी के साथ-साथ स्वामी प्रणवानन्दजी में भी मिलती है। इस प्रकार के निम्न ग्रन्थ हैं—

भारत भ्रमण (१६०३) (५ भाग) साधुचरण प्रसाद, कैलाश मानसरोवर (१६४३) स्वामी प्रणवानन्द, दार्जलिंग परिचय (१६५०) राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१६५८) राहुल सांकृत्यायन।

राजनैतिक यात्राएँ—राजनैतिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो देश-विदेश की राजनीति को अध्ययन करने या उससे सम्बन्धित सम्मेलनों में एकत्रित होने, अपने देश की समस्याओं को हल करने के लिए की जाएँ। इसमें वे यात्राएँ भी सम्मिलित हैं जो देश के नेताओं द्वारा राजनीति के सम्बन्ध में की गई हैं, और दूसरे लेखकों द्वारा लिपिबद्ध की गई हैं। साथ ही यशपालजी की दो वायुयान यात्राएँ पुनः ली जा रही हैं जिनका उद्देश्य राजनीति ही था। इस प्रकार की यात्राओं में भावात्मकता केवल यशपालजी में ही मिलती है। दार्शनिक आलंकारिक शैली इनकी अपनी है। कल्पना का किसी लेखक ने आश्रय नहीं लिया है। न्यूज़ रील की भाँति यात्रा को वर्णित करने में गोविन्दसिंह का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार की यात्राओं के ग्रंथ हिन्दी साहित्य में बहुत कम हैं। नीचे इनकी सूची दी जा रही है—

माओ के देश में (१६५३) रामआसरे, लोहे की दीवार के दोनों ओर (१६५३) यशपाल, राहबीती (१६५६) यशपाल, भारत में बुलगानिन (१६५६) गोविन्दसिंह।

उक्त विभाजन के अन्तर्गत हमने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण यात्रा-साहित्य का एक विश्लेषण करने का प्रयास किया है। अधिकांश सामग्री इसमें संगृहीत कर ली गई है और इस प्रकार यथा-सम्भव आधुनिक यात्रा-साहित्य का पूरा परिचय देने का प्रयास किया गया है।

: ४ :

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखकों की जीवनी तथा उनकी यात्रा-साहित्य सम्बन्धी कृतियों का परिचयात्मक विवरण

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखकों की जीवनी, व्यक्तित्व और कृतियाँ

लेखक	जन्मकाल
१. श्री बाबू तोताराम	१८४७
२. ,, बाबू देवीप्रसाद खत्री	१८५६
३. ,, पं० श्रीधर पाठक	१८६०
४. ,, बाबू गोपालराम गहमरी	१८६६
५. ,, ठाकुर गदाधरसिंह	१८६६
६. ,, पं० रामनारायण मिश्र	१८७६
७. ,, गणेश नारायण सोमाणी	१८७८
८. ,, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	१८७६
९. ,, पं० कन्हैयालाल मिश्र	१८८०
१०. ,, बाबू शिवनन्दन सहाय	१८८२
११. ,, बाबू शिवप्रसाद गुप्त	१८८३
१२. ,, कृष्णवंश सिंह बाघेल	१८८५
१३. ,, संतराम	१८८६
१४. ,, पं० जवाहरलाल नेहरू	१८८९
१५. महेशप्रसाद मौलवी	१८९०
१६. ,, राहुल सांकृत्यायन	१८९३
१७. ,, सेठ गोविन्ददास	१८९६
१८. ,, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	१८९७
१९. ,, स्वामी सत्यभक्त	१८९९
२०. श्री कर्नल सज्जनसिंह	१९००
२१. ,, प्रोफेसर मनोरंजन	१९००
२२. स्वामी प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	१९०२
२३. केदाररूप राय	१९०२
२४. पं० सूर्यनारायण व्यास	१९०२
२५. श्री श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी	१९०२
२६. ,, योगेन्द्रनाथ सिनहा	१९०३
२७. ,, यशपाल	१९०४
२८. ,, रामधारीसिंह 'दिनकर'	१९०८
२९. ,, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	१९१०
३०. ,, डॉ० सत्यनारायण	१९१०
३१. ,, अज्ञेय	१९११
३२. ,, लक्ष्मीनारायण टंडन	१९११
३३. ,, यशपाल जैन	१९१२
३४. ,, भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन'	१९१२
३५. ,, रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर	१९१४
३६. ,, राजवल्लभ ओझा	१९१६

३७.	श्री अमृतलाल नागर	१९१६	४०.	,, श्रीमती विमला कपूर	१९२३
३८.	,, व्रजकिशोर 'नारायण'	१९१८	४१.	,, मोहन राकेश	१९२५
३९.	,, रामआसरे	१९२३	४२.	,, गोविन्दसिंह	१९३०

बाबू तोताराम वर्मा

जीवनी—बाबू तोतारामजी जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म सन् १८४७ में हुआ था और मृत्यु दिसम्बर सन् १९०२ में हुई। बी० ए० पास करके ये हेडमास्टर हुए, पर अंत में नौकरी छोड़कर अलीगढ़ में प्रेस खोलकर 'भारत-बन्धु' पत्र निकालने लगे।[1] हिन्दी के प्रति इन्हें अनन्य प्रेम था। हिन्दी का हरएक प्रकार से हित-साधन करने के लिए जब भारतेन्दुजी खड़े हुए थे उस समय उनका साथ देनेवालों में ये भी थे। इन्होंने "भाषा-संवर्द्धिनी' नाम की एक सभा स्थापित की थी। ये हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका के लेखकों में से थे। उसमें 'कीर्ति-केतु' नाम का इनका एक नाटक भी निकला था। ये जब तक रहे हिन्दी के प्रचार और उन्नति में लगे रहे।[2]

कृतियाँ—वर्माजी ने हिन्दी की बहुत सेवा की। कई पुस्तकें लिखकर अपनी सभा के सहायतार्थ अर्पित भी की थीं। जैसे—केटो कृतान्त नाटक (अंग्रेजी का अनुवाद), स्त्री सुबोधनी, ब्रजविनोद, जिसमें यात्रा विवरण दिया गया है।

'ब्रज-विनोद'—१३७ पृष्ठों की पुस्तक है जो भारतबन्धु यंत्रालय, अलीगढ़ से सन् १८८८ ई० में प्रकाशित हुई थी। तोतारामजी ने इसमें बड़े रोचक ढंग से ब्रजमण्डल, बन-यात्रा, ब्रज के तीर्थ, मन्दिर, उपवन, मेले, वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, आदि की यात्राओं का विस्तार से वर्णन किया है। ब्रजभाषा में प्रस्तुत यह यात्रा-विवरण बहुत मधुर बन पड़ा है। उनका यह विवरण यात्रा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण योग है। इस पुस्तक का एक उद्धरण दृष्टव्य होगा—

"भादों में कृष्ण के जन्मोत्सव के समय से बन-यात्रा का प्रारम्भ हो जाता है। बन-उपवनों में रासलीला होती है। जिस स्थान पर जो लीला कृष्ण महाराज ने की है, वहाँ पर वही लीला की जाती है। वन, उपवन, सर, कूप, गिरि, मन्दिर और कुंजों में बन-उपवन ही मुख्य हैं; इससे यह बन-यात्रा ही कहलाती है।[3]

बाबू देवीप्रसाद खत्री

जीवनी—बाबू देवीप्रसाद खत्रीजी मुलतान के दीवान नौनिधिराय के वंशज लाला अचरजमलजी के पौत्र तथा लाला नन्दलालजी के पुत्र थे, जिनके सगे

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१२ संस्करण—पृ० ४७६
२. वही
३. ब्रज-विनोद—बाबू तोताराम वर्मा, पृ० २

भाई लाला ईश्वरदास के सुपुत्र उपन्यास-सम्राट् बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। इनका जन्म मुजफ्फरपुर के विख्यात रईस राय नन्दीपत मेहता के यहाँ सन् १८५६ ई० में हुआ था जो इनके नाना थे। बचपन में ही पिताजी की मृत्यु हो जाने के कारण लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा नाना के यहाँ ही हुई। आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एन्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण की। आप मुज़फ़्फ़रपुर गवर्नमेंट ट्रेज़री के खज़ाञ्ची भी रहे। वैशाख मास सन् १९२१ ई० में काशी में ही आपकी मृत्यु हुई थी।[1]

खत्रीजी का रहन-सहन एकदम सादा था। इन्हें संस्कृत और हिन्दी की धार्मिक पुस्तकों, पूजापाठ एवं श्राद्धादिक में विशेष श्रद्धा थी। ये स्वभाव के बहुत ही नम्र, सरल एवं सहनशील थे, क्रोध करते तो इनको कभी किसीने देखा ही नहीं था। तीर्थ-स्थानों, विशेषकर काशी से इन्हें बड़ा ही प्रेम था, वर्ष में कम-से-कम दो-एक बार काशी अवश्य जाते थे और अपने अनुज बाबू देवकीनन्दन खत्रीजी के यहाँ रहा करते थे। यात्रा की रुचि इन्हें प्रारम्भ से ही थी और इसी कारण वे अपनी माताजी को सब तीर्थ कराने ले भी गए थे।[2]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर बाबू देवीप्रसाद खत्रीजी ने दो पुस्तकें लिखी थी। पहली पुस्तक रामेश्वर-यात्रा पर लिखी गई है तथा दूसरी पुस्तक बदरिकाश्रम-यात्रा पर।

रामेश्वर-यात्रा—खत्रीजी की इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् १८९३ ई० में नारायण प्रेस, मुज़फ़्फ़रपुर से हुआ था। इसका दूसरा संस्करण सन् १९१५ ई० में लहरी प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। ९४ पृष्ठों की इस पुस्तक मे खत्रीजी ने अपनी प्रयाग, चित्रकूट, ओंकार, महाकालेश्वर, गोदावरी, त्र्यम्बकनाथ, द्वारिकाधाम, द्वारिकापुरी, कांची, बालाजी, रामेश्वर इत्यादि द्वादश यात्राओं का सविस्तर वर्णन दिया है। लेखक की यह यात्रा-सम्बन्धी प्रथम कृति थी। यह यात्रा-ग्रन्थ डायरी-शैली में लिखा है। पुस्तकांत में खत्रीजी ने पाठकों से निवेदन करते हुए लिखा है : "मेरी यह लम्बी यात्रा बहुत ही थोड़े दिन में समाप्त हुई अर्थात् मिती आश्विन शुक्ल विजयदशमी तारीख १ अक्तूबर सन् १८९२ ई० को घर से निकले और १६ नवम्बर, १८९२ ई० को घर लौट आए। एक महीना सोलह दिन कुल इस सफर में लगे, जितनी जल्दी यह यात्रा खतम की उसके पढ़ने ही से आप लोग समझ सकते हैं कि मुझे रास्ते में कितना कुछ आराम मिला।

---

१. लेखक के नाम आए स्व० बाबू देवीप्रसाद खत्री के भतीजे बाबू दुर्गाप्रसाद खत्रीजी के व्यक्तिगत पत्रों से प्राप्त सामग्री के आधार पर

२. लेखक के नाम आए स्व० बाबू देवीप्रसाद खत्री के भतीजे बाबू दुर्गाप्रसाद खत्रीजी के व्यक्तिगत पत्रों से प्राप्त सामग्री के आधार पर

सिवाय चलने-फिरने, दर्शन करने की नौबत नहीं आई। हाँ, बम्बई में दो-तीन टिकने का मौका जरूर मिला।" एक उद्धरण दृष्टव्य है :—

"आज की झाँकी का अकथनीय आनन्द कहाँ तक लिखें यहाँ तो वही कहावत हुई कि—'रोम-रोम हो तो दृग तो न पेट भरितों।' घण्टों खड़े रह जाइए हटने को जी नही चाहता। अहा ! धन्य हैं वे लोग जिनको नित्य ही यह अलौकिक सुख प्राप्त होता है।[१]

बद्रिकाश्रम-यात्रा—देवीप्रसादजी की यह पुस्तक प्रथम बार सन् १६०२ ई० में लहरी प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। १३७ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने केवल यात्रियों की सुविधा के दृष्टिकोण-विशेष के लिए सामग्री दी है तथा अपनी-बीती सारी यात्रा का सरल हिन्दुस्तानी भाषा में वर्णन दिया है। अपनी यात्रा के वर्णन के साथ ही संस्कृत के श्लोक आदि भी उद्धृत किए हैं, जो कि खत्रीजी को पण्डों, पुजारियों द्वारा बदरिकाश्रम के माहात्म्य आदि के लिए जपने पड़े थे। अपने काल में यह पुस्तक यात्रियों के बड़े काम की रही होगी, इसमें किंचित-मात्र भी सन्देह नहीं; क्योंकि इससे पूर्व यहाँ की यात्रा-सम्बन्धी कोई भी पुस्तक देवीप्रसादजी को प्राप्त न हो सकी थी। इसके साथ ही यह पुस्तक विशेषत: "यात्री दर्शक" के रूप में ही रह गई है, जिसमें प्रकृति-सौन्दर्य आदि का तथा विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है जिसे खत्रीजी ने अपनी प्रस्तावना में स्वयं कह दिया है। इस पुस्तक का भी एक उद्धरण देखिए :—

"हरे-भरे पहाड़, रंग-विरंग के सुन्दर बूटे और स्वच्छ झरनों का बहाव अच्छे-से-अच्छे और सुन्दर-से-सुन्दर बागों की रौनक को मात करता है। इसके अतिरिक्त हिमालय के बर्फिस्तान की छटा भी दिल लुभा लेने में किसी तरह कसर नहीं करती।"[२]

पण्डित श्रीधर पाठक

जीवनी—पाठकजी का जन्म माघकृष्ण चतुर्दशी, संवत् १९१६ (११ जनवरी सन् १८६० ई०) को आगरा जिले के फीरोज़ाबाद परगने के जौंधरी नामक ग्राम में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं० लीलाधर था।[3] पाठकजी के वृद्ध प्रपितामह श्री कुशलेशजी हिन्दी के अच्छे कवि थे। इनके पितामह पं० धरणीधर शास्त्री धुरन्धर नैयायिक थे। पिता पं० लीलाधरजी यद्यपि एक साधारण पण्डित थे, परन्तु सच्चरित्रता, भगवत्भक्ति और पवित्रता में अद्वितीय थे। इनके निधन पर पाठकजी ने 'आराध्य शोकांजलि' नामक संस्कृत निबन्ध पितृभक्ति

१. रामेश्वर-यात्रा—बाबू देवीप्रसाद खत्री, पृ० ७१-७२

२. श्री बदरिकाश्रम-यात्रा—बाबू देवीप्रसाद खत्री, पृ० १२५

३. पं० श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक से प्राप्त विवरण के आधार पर

और कारुणिकता उद्रेक में लिखा था। बचपन से ही पाठकजी की रुचि लिखने-पढ़ने की ओर थी। प्रारम्भ में इन्हें संस्कृत पढ़ाई गई और १०-१५ वर्ष की अवस्था में अपनी तीव्र बुद्धि से उस भाषा में इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि संस्कृत बोलने और लिखने लगे। १२ वर्ष की अवस्था में इनका पढ़ना-लिखना ही छूट गया। १४ वर्ष की अवस्था में फिर पढ़ना आरम्भ किया। पहले तो कुछ फारसी पढ़ी और सन् १८७५ ई० में तहसीली स्कूल से हिन्दी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में प्रान्त-भर में इनका नम्बर प्रथम रहा। सन् १८७९ ई० में आगरा कालेज से अंग्रेजी मिडिल की परीक्षा पास की और इसमें भी सब उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में प्रथम पद प्राप्त किया। इसके एक ही वर्ष पीछे सन् १८८० ई० में इन्होंने एण्ट्रेंस की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की।"[1]

उक्त परीक्षा उत्तीर्ण करने के छः माह के अनन्तर सन् १८८१ ई० में आप कलकत्ता चले गए और वहाँ ६० रु० मासिक पर सैसस कमिश्नर के स्थायी कार्यालय में नौकर हो गए। इसी नौकरी में इन्हें शिमला जाकर हिमालय के प्राकृतिक उदग्र वैभव को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। बाद में प्रयाग में लाट-साहब के कार्यालय में इनको एक स्थान मिल गया। इस कार्यालय के साथ पाठकजी को कई बार नैनीताल के प्राकृतिक दृश्यों को देखने एवं भ्रमण करने का अवसर मिला। सन् १८९८ ई० में जब कि इनका वेतन २०० रु० मासिक था, इनकी आगरा को बदली हुई और वहाँ से सन् १९०१ ई० में ३०० रु० मासिक वेतन पर इर्रीगेशन कमीशन के सुपरिण्टेण्डेण्ट पद पर नियुक्त हुए। कमीशन के अन्त (सन् १९०३) तक ये उसी पद पर रहे। तदनन्तर एक वर्ष पर्यन्त भारत सरकार के कार्यालय में डिप्टी-सुपरिण्टेण्डेण्ट और सुपरिण्टेण्डेण्ट रहे। वहाँ से तीन मास की छुट्टी लेकर यह काश्मीर सैर करने गए। वहाँ से लौटने पर "काश्मीर-सुषमा" नामक काव्य लिखा। उसके उपरान्त नौकरी करते हुए आप बराबर साहित्य की सेवा करते रहे। सन् १९२८ ई० में आपका देहान्त हो गया।

पाठकजी अपने प्रकृति वर्णन के लिए हिन्दी-साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। सरल और स्वाभाविक चित्रण अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। उनकी प्राकृतिक सौन्दर्य-सम्बन्धी अनुभूति एकदम पवित्र, स्वच्छ और सात्विक है, जिसमें हृदय की सहज ललक ही उनके व्यक्तित्व की देन है। युग की सामूहिक चेतना से उनका व्यक्तित्व प्रभावित है।

कृतियाँ—पाठकजी की कृतियाँ यों तो अनेक हैं, पर हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी केवल एक पुस्तक "देहरादून" नामक है।

---

१. हिन्दी के निर्माता—(भाग १) डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० ७९

"देहरादून"[1]—इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९१५ ई० में इनके पुत्र पण्डित गिरिधर पाठक द्वारा इलाहाबाद से हुआ था। यह पद्मकोट प्रबन्धमाला का १६वाँ पुष्प है। इसमें पाठकजी ने अपनी देहरादून-शिमला आदि यात्राओं का सम्पूर्ण विवरण "बरवा" छन्द में लिपिबद्ध किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व इनकी ये यात्राएँ सन् १९१३ ई० में हिन्दी की प्रमुख मासिक पत्रिका "मर्यादा" में निकली थीं। "बरवा" इनका प्रिय छन्द था जिसमें इनकी यह यात्रा बहुत सुन्दर बन पड़ी है। मार्ग में पड़नेवाले जंगल, पहाड़ आदि के दृश्य-चित्रों को पाठकजी ने बहुत सुन्दर रूप से अंकित किया है। इन दृष्टियों से यात्रा-साहित्य का यह ग्रन्थ अविस्मरणीय है। इस ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य होंगी :—

पग-पग विपुल डगरवा पुलवा बन्ध,
सोहत सुलभ सगरवा सुखद प्रबन्ध।
चहुँ दिसि खिलित पहुपवा नव छवि धारि,
विचरत सुघर सरूपवा नर अरु नारि।
जिऊ भयो अति प्रफुलितवा सुछवि निहारि,
नगर खेद अतुलितवा निपट बिसारि।[2]

बाबू गोपालराम गहमरी

जीवनी—आपका जन्म पौष कृष्ण ८ गुरुवार सन् १८६६ ई० में बारा (गाजीपुर) में हुआ था। आपके पूर्वज वहीं के निवासी थे। आपके प्रपितामह श्री जगन्नाथ साहु फ्रान्सीसी छींट के व्यापारी थे। उनके दो पुत्र थे—रघुनन्दन और ब्रजमोहन। रघुनन्दनजी के तीन पुत्र हुए—रामनारायण, कालीचरण और रामदास। यही रामनारायणजी गहमरीजी के पूज्य पिता थे। गोपालरामजी ने वर्नाक्यूलर मिडिल तक की शिक्षा गहमर में पाई। सन् १८७९ ई० में आपने मिडिल पास किया। उसके पश्चात् चार वर्ष तक आप गहमर स्कूल में लड़कों को पढ़ाते तथा स्वयं उर्दू और अंग्रेजी का अभ्यास करते रहे। छोटी अवस्था होने के कारण आप नार्मल में भरती न हो सके और आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से आपके अभिभावक अंग्रेजी पढ़ाने का खर्च सँभाल न सकते थे। आपके पिता आपको ६ महीने का छोड़कर परलोक सिधारे थे।[3] सन् १८८८ ई० में आपने हाई स्कूल फर्स्ट ग्रेड में नार्मल की परीक्षा पास की। सन् १८८९ ई० में आपने रोहतासगढ़ मिडिल स्कूल की हैडमास्टरी ग्रहण की। वहाँ एक वर्ष तक काम करने चले गए। वहाँ आप सन् १८८९ ई० तक काम करते रहे, फिर "भारत मित्र" का सम्पादन करने कलकत्ता चले गए। वहाँ

---

१. लेखक को यह ग्रन्थ पं० श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक की कृपा से प्राप्त हो सका
२. देहरादून, पृ० १५
३. हिन्दी के निर्माता—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १६

सन् १९०० ई० तक आप रहे। उसके अनन्तर गहमर आकर आपने "जासूस" नाम का मासिक पत्र निकाला। आपने उपन्यास, नाटक एवं कविता की पुस्तकें भी रची हैं। साहित्यिक क्षेत्र में आपका मूलभाव था सरल, सुगम सुबोध हिन्दी का प्रचार करना। आप सदा सरल, सबके समझने योग्य हिन्दी लिखते रहे। जासूसी उपन्यासों में आपका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से उभर सका है।

कृतियाँ—आपने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर भी एक पुस्तक लिखी है। इनका "लंका-यात्रा का विवरण" नामक ग्रन्थ, चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी से सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में गहमरीजी ने अपनी लंका-यात्रा का सम्पूर्ण विवरण देने का प्रयत्न किया है। इनकी यह यात्रा रेल और जहाज द्वारा हुई थी। धनुषकोटि तीर्थ-स्थान का एक उद्धरण देखिए :—

"कहते हैं जब रामचन्द्र लंका-विजय करके दल-बल सहित सीता को लिए यहाँ आये थे तब लौटती बेर धनुष से अपना बँधा हुआ विशाल सेतु यहाँ तोड़ दिया था, तभी से इसका नाम धनुषकोटि पड़ा।"[1]

ठाकुर गदाधरसिंह

जीवनी—आपका जन्म सन् १८६९ ई० में वाराणसी में हुआ था।[2] ये चन्देल क्षत्रिय थे। इनके पूज्य पिता का नाम ठाकुर दरियावसिंह सरदार बहादुर था। ये बंगाल की पाँचवीं नेटिव इन्फैण्टरी में सूबेदार थे। सन् १८३४ ई० में ये सेना में भरती हुए और सन् १८७८ में इन्होंने पेंशन ले ली। इस ४४ वर्ष की सेवा में इन्होंने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के काबुल, कन्धार, मुदकी, गजनी, फिरोजशहर, सुबराव, सौताल आदि अनेक युद्धों में वीरतापूर्ण भाग लिया था। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के समय में छुट्टी लेकर आप घर आए हुए थे। अपनी सरकार पर आपदा देखकर ये घर पर न टिक सके, तुरन्त अपनी पल्टन पर लौट गए। इस समय इनको बाग़ी होने के अनेक प्रलोभन दिए गए, पर ये अपने स्वाभिव्रत पर दृढ़ रहे।[3] वे स्वामी दयानन्द के दर्शन कर चुके थे और स्वामीजी का इन पर भारी प्रभाव था। इन सब बातों का प्रभाव बालक गदाधरसिंह पर भी पड़ा।[4] इनकी माता भी पढ़ी-लिखी थीं। बाल्यावस्था में इनकी शिक्षा घर ही पर माता तथा एक शिक्षक द्वारा हुई। इन शिक्षक महोदय को रामायण पढ़ने का बड़ा अनुराग था। ठाकुर गदाधरसिंह भी दो घण्टे इनके साथ रामायण पढते थे। पिता की इच्छा थी कि हमारा पुत्र सिपाही हो। अतएव १७ वर्ष की अवस्था में मैट्रिक उत्तीर्ण करके ये पिता की पल्टन

१. लंका यात्रा—गोपालराम गहमरी, पृ० ३८
२. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन, पृ० ५५७, द्वि० सं० १९४९
३. हिन्दी के निर्माता—भाग १, डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १२५, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
४. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन, पृ० ५५७

में भरती हो गए। नियुक्ति के प्रथम वर्ष (सन् १८८८ ई०) में ये बरमा की लड़ाई पर गए। वहाँ इन्होंने सेना सम्बन्धी सब प्रकार का कार्य किया। वहाँ से लौटने पर ये अपनी सेना के कार्यालय में कार्य करने लगे। सन् १८९४ ई० में जब बंगाल की सेनाओं में जाति-भावना उठी तब ये १६वीं राजपूत पल्टन में बदल गए और स्कूल के अध्यापन का कार्य करने लगे। सन् १८९६ ई० में ये सातवीं राजपूत पल्टन में बदल गए।[1]

ठाकुर गदाधरसिंहजी ने सेना-विभाग में बीस वर्ष सेवा करके अपना ट्रान्सफर उत्तर-प्रदेश के डाक विभाग में करा लिया और वही कार्य करने लगे। उस समय सेना में इनका पद सूबेदार का था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों को इन्होंने खूब पढ़ा था और उनके अनुयायी थे। इनकी बड़ी बहिन भी बड़ी साहित्य-प्रेमी थीं, अनेक वर्षों तक उन्होंने "वनिता हितैषी" नामक मासिक पत्र निकाला था। ठाकुर गदाधरसिंह का देहावसान अक्तूबर २५, सन् १९२० ई० में हुआ था।[2]

आप हिन्दी के साहित्य-प्रेमी थे। आप पर स्वामी दयानन्दजी का पूर्ण प्रभाव था। आपका साहित्यानुराग ही आपके व्यक्तित्व का परिचायक है। ठाकुर गदाधरसिंहजी का स्वभाव बड़ा ही मिलनसार और नम्र था और देश-सेवा का रंग तो मानों उनकी नस-नस में भरा हुआ था।[3] यात्राओं का उल्लासपूर्ण वर्णन अपने ढंग का निराला है जिसमें आपका व्यक्तित्व निखर उठा है।

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर आपकी तीन पुस्तकें है—

(१) चीन में तेरह मास
(२) हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा
(३) रूस-जापान युद्ध ३ भाग

चीन में तेरह मास—गदाधरसिंहजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९०२ ई० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ था। ठाकुर साहब सन् १९००-१ ई० में अपनी पल्टन के साथ चीन की लड़ाई में गए थे। ३१९ पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने उसी महासंग्राम का आँखों-देखा सम्पूर्ण रोचक वृत्तान्त, चीन और जापान का संक्षिप्त इतिहास, रीति-नीति, चीनियों के धर्मविश्वास, खान-पान, व्यवहार, फौजी और देशी सभी वृत्तान्त, नामी मन्दिरों और इमारतों आदि के सर्वांग-वर्णन, बक्सर-विद्रोह, विदेशी अधिकार इत्यादि विषयों का वर्णन बड़ी सुन्दर और उपयुक्त रीति से किया है। इस पुस्तक की विशेषता और महत्ता पर हिन्दी और अंग्रेजी के विभिन्न पत्रों और पत्रिकाओं ने भी दृष्टिपात किया है। हम यहाँ उनके संक्षिप्त

१. हिन्दी के निर्माता—भाग १—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १२६
२. वही, पृ० १२७
३. वही, पृ० १२७

उद्धरण भी दे रहे हैं। लखनऊ के प्रसिद्ध पत्र "ऐडवोकेट" ने लिखा था: "इसके पृष्ठ खोलने पर वहाँ जो कुछ हमने देखा उससे हमें बहुत आश्चर्य हुआ। इसके लेखक को ही इसका श्रेय जाना चाहिए जिसने सक्रिय और हलचलपूर्ण सैनिक जीवन में भी घटित होनेवाली घटनाओं को देखा और विस्तार से उनका चित्रण किया।... यह पुस्तक निश्चित रूप से नवांकुरित हिन्दी साहित्य पर अपनी अमर छाप छोड़ेगी"[१] पं० शुकदेवबिहारी मिश्र "शशिभाल कवि" ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करते हुए लिखा है: "यह पुस्तक हिन्दी उपन्यास की भाँति रोचक है।"[२] पुस्तक की सुन्दरता और महत्ता का वर्णन करते हुए कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र 'इण्डियन मिरर' ने लिखा है: "यह पुस्तक भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में अनूदित करने योग्य है।"[३] हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है: "हिन्दी में अब तक हमने ऐसी पुस्तक नहीं देखी है, न ऐसी पुस्तक अभी तक छपी है। भारतवासियों के लिए समयोपयुक्त शिक्षाओं का यह भण्डार है।"[४] 'हिन्दोस्थान' ने इसके सम्बन्ध में लिखा है: "पुस्तक ऐसी सुन्दर बनी है कि एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किए फिर नहीं रहा जाता है।[५] 'राजपूत' पत्र ने लिखा है कि: "इस ग्रन्थ के लेखक ने केवल युद्ध का ही वर्णन नहीं, किन्तु चीन-देश और आरम्भ से अपनी यात्रा का विवरण लिखकर अपने देशवासियों के लिए एक अपूर्व उपहार प्रस्तुत किया है।"[६] ऋतु-वर्णन का एक उद्धरण दृष्टव्य होगा :—

"धरती के दुग्धफेन निभ वसनों की कालिमा पत्र-पत्र विहीन वृक्षावलि हैं। जिस समय तुषार रूपी शुभ्र वसनों से पृथ्वी पर पड़े हुए सभी पदार्थ कूड़ा-करकट,

१. "When its pages were opened we were very agreeably surprised with what we found therein. It reflects great credit upon the author to have to carefully observed and noted in detail all the passing events in the hurry and scurry of Military life in active service... This book is a distinct advance and is likely to leave a permanent mark upon the budding Hindi Literature."

Advocate, Lucknow, Thursday, 1 May, 1902.

२. "The nature of this book is Novel for Hindi—Pt. S. B. Misra, coated from the last page of the book—'My Coronation Visit to England'—by G. D. Singh."

३. This book deserves to be rendered into all the Vernacular's of India."

—The Indian Mirror—Calcutta, Tuesday, April 22, 1902

४. सरस्वती—मार्च १९०२ ई०

५. हिन्दोस्थान—अप्रैल, १३, १९०२ ई०

६. राजपूत—अप्रैल १५, १९०२ ई०

ईंट-पत्थर-कोयला, राख गड्ढा-खंदक सब ढँककर श्वेत वर्ण हो जाते हैं और सूर्यनारायण अपनी स्वर्णोपम किरण द्वारा मीठी मन्द मुस्क्यान से दृष्टि डालते हैं तब चकाचौंध से नेत्र स्थिर नहीं रह सकते।"[१]

हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा—ठाकुर साहब का यह ग्रन्थ सन् १६०३-४ ई० में प्रथम बार लाला सीताराम, जुही, कानपुर द्वारा प्रकाशित हुआ था। गदाधरसिंहजी को महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के समय सन् १६०२ ई० में इंग्लैण्ड जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। २८० पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी इस यात्रा का वर्णन दिया है। ठाकुर साहब ने महाराजाधिराज एडवर्ड सप्तम के लन्दन में राजतिलक महोत्सव का आँखों-देखा वर्णन प्रस्तुत किया है। इस यात्रा-वर्णन के साथ ही समुद्र-यात्रा तथा विलायत के अनेक दर्शनीय स्थानों के रोचक और हृदयग्राही वर्णन इसमें समाहित किए हैं। पुस्तक बहुत सुन्दर है। इस पुस्तक का एक उद्धरण ही यथेष्ट होगा—

"विद्या और ज्ञान-विज्ञान रूपिणी सरस्वती बुद्धि और विवेक द्वारा नीर-क्षीर विलगकारी हंस पर सवार होकर अपनी सौम्य, शान्त और जनमन मोदकारी रूप का दर्शन देती थी तब हृदय और मन ज्ञान के प्रकाश से आलोकमय हो जाता और समस्त संसार, हाँ सृष्टि और सृष्टा दोनों ही हस्तामलक हो जाते थे।"[२]

रूस-जापान युद्ध—गदाधरसिंहजी की इस पुस्तक का प्रकाशन पुस्तक प्रचारक कम्पनी, अजमेर से हुआ था। यह तीन भागों में विभाजित है। प्रथम और तृतीय भाग का प्रकाशन सन् १६०५ ई० में हुआ था और द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् १६०८ ई० में। इन तीनों भागों में गदाधरसिंहजी ने रूस और जापान-युद्ध का विस्तृत वर्णन दिया है। यह वर्णन साहित्यिक न हो सकने के कारण यात्रा-साहित्य में अधिक योगदान न दे सका।

पण्डित रामनारायण मिश्र

जीवनी—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अन्यतम संस्थापक स्वर्गीय पं० रामनाराण मिश्र का जन्म सारस्वत ब्राह्मण कुल में संवत् १६३३ (सन् १८७६ ई०) में भद्रकाली एकादशी (ज्येष्ठ कृष्ण ११) के दिन हुआ था। अपने जन्म की तिथि एवं स्थान के विषय में पंडितजी ने स्वयं ही इस प्रकार लिखा है: "मेरी जन्म-पत्री खो गई। इतना मालूम है कि मेरा जन्म भद्रकाली एकादशी पर हुआ था, जो ज्येष्ठ में निर्जला एकादशी के पन्द्रह दिन पहले पड़ती है अर्थात् मेरा जन्म-दिन ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी है। मेरे पिताजी ने क्वींस कालेज में मेरा नाम ४ अगस्त सन्

१. चीन में तेरह मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० १७२
२. हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ५६

१८८३ ई० लिखवाया था और वहाँ मेरी उम्र नौ बरस बतलाई थी। इस हिसाब से मेरा जन्म १८७४ में हुआ होगा, अर्थात् १९३२ या १९३३ में। जब गवर्नमेण्ट सर्विस में आया तब लोगों ने बतलाया कि जिसके जन्म की तारीख और महीना न मालूम हो वह पहली जुलाई लिख सकता है। सन् मैंने अन्दाज़ से १८७३ लिख दिया। मेरा जन्म-स्थान दिल्ली है जो उस समय पंजाब प्रान्त के अन्तर्गत था।"[1] पंडितजी के पूर्वजों का निवास-स्थान अमृतसर था और इनके पिता पंडित चिरंजीव मिश्र वहीं रहते थे। पंडितजी बचपन में वहीं उर्दू पढ़ते थे। इनके मामा डाक्टर छन्नूलाल इन्हें इनके वृद्ध माता-पिता के साथ बनारस ले आए। उस समय इनकी अवस्था सात-आठ वर्ष के लगभग थी। अपने मामा के सम्बन्ध में इन्होंने स्वयं लिखा है : "मेरे मामा डॉ० छन्नूलाल लाहौर मेडिकल कालेज से पढ़कर पेशावर और मियाँवाली में असिस्टेण्ट सर्जन हुए। उत्तर-प्रदेश की सरकार की माँग पर वे इस प्रान्त में आ गए। कुछ दिनों तक मुरादाबाद चिकित्सालय में रहकर वाराणसी के सहायक सर्जन हुए और वहीं मेरे माता-पिता को बुलवा लिया। मैं शायद उस समय सात-आठ वर्ष का था। डॉ० छन्नूलाल सितम्बर १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो नगर में जो सर्वधर्म-सम्मेलन (पालियामैण्ट आफ रिलीजन्स) हुआ था उसमें सम्मिलित हुए थे।"[2]

काशी आने के बाद यहीं इनका स्थायी निवास हो गया। पंडितजी की शिक्षा सं० १९४० (४ अगस्त, १८८३) से काशी के क्वींस कालेज में प्रारम्भ हुई और वहीं से इन्होंने संवत् १९५१ (सन् १८९४) में विज्ञान लेकर द्वितीय श्रेणी में स्कूल की फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९०० ई० में बी० ए० उत्तीर्ण होकर कालेज छोड़ा। इण्टरमीडिएट में इन्होंने फारसी ली थी और बी० ए० में रसायन-शास्त्र (केमिस्ट्री) और दर्शन। कालेज छोड़ने के बाद उसी वर्ष ये राजकीय सेवा मे नियुक्त हुए और उत्तर प्रदेशीय शिक्षा-विभाग में सबडिप्टी-इन्सपेक्टर के पद पर एक वर्ष जौनपुर रहे। वहाँ से डिप्टी-इन्सपेक्टर होकर बस्ती एवं वाराणसी गए और १९०८ ई० तक उसी पद पर रहे। दस मास तक भारत सरकार के प्रधान शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर जनरल आव एजूकेशन) के कार्यालय में शिमला में कार्य किया। वहाँ से फिर डिप्टी-इन्सपेक्टर के पद पर बरेली और जौनपुर गए। वाराणसी में ६ वर्ष तक डिप्टी-इन्सपेक्टर रहे। ४ अगस्त, १९१० ई० में वे सरकारी आज्ञा से काशी के हरिश्चन्द्र स्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर भेजे गए। यहाँ से सन् १९२० ई० में गवर्नमेण्ट स्कूल के प्रधानाध्यापक होकर देवरिया गए और सन् १९२२ में उसी पद पर मिर्जापुर में स्थानान्तरित हुए। सरकार ने पं० मदनमोहन मालवीय

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—हीरक जयन्ती अंक के आधार पर —वर्ष ५८, अंक १, सं० (२०१०), पृ० ३९९

२. वही, पृ० ४००

के आग्रह पर इन्हें काशी के सेण्ट्रल हिन्दू-स्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर सन् १९४४ ई० तक कार्य कराया। इसके पश्चात् ये वैतनिक सेवा से अवकाश ग्रहण कर अवैतनिक रूप से सार्वजनिक सेवा-कार्यों में प्राय: अपना पूरा समय देने लगे। सन् १९३८ ई० से सन् १९४२ ई० तक ये काशी के दयानन्द इण्टर कालेज के अवैतनिक प्रिन्सिपल रहे। पंडितजी की मृत्यु सं० २००९ में शिवरात्रि के दिन (११ फरवरी, १९५३) बुधवार की रात्रि मे हुई। इस प्रकार उन्होंने लगभग ७७ वर्ष की आयु पाई।[१] पंडितजी सरल स्वभाव और साधारण वेशभूषा के व्यक्ति थे। ये मिष्टभाषी और व्यवहार-कुशल थे।

ये हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। इनके हिन्दी-प्रेम के कारण ही उन्हें हिन्दी प्रचारिणी संस्थाएँ समय-समय पर सम्मानित किया करती थी। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी राजकीय सेवा के पदों पर एवं सार्वजनिक कार्य-क्षेत्रों में भी प्रतिष्ठा मिली। इनकी प्रशंसनीय सार्वजनिक सेवा के उपलक्ष में उत्तर-प्रदेश के गवर्नर की ओर से वाराणसी के कमिश्नर ने इन्हें एक घड़ी भेट की थी। सन् १९१० ई० तक ये वाराणसी म्यूनिसिपल बोर्ड के सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य रहे तथा उसकी शिक्षा-समिति के अध्यक्ष चुने गए थे। अपनी साहित्यिक-सेवाओं के कारण ही सरकार द्वारा ये उत्तरप्रदेशीय उच्च एवं माध्यमिक शिक्षा परिषद्, प्रान्तीय पाठ्य-पुस्तक समिति, शिक्षा-नियम-संशोधन समिति तथा तीन बार उत्तर प्रदेशीय हिन्दुस्तानी एकेडेमी के भी सदस्य नियुक्त किए गए थे।[२]

हिन्दू-स्कूल में प्रधानाध्यापक रहते हुए ये हिन्दू-कन्या विद्यालय के पदेन-मन्त्री भी थे। स्वामी-दयानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे एवं महामना मालवीयजी के विचारों और कार्यों का पंडितजी पर बहुत प्रभाव था। हिन्दी-भाषा के प्रति पंडितजी को सहज प्रेम था, स्वयं तो इसका व्यवहार करते ही थे, इसके संरक्षक एवं प्रचार के लिए हर प्रकार से निरन्तर प्रयत्नशील रहते तथा दूसरों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करते थे।

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सम्मेलन (मद्रास सं० १९९५), अखिल भारतीय आर्यकुमार सम्मेलन के राष्ट्र-भाषा सम्मेलन (मुरादाबाद सं० २००१) तथा पंजाब आर्य प्रतिनिधि-सभा की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर हुए राष्ट्र-भाषा सम्मेलन (लाहौर सं० २००३) के वे सभापति चुने गए थे। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से तो उनका सम्बन्ध था ही। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने सं० २००५ में इन्हें "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्रदान की थी। आपके व्यवहार और उद्योग से

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—हीरक जयन्ती अंक के आधार पर—वर्ष ५८, अंक ३, सं० (२०१०) पृ०, ३९९

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—हीरक जयन्ती अंक के आधार पर—वर्ष ५८, अंक ३, सं० २०१०, पृ० ४०२

प्रभावित होकर स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी ने अपना ज्वालापुर का ४५,००० रुपये का सत्यज्ञान-निकेतन नागरी प्रचारिणी सभा को अर्पित कर दिया। सभा के आर्य-भाषा पुस्तकालय के लिए पंडितजी ने अपने निजी संग्रह की लगभग १,२०० पुस्तकें प्रदान कीं जो उनके एकमात्र चिरंजीव सुपुत्र के नाम पर श्रीशचन्द्र-संग्रह में आर्य-भाषा पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

कृतियाँ—हिन्दी के यात्रा-साहित्य पर आपकी एक प्रसिद्ध पुस्तक "योरोप-यात्रा में छः मास" नाम से है। ५६३ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९३२ ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में मिश्रजी ने अपनी यूरोप-यात्रा का विस्तृत-विवरण दिया है। वे काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय से सैण्ट्रल हिन्दू-कालेज तथा शिक्षा-समितियों के अखिल भारतीय संघ की ओर से प्रतिनिधि बनकर जिनेवा (स्विटज़रलेण्ड) और एल सिनोर (डैनमार्क) के शिक्षा-सम्बन्धी सम्मेलनों में उपस्थित होने के लिए गए थे। वहाँ की विभिन्न शिक्षा-समितियों के सम्मेलनों की बैठकों में आप सम्मिलित हुए। यूरोप की इन शिक्षा-समितियों एवं प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा का आपने बड़ा रोचक वर्णन सरल भाषा में लिपिबद्ध किया है। देखिए—

"३० अक्तूबर को आधी रात के बाद गाड़ी मुगलसराय पहुँची। हम लोग उसी रात सकुशल अपने घर पहुँचे। इस तरह छः महीने की यात्रा सकुशल समाप्त हुई।"[1]

श्री गणेशनारायण सोमाणी

जीवनी– गणेशनारायण सोमाणीजी का जन्म जयपुर में संवत् १९३५ भाद्र शुक्ल १३ सोमवार (९ सितम्बर, सन् १८७८ ई०) को सोमाणी वंश में हुआ था।[2] सोमाणीजी के पूज्य-पिता सेठ गोबीनाथजी इनको अल्प-अवस्था में ही छोड़कर दिवंगत हो गए थे। इनके पिताजी हिन्दी के अच्छे विद्वान् व कविता के रसिक थे।[3] इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अजमेर गवर्नमेण्ट कालेज में हुई। प्रयाग विश्व-विद्यालय से आप ग्रेजुएट हुए। ग्रेजुएट होते ही एक प्रथम श्रेणी के बड़े सामन्त के शिक्षक व अभिभावक नियुक्त हुए। इसके पश्चात् आप जोबनेर हाई-स्कूल व वाल्टर नोबिल्स स्कूल, बीकानेर के प्रधानाध्यापक रहे। इसके बाद आप राजस्थान की सबसे पुरानी और बड़ी टेक्सटाइल मिल के मैनेजर-पद पर आसीन रहे। कई बार जयपुर गवर्नमैण्ट ने प्रसन्न होकर बड़ी राशि का पुरस्कार देकर सोमाणीजी को सम्मानित किया। सोमाणीजी जयपुर की सर्वप्रथम लोक-संस्था सर्वहितकारिणी सभा के प्रथम अध्यक्ष हुए। सन् १९२० ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन

१. यूरोप-यात्रा में छः मास—रामनारायण मिश्र, पृ० ५६३
२. मेरी जीवन-कहानी—गणेशनारायण सोमाणी, पृ० १, हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, १९४८
३. वही—पृ० ३

के साथ होनेवाले अखिल भारतीय देशी राज्य-सम्मेलन नागपुर के आप प्रथम सभापति थे। कई वर्ष तक सोमाणीजी नागरी प्रचारिणी सभा, जयपुर के मन्त्री भी रह चुके हैं। आज-कल आप सोमाणी-बिल्डिंग्स, जयपुर में ही रहते हैं। अब आप अपने पारिवारिक जीवन में बडे आनन्द से हैं। आप सच्चे देशभक्त है। आर्य-समाज की ओर आपका बचपन से ही झुकाव था, महर्षि दयानन्द सरस्वती के आप अनन्य भक्त हैं। जयपुर आर्य-समाज के कई वर्ष तक प्रधान भी रह चुके हैं। सोमाणीजी युवावस्था से अपनी इस वृद्धावस्था तक एक निर्भीक लेखक, वक्ता व कार्यकर्त्ता रहे हैं और निरन्तर अपने देश की नैतिक, सामाजिक, व आर्थिक उन्नति के लिए तत्पर रहे हैं। सरकारी बड़े पदों पर आरूढ़ होते हुए भी इन्होंने जनता की हर प्रकार से सहायता की है।[१]

कृतियाँ—हिन्दी-यात्रा साहित्य पर सोमाणीजी की "मेरी यूरोप-यात्रा" नामक एक पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १९३२ ई० में वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से मुद्रित हुई थी। २०१ पृष्ठों की इस पुस्तक में सोमाणीजी जैसे अदम्य उत्साही यात्री ने अपनी पूरी यूरोप-यात्रा अपनी प्रिय पुत्री को पत्रों के रूप में लिख भेजी थी। आपने यह यात्रा केवल सैर-सपाटे के लिए की थी। सम्पूर्ण पुस्तक पत्रों के रूप में ही है। सोमाणीजी ने स्वयं लिखा भी है: "मैंने यह पत्र साधारण बोलचाल की भाषा में लिखे हैं न कि इससे पूर्व रचित मेरी पुस्तकों के स्टाइल में। उन्हीं पत्रों की प्रति उतरवाकर पुस्तक-रूप में रक्खी गई है।"[२] इस यात्रा-पुस्तक में मारवाड़ी मुहावरों एवं शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। सोमाणीजी के जीवन की यह प्रथम विदेश-यात्रा थी। जिनेवा के दृश्य का एक उद्धरण देखिए :—

"कल यहाँ गुलाब की बेलें भी देखीं जो ऐसी कोमल लचकीली टहनियों की थीं कि जिनका कहीं खम्भा बना दिया और कहीं छाया करके गुंज कर दी हो। एक तरफ समुद्र, दूसरी ओर आबूवाले गुरु-शिखर पहाड़ की तरह पहाड़ और बीच में बँगले व खेती थी।[3]

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

जीवनी—स्वामी सत्यदेवजी का जन्म पंजाब के लुधियाना नगर में सन् १८७९ ई० में सिक्ख थापर खत्रियों में हुआ था। इनके पिता का नाम मास्टर कुन्दनलाल और माता का नाम श्रीमती नारायणदेवी था। यह बड़ी शान्त-स्वभाव, मधुर-भाषिणी और सरल-हृदया थीं, पर पिताजी स्वभाव के बड़े तीखे और क्रोधी थे, यद्यपि दिल के साफ थे। माताजी स्वतन्त्रता प्रिय थीं। उनका यह गुण इन्हें मिला। पिता बड़े कट्टर सनातनधर्मी और नियमपूर्वक पूजा-पाठ करनेवाले थे।

१. लेखक के नाम आए श्री सोमाणीजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. मेरी यूरोप-यात्रा—(भूमिका से उद्धृत)—गणेशनारायण सोमाणी

३. मेरी यूरोप-यात्रा—गनेशनारायण सोमाणी, पृ० ४५

धर्म में श्रद्धा की भावना इनको वहीं से मिली। पिता मध्यमवृत्ति के गृहस्थ थे।[1] सन् १८६५ ई० में सत्यदेवजी ने मिडिल परीक्षा पास की, आप स्वामी महानन्दजी के शिष्य हैं। स्वामी महानन्दजी दादू-पन्थियों की एक गद्दी के शिष्य थे। जब उन्हें स्वामी दयानन्दजी का देश-भक्तिपूर्ण उपदेश मिला तो वे आर्य-समाज में आ गए। इन्हीं स्वामीजी से सत्यदेवजी ने संस्कृत का अध्ययन किया जिसका वर्णन करते हुए इन्होंने स्वय ही लिखा भी है : "स्वामीजी के पास मैं कई महीने रहा और 'लघु-सिद्धान्त कौमुदी' पढ़ी।[2] यहीं से ये संन्यासी हो गए। सन् १८८६ ई० में स्वामीजी ने सर्वप्रथम लुधियाना से लाहौर तक की रेल-यात्रा की थी। सन् १६०५ ई० में आपने केवल १५ रुपये की पूँजी से अमरीका की यात्रा की। ये सदैव ही स्वावलम्बी स्वभाव के रहे हैं। सन् १६०६ ई० जून मास से लेकर सन् १६०७ ई० के जून मास तक स्वामीजी शिकागो विश्वविद्यालय मे राजनीति-विज्ञान, व्याख्यान-कला, लेखन-कला, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, आदि विषयों का अध्ययन करते रहे। अमरीका पहुँचकर ही आपने हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' में लेख लिखने आरम्भ किये थे।[3] जुलाई, १६०७ ई० से आपने ओरेगन विश्वविद्यालय में पढ़ना शुरू किया और सन् १६०८ ई० से १६१० ई० तक वाशिंगटन रियासत के स्टेट-विश्वविद्यालय में पढ़ते रहे। इस विषय का वर्णन करते हुए आपने लिखा है : "यहीं से मैं ग्रेजुएट हुआ और यहीं से मैं अमरीका भ्रमण को निकला। वाशिंगटन, ओरेगन, कैलीफोर्नियाँ, अरीजोना, टैक्साज तथा न्यू मैक्सिको इन ६ रियासतों में मैंने पैदल भ्रमण किया और २३०० मील की इस यात्रा का अद्‌भुत अनुभव प्राप्त किया जो मेरे जीवन की अमूल्य निधि बन गई।"[4] सन् १६२७ ई० में स्वामीजी फिर जर्मनी पहुँच गए और तीन वर्ष रहे। १६२८ ई० में वीएना, प्राग, बर्लिन, फ्रेंकफर्ट, ज्यूरिच, कोलोन और हालैंड का भ्रमण किया। जनवरी सन् १६३३ ई० में स्वामीजी ने ज्वालापुर-कनखल रोड पर २००० रुपये में ५ बीघा (पक्का) भूमि का टुकड़ा नहर के किनारे खरीद लिया। राजनीति-क्षेत्र से अब स्वामीजी ने संन्यास ले लिया है। अब आप इसी स्थान पर स्थापित सत्यज्ञान निकेतन में ही रहते हैं।[5] स्वामीजी नेत्रों की ओर से जीवन-भर कष्टों का सामना करते रहे और अब उन्हें बिलकुल

---

१. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १-२२, प्र० संस्करण—१६५१

नोट :—लेखक को यह पुस्तक स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी की व्यक्तिगत कृपा से प्राप्त हो सकी थी। यह उनकी निजी प्रति थी। यह पुस्तक प्रकाशित होते ही सरकार द्वारा जब्त कर ली गई थी।

२. स्वतन्त्रता की खोज में, पृ० ७६

३. स्वतन्त्रता की खोज में, पृ० ११६-११७

४. वही, पृ० ११७-११८

५. लेखक के नाम प्राप्त स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

नहीं दिखाई देता है। अपने भोजन एवं नेत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही लिखा भी है : "मैं चौबीस घण्टे में एक बार अन्न लेता हूँ और पाँच छटाँक आटा खाता हूँ, वह भी पराँठे के रूप में। शाक-भाजी खूब खाता हूँ और रात के समय आधा सेर दूध केले के साथ, अथवा बादाम और मुनक्के लेता हूँ। दाल और चावल बिलकुल नहीं खाता। ···आँखों से मैं बिलकुल नहीं देखता।[१]"

स्वामीजी में उदारता, त्याग, साधना, स्पष्टवादिता, निर्भीकता और साहित्य-प्रेम एक साथ ही मिलते हैं। स्वामीजी का हिन्दी-प्रेम सराहनीय है। इन्होंने हिन्दी के लिए बड़े उद्योग किए हैं। विदेशों की साहसपूर्ण यात्राएँ जो इन्होंने कीं उनके वर्णन को पढ़-पढ़कर जाने कितने युवकों के हृदय में अपनी साधनहीन अवस्था में सुदूर पाश्चात्य देशों में जा-जाकर ज्ञानार्जन करने के हौसले उत्पन्न हुए। ये निरन्तर हिन्दी में लिखते और व्याख्यान देते रहे।[२] इनकी वाणी और कलम में तीखी चुभने-वाली शक्ति रहती है। अमेरिका से भी अच्छे-अच्छे गद्य-लेख प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों में सदा छपवाते रहे और स्वदेशानुसार पूर्ण लेखों में अनेकानेक बातों का वर्णन करते रहे।[३] स्वामीजी एक प्रकार से राजनीतिक संन्यासी रहे, यद्यपि राजनीति के झोंके में नहीं आए —ये जो कुछ लिखते उसमें हार्दिक भावों का ज्वार भरा रहता था। ये एक आदर्श पर्यटक रहे। खेद है वे अब नेत्रों से लाचार होकर पढ़ने-लिखने से विवश हैं, फिर भी पत्रों का उत्तर अपने सहायक द्वारा अवश्य भिजवा देते हैं, जो कि इनके व्यक्तित्व की उदारता का पूर्ण परिचायक है। ३० नवम्बर, सन् १९४३ ई० को इन्होंने अपनी संपूर्ण सम्पत्ति (सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर सहित) जिसकी कीमत तब २५०० रुपये थी, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा को पश्चिमी-भारत में नागरी-लिपि, हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य के प्रचार के लिए दे दी है। स्वामीजी का यह दान अमर रहेगा। स्वामीजी का सिद्धान्त सदैव अत्याचार का विरोध करना—ईश्वरीय आज्ञा का पालन करना रहा है।[४] देशभक्ति के कारण इन्हें कई बार जेल-यात्रा भी करनी पड़ी है। इन यात्राओं में इनका पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धुदास, पंडित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द और गणेशशंकर विद्यार्थी-जैसे देशभक्तों का साथ रहा है। यूरोप महाद्वीप से हिन्दी में रेडियो-भाषण सर्वप्रथम स्वामीजी ने ही अपने देश-वासियों को सुनाया था। हिन्दी की ओर उन्हें अब बहुत निराशा-सी हो गई है। श्रीमती विपुलादेवी ने लिखा है : "स्वामी सत्यदेवजी से ८ फरवरी, १९५३ ई० को जब मेरी भेंट हुई और प्रारम्भिक बातों के अनन्तर ज्योंही मैंने स्वामी सत्यदेवजी से हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया,

---

१. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५६१

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन, पृ० ५५८

३. मिश्रबन्धु-विनोद—भाग ४—मिश्रबन्धु, पृ० ३४७

४. **Resistance to tyranny is a obedience to God—*Satya Deva.***

त्योंही असन्तुष्ट भाव से उन्होंने पहला वाक्य यही कहा : "हिन्दी साहित्य की हालत कैसी है ? बहुत खराब है । लोग नौकर रख-रखकर पुस्तकें लिखवाते तथा नाम कमाते जाते हैं । वे कुछ भी श्रम नहीं करते । ऐसी रचनाओं से कहीं साहित्य बना करता है । उसके लिए साधना चाहिए ।"[१] एक स्थान पर इस निराशा और विक्षोभ को उन्होंने और भी प्रकट किया है : "व्यक्ति के अभाव के कारण, अर्थात् चरित्रपूर्ण, त्यागपूर्ण व्यक्ति के अभाव के कारण संस्थाएं भी नहीं चल रही हैं । मैं सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर में रहता हूँ । ५ एकड़ भूमि के बीच में मेरी गुफा है । मैंने अपना पचास-साठ हजार का निकेतन नागरी-प्रचारिणी सभा को दान दे दिया है, पर आज तक सभा का कोई आदमी न आया जो वहाँ धूनी रमाकर बैठे ।"[२]

स्वामीजी की आज भी यही इच्छा है कि हिन्दी का भण्डार भरे, इस इच्छा को प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है . "सत्यज्ञान निकेतन ज्वालापुर को मैं उच्चकोटि का हिन्दी-साहित्य-केन्द्र बना देना चाहता हूँ । मेरी हार्दिक इच्छा है कि यूरोपीय भाषाओं के विद्यार्थी विदेशी सज्जन, इस निकेतन में आकर हिन्दी-साहित्य पढ़ें और अपनी-अपनी भाषाओं के सुन्दर और उपयोगी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का भण्डार भरें । सत्यज्ञान निकेतन को मैं एक भाषा-शिक्षणालय बना देना चाहता हूँ ।"[३] स्वामीजी भारत के उन गिने-चुने महान् आत्माओं में से एक हैं, जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की खोज और प्राप्ति में अपने जीवन को अर्पण कर दिया । इन्होंने सांसारिक सुख-भोगों पर लात मारकर एक तपस्वी का जीवन अपनाया है । हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और व्याख्यानदाता होने के साथ-साथ स्वामी सत्यदेवजी हमारे देश के उन पंथान्वेषी साधकों में से हैं जिन्होंने अपनी उगती जवानी में ही अनन्त की खोज को अपना जीवन-ध्येय बना लिया और दुनियादारी को त्यागकर पूरे आत्मविश्वास के साथ विश्व के परिव्राजक बन गए । उनके लेखन और प्रवचन में निर्भीकता और ईमानदारी के साथ-साथ अति सुस्पष्टता और प्रोत्साहना भी होती है । उसकी ओजस्विता प्रभावित किए बिना नहीं रहती । स्वामीजी के जीवन और व्यक्तित्व को हम अद्भुत साहस, अटूट आत्म-श्रद्धा और अदम्य जिज्ञासा की गाथा कह सकते हैं ।

कृतियाँ—साहित्य के क्षेत्र में स्वामी सत्यदेवजी के ३२ ग्रन्थ हैं ।[४] हिन्दी-यात्रा-साहित्य के प्रमुख लेखकों में से आप एक हैं । अभी तक यात्रा-साहित्य के क्षेत्र

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—श्रीमती विपुलादेवी का लेख—७ अप्रैल, १९५७, पृ० २५, कालम १, (नई दिल्ली)

२. वही, पृ० २६, कालम ४

३. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५६३

४. लेखक के नाम आए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

में आपके—अमरीका दिग्दर्शन (१९११), मेरी कैलाश-यात्रा (१९१५), अमरीका भ्रमण (१९१६), मेरी जर्मन-यात्रा (१९२६), यात्री-मित्र (१९३६), यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (१९३७), ज्ञान के उद्यान में (१९३७), नई दुनियाँ के मेरे अद्भुत संस्मरण (१९३७), अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी (१९३७), स्वतन्त्रता की खोज में (१९५१), मेरी पाँचवीं जर्मनी यात्रा (१९५५) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

१. अमरीका दिग्दर्शन—स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी का यह ग्रन्थ प्रथम बार देवनागरी प्रेस, कलकत्ता से सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ था। २६५ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में स्वामीजी ने अमरीका जाने के मार्ग में आई हुई सभी कठिनाइयों का बहुत ही सुन्दर तथा तथ्यपूर्ण वर्णन दिया है। इस पुस्तक में स्वामीजी ने शिकागो की रात्रि तथा रविवार, बिजली की रेलगाड़ी, जिनेवा झील की सैर, कारनेगी विश्वविद्यालय, अमेरिका में विद्यार्थी-जीवन, सियेटल का एक दुकानदार, न्यूयार्क नगरी में गेरी बाल्डी, मिस पारकर का स्कूल, अब्राहम लिंकन की शतवर्षी, अमेरिका की स्त्रियाँ, वाशिंगटन, शिकागो विश्वविद्यालय, अमरीका में योग की चर्चा, धार्मिक स्वतन्त्रता के पुजारी अमरीकन, अमरीका में समाज-संगठन की शिक्षा आदि विषयों पर बहुत ही महत्त्व-पूर्ण विचार प्रकट किए गए हैं। प्रायः यह सभी लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके हैं। यह ग्रन्थ स्वामीजी के देशभक्ति के भाव से भी भरा है। अमेरिका-यात्रा का संक्षिप्त-विवरण ही इसमें दिया गया है। देखिए एक उद्धरण—

"भगवान् सूर्यदेव की स्वर्णमयी किरणें डेक पर खड़े यात्रियों को सियेटल नगर की ओर आह्वान करती थीं। पैसेफिक महासागर भी अग्निबोट के साथ खेलता हुआ मन्द-मन्द मुस्कराता था और उस मुस्कराहट में रंग-बिरंगे इन्द्र-धनुष की आभा यात्रियों का मन मोहे लेती थी।"[1]

२. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामीजी का यह ग्रन्थ प्रथम बार सन् १९१५ ई० में सत्यग्रन्थमाला, काशी से प्रकाशित हुआ था। इसका नवीन संस्करण सन् १९३७ ई० सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से प्रकाशित हुआ। १४६ पृष्ठों का यह ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। सन् १९१५ ई० में स्वामीजी ने काठगोदाम से अल्मोड़ा, तकुला से बागेश्वर, कयकोट, श्यामधुरा, तेजम, जोहार, बागडवार होते हुए तिब्बत तक की यात्रा की थी। इस ग्रन्थ में उसी यात्रा का विस्तृत वर्णन है। पुण्यभूमि कैलाश और मानसरोवर की प्रदक्षिणा के साथ-साथ हिमालय के श्वेत भवन का बहुत ही सुन्दर वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। मार्ग में पड़नेवाली कठिनाइयों का वर्णन भी स्वामीजी ने बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। वर्णन तथा वर्णित

---

१. अमरीका दिग्दर्शन—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ८६

विषय की दृष्टि से यात्रा-साहित्य का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कैलाश-यात्रा का यह वर्णन बहुत ही मनोरम है। इस ग्रन्थ पर मद्रास के प्रसिद्ध पत्र 'हिन्दू' दैनिक ने लिखा है : "यह छोटी पुस्तक लेखक की कठिन किन्तु पवित्र कैलाश-यात्रा की दैनन्दिनी है। स्वामी सत्यदेव एक सजीव लेखनी के अधिकारी हैं और कभी-कभी वह अपने स्पष्ट चित्रणों के द्वारा पाठक को उठाकर भव्य हिमालय के सौन्दर्य की गोद में बिठा देते हैं। वह अपनी यात्रा की बहुत-सी छोटी-छोटी किन्तु रुचिकर घटनाओं तथा साहसिक कृत्यों का उल्लेख भी करते है और हमको हिमालय-यात्रा की मुग्धता तथा उसकी कठिनाई का भी बोध कराते हैं।"[१] एक उदाहरण देखिए—

"आनन्द से मस्त जा रहा था जहाँ प्यास लगती, झरनों का स्वच्छ जल पी लेता। पर्वतेश्वर हिमालय के सुरम्य दृश्यों को देख-देख मन मुदित हो रहा था। देवदारु उन्नत मुख किए सुमधुर स्वर से सर-सर नाद कर मेरे चित्त को आह्लादित करते थे।"[२]

३. **अमरीका-भ्रमण**—सत्यदेवजी की यह पुस्तक सत्यग्रन्थमाला कार्यालय, फर्रुखाबाद से प्रकाशित हुई थी। इसका प्रथम संस्करण हमें देखने को नहीं मिल सका है। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९१६ ई० में हुआ था। यात्रा-साहित्य सम्बन्धी १२० पृष्ठों की यह पुस्तक एक उपन्यास के रूप में लिखी गई है। अमेरिका के बीहड़ एवं सर्द मैदानों में बिना गर्म कपड़ों के स्वामीजी ने किस प्रकार रातें बिताईं और क्योंकर बिना किसी साधन के पैदल २,३०० मील की यात्रा की, इसका रोचक वर्णन इस ग्रन्थ में है। इस भ्रमण में आपको नौ महीने लगे। यह भ्रमण सियेटल (अमरीका) से प्रारम्भ हुआ था और इसका न्यूयार्क में अन्त हुआ था। स्वामीजी ने अपने भ्रमण में अमेरिका के लोगों को भारत की वर्त्तमान दशा से किस तरह परिचित कराया है, इसका भी विवरण दिया गया है। इस पुस्तक में आपने अमरीका की सामाजिक, राजनीतिक तथा वैज्ञानिक उन्नति का सच्चा हाल लिखने का प्रयत्न किया है। इसमें

---

१. "The small book is a diary of the authors arduos pilgrimage to the Holly Kailash. Swami Satya Deva wields a facile pen and sometimes he transports the reader and plants him right in the centre of the grand mountain scenery on the Himalyas by the vividness of his descriptions. He narrates many an interesting anecdote and adventure on his journey, which give one a clear idea of the thrills as well as the difficulties of mountaineering on the Himalyas".

—'Hindu' Daily—Madras.

(यूरोप की सुखद स्मृतियां के पुस्तकान्त से उद्धृत)

२. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १२७

अपनी प्रतिदिन की सरस एवं मनोरंजक बातों का उल्लेख भी किया गया है। रोचक शैली में लिखा हुआ यह सुन्दर यात्रा-ग्रन्थ है। इसका एक उद्धरण देखिए—

"जंगलों के बीच से प्रकृति की शोभा देखता हुआ मैं चुपचाप जा रहा था। सब संसार शान्त था। हाँ, प्रकृति अपनी वाणी से इस शान्ति को भंग करती थी। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गया, शब्द की महिमा बढ़ती गई। पक्षियों ने अपना राग आरम्भ किया, बन-बिलारों का चीत्कार भी पहाड़ियों में सुनाई देने लगा।"[१]

४. **मेरी जर्मन-यात्रा**—स्वामीजी का यात्रा-सम्बन्धी यह चौथा ग्रन्थ है। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९२६ ई० में सत्यग्रन्थमाला कार्यालय, देहरादून से प्रकाशित हुआ था। सत्यदेवजी ने यह यात्रा विशेष रूप से अपने नेत्रों की चिकित्सा कराने के लिए की थी। इस ग्रन्थ में स्वामीजी ने जर्मनी की यात्रा का बड़े मनोरम ढग से वर्णन किया है, जिसमें जर्मन की प्यारी राइन नदी का वर्णन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। देखिए—

"पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेशकर राइन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े संकोच से आगे बढती है। यह मार्ग इतना संकीर्ण है कि इसके किनारे पर कई स्थानों में रेल और सड़क के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिली है। नदी की सारी जीवन-यात्रा का यह सबसे अधिक सुखद और रम्य भाग है। यहाँ प्राचीन गढ़ियों में खण्डहर, विचित्र पर्वत-शृंग, खिलखिलाती अंगूरों की बेलें और अद्‌भुत कन्दराएँ इतनी हैं कि जिनके कारण राइन नदी प्रकृति के पुजारियों और नैसर्गिक सौन्दर्य के उपासकों की अत्यन्त प्यारी हो गई है।"[२]

५. **यात्री-मित्र**—इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३६ ई० में सत्यग्रन्थमाला, ज्वालापुर से हुआ है। स्वामीजी ने इस पुस्तक में विशेषत: यात्रा के समय साथ ले जानेवाली आवश्यक सामग्रियों तथा यात्रा के अन्य अनुभवों का सुन्दर वर्णन किया है। यह पुस्तक यात्रियों के लिए बहुत सुन्दर है। इनकी इस पुस्तक पर समालोचना करते हुए मद्रास का प्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दू' लिखता है: "स्वामी सत्यदेव उनको जो भारत अथवा भारत के बाहर भ्रमण करने के इच्छुक हों उपदेश देने की पूर्ण योग्यता रखते हैं, क्योंकि उन्होंने विभिन्न देशों का विस्तृत पर्यटन किया है। वह यात्रियों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों को जानते हैं। इस पुस्तक में वह इच्छुक यात्रियों को असंख्य ऐसी बातें बताते हैं जो उनके लिए काफी लाभदायक सिद्ध होंगी।"[३]

---

१. अमरीका-भ्रमण—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १५

२ मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५५

३. "Swami Satya Deva is well qualified to advice those who intend to traval extensively either in India or abroad; for he has travelled widely in different countries, he knows the needs and difficulties that occur to travellers. In this book he gives innumerable tips to intending travellers which he dare say, will be very useful to them."
—'Hindu'—Daily—Madras.

(यूरोप की सुखद स्मृतियाँ पुस्तक के अन्त से उद्धृत)

६. **यूरोप की सुखद-स्मृतियाँ**—सत्यदेवजी का यह ग्रन्थ प्रथम बार अगस्त सन् १९३७ ई० में ज्वालापुर से प्रकाशित हुआ था। वास्तव में यह 'मेरे यूरोप के अनुभव' नामक ग्रन्थ का ही दूसरा रूप है। इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने स्वयं ही 'स्वतन्त्रता की खोज में' लिखा है : " 'मेरे यूरोप के अनुभव' ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद से छपी थी और बिलकुल तैयार हो गई थी, किन्तु देश का वातावरण उस समय भयावह होने के कारण प्रेस-मालिकों ने उस सुन्दर छपी हुई पुस्तक को जला दिया और उसकी एक प्रति केवल मेरे पास रह गई। उसके कुछ भाग तो मैंने 'यूरोप की सुखद-स्मृतियों' में सम्मिलित कर दिये और शेष लेख दूसरी यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक में सम्मिलित कर दिए जाएँगे।"[1] सत्यदेवजी ने इस ग्रन्थ में सन् १९२७ ई० से सन् १९३० ई० तक के अपनी तीसरी यूरोप-यात्रा के अनुभव विस्तृत रूप से दिए हैं और सन् १९३४ ई० की चौथी बार की यूरोप-यात्रा में जो कुछ ज्ञान एवं अनुभव उन्हें मिला उसका भी इसमें ही चयन किया गया है। पुस्तक से यात्रा के अनुभवों का लाभ उठाया जा सकता है, इस दृष्टि से एवं यात्रा-साहित्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका एक उद्धरण देखिए—

"हम यदि स्वतन्त्र हों, तो संसार में सबसे अधिक धाक हमारी हो। जिनका अतीत गौरवपूर्ण है, जिनका साहित्य सुरभि-स्रोत है और जिनकी वसुन्धरा ऐसी रत्नगर्भा है और फिर जो एशिया और यूरोप का मुख्यद्वार है। ओ हो! कितना प्रचण्ड प्रभाव हमारा दुनियाँ पर पड़ सकता है!"[2]

७. **ज्ञान के उद्यान में**—४५४ पृष्ठों की पुस्तक है जो सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से प्रथम बार सितम्बर १९३७ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्वामीजी की इस पुस्तक में उनके चालीस निबन्ध संगृहीत हैं, जो मुख्यतः समय-समय पर हिन्दी मासिक पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि उनका संशोधन कर, नया रूप दे, इसमें संगृहीत किया गया है। साथ-ही-साथ चरित्र की विस्तृत व्याख्या कर राष्ट्रीय विषयों-सम्बन्धी निबन्धों को भी इसमें समाविष्ट कर दिया गया है। पुस्तक के तीसरे खण्ड—'बाग की बहार' में विशेषतः यात्रा-सम्बन्धी वर्णनात्मक ज्ञानवर्धक निबन्धों जैसे लुनेता में हवाखोरी, नई दुनियाँ से पुरानी दुनियाँ में, यूरोप में मेरा प्रथम पर्यटन, अल्मोड़ा के शिखरपुर, गढ़वाल के गिरिशृंगों पर की सामग्री भी प्रस्तुत कर दी गई है। यहाँ पर इस पुस्तक से हम एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"आखिर वह आह्वान आया। समुद्रदेव ने अपने शीतल पवन के झकोरों द्वारा मनीला के नर-नारियों, वृद्ध बनिताओं, निर्धन धनवानों को सप्रेम बुलाया और नगर

१. स्वतन्त्रता की खोज में—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० २६६

२. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १०८

निवासी सहर्ष समुद्रदेव के आसन की ओर चल खड़े हुए। वह एक सुन्दर दृश्य था। पासिग नदी के पुल पर से होकर समुद्र-तट की ओर जानेवाली सड़क के किनारे खड़ा होकर में उस दृश्य को देखने लगा।"[1]

८. **नई दुनियाँ के मेरे अद्भुत संस्मरण**—स्वामीजी की, इस पुस्तक का प्रकाशन सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से सन् १९३७ ई० में हुआ था। इसमें सत्यदेवजी ने अमरीका-भ्रमण के देखे, सुने और अनुभव किए हुए दुःख-सुख के स्वप्नों को सँजोया है। पैदल भ्रमण के कष्टों, विश्वविद्यालयों की शिक्षा, रमणीक कुंजों की शीतल पवन का आनन्द, ओरेगन के मनोहर दृश्यों, कैलीफोर्नियाँ के उपवनों, वहाँ की खूनी सर्दी आदि को मनोरंजक और हृदयग्राही संस्करणों में अंकित किया है। अमेरीका में पाँच वर्ष रहकर वहाँ की शिक्षा, दीक्षा एवं जीवन के अनुभवों को स्वामीजी ने संस्करण के रूप में लिपिबद्ध किया है।

९. **अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी**—परिव्राजकजी के इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३७ ई० में सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से हुआ था। स्वामीजी ने इस ग्रन्थ में अपनी अमरीका-यात्रा का विवरण कहानी-रूप में लिपिबद्ध किया है। अपने इस प्रवास में इन्होंने खूब ही भ्रमण किया, वहाँ की दशा को अच्छी तरह देखा-भाला। महान कष्ट सहे। रास्ते की कूद-फाँद से लेकर रेल-यात्रा तक का विवरण इन्होंने अपनी कहानी में दे दिया है। इनका यह प्रवास भारत से जापान के रास्ते हुआ था।

१०. **स्वतन्त्रता की खोज में**[2] :—स्वामीजी की यह पुस्तक ज्ञानधारा कार्यालय, ज्वालापुर से सन् १९५१ ई० में प्रकाशित हुई थी। ५९८ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी की आत्मकथा वर्णित है, परन्तु उनकी आत्मकथा है भारत-जर्मनी और अमरीका की विगत पचास वर्षों की प्रमुख घटनाओं की सजीव झाँकी। स्वामीजी ने जितनी यात्राएँ की हैं, जितने व्यक्तियों के सम्पर्क का उन्हें अवसर मिला है और जितने अनुभव उन्हें हुए हैं उनके कारण यह आत्मकथा न केवल रोचक बन पड़ी है, प्रत्युत देश-विदेश के अनेक चित्रों का अलबम बन गई है। इसमें स्वावलम्बन का जीता-जागता उदाहरण मिलता है। स्वामीजी की यह आत्मकथा-समाज के अनुभवों का आगार है। इस पुस्तक में हमारे राष्ट्र के उस युग के इतिहास की झाँकियाँ मिलती है, जब धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन जनता में नवीन जाग्रति पैदाकर उसे प्रगतिशील बना रहे थे और जब भयंकर बाधाओं के विरुद्ध लड़ने की भावना मनुष्यों में जाग्रत हो रही थी। स्वामीजी का यह ग्रन्थ अत्यन्त आकर्षक कहानी के पट खोलता है जिसमें साहस और अद्भुत-पराक्रम की

---

१. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० २८८

२. लेखक को यह पुस्तक स्वामीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क से प्राप्त हो सकी थी

पुट खूब दी हुई है। साथ ही अपने संस्कृत के सद्गुणों को खोये बिना विदेशी संस्कृतियों की अति गम्भीर और नैतिक-शिक्षाएँ सहज-बुद्धि से कैसे प्राप्त होती हैं, इसका भी वर्णन दिया गया है। स्वामीजी के इस ग्रन्थ में महान् उपयोगी तथ्य यह है कि पाठक अपनी राष्ट्रीय मूल-चेतना को बनाए रखते हुए भी विदेशी विचारों, प्रगतियों और अनन्त आंदोलनों का रसास्वादन कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में उन्होंने बचपन से लेकर सन् १९५० ई० तक की अपनी जीवन-यात्रा का वर्णन किया है। इस पुस्तक के विषय में शंकरदेव विद्यालंकार ने लिखा है: "स्वामीजी ने अपनी प्रेरणापूर्ण आत्मकहानी प्रोत्साहक और प्रवाहयुक्त भाषा में लिखी है। स्वदेश-विदेश में परिभ्रमण करते हुए वे सामयिक, ऐतिहासिक घटनाओं, व्यक्तियों तथा संस्थाओं के चरित्रों व कार्यों की मीमासा खुले दिल से करते है। अपनी इस आत्मकहानी में स्वामीजी ने अपनी जीवन-यात्रा पर तथा भारत के पिछले ५० वर्षों की अनेक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।[1] इस ग्रन्थ पर 'नागपुर-टाइम्स' दैनिक पत्र के सहायक सम्पादक पं० अनन्तगोपाल शेवड़े ने नागपुर रेडियो से ३ फरवरी १९५२ को समीक्षा की थी, उनके शब्दों में : "यह है तो आत्मकथा, पर किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं। जीवन रूपी कुरुक्षेत्र में किए गए धर्म-युद्ध की यह एक राजनीतिक सन्यासी के मुँह से कही गई कहानी है।···जीवन में इतनी सिद्धि तो एक प्रखर कर्मयोगी ही पा सकता है। यह कथा इसी कर्मयोगी के प्रयोगों का इतिहास है।"[2] स्वामीजी की इस पुस्तक के सम्बन्ध में बम्बई से प्रकाशित होनेवाले 'ट्रिब्यून' नामक दैनिक पत्र ने लिखा था : "एक प्रकार से स्वामीजी की आत्मकथा हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का सजीवन इतिहास है। इस आत्मकथा में बहुत-से पृष्ठ अत्यन्त शिक्षाप्रद और नवीन स्फूर्ति देनेवाले हैं।[3]" इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्वामीजी की जीवन-यात्रा-सम्बन्धी यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है।

११. **मेरी पाँचवीं जर्मनी-यात्रा**—स्वामी सत्यदेवजी ने यह पुस्तक सन् १९५५ ई० में लिखी है। इसका प्रकाशन सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से हुआ है। आपने यह यात्रा केवल अपनी आँखों का इलाज कराने के लिए की थी। इस यात्रा में स्वामीजी अधिक-भ्रमण न कर सके, क्योंकि उनकी दोनों आँखें बेकार हो गई थीं। सरल-भाषा में यह जर्मनी-यात्रा वर्णित की गई है।

---

१. गुरुकुल-कांगड़ी-पत्रिका में शंकरदेव विद्यालंकार का लेख, फाल्गुन सं० २००८

२. नागपुर टाइम्स (दैनिक पत्र)—में पं० अनन्तगोपाल शेवड़े द्वारा प्रकाशित—
१० फरवरी, १९५२

३. 'Tribune,' 24th February, 1952.

"The Swami's life is, in a sense, the history of our national struggle. There are many very instructive and thought provoking pages in this book."

पंडित कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक'

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८० ई० में भाद्रपद कृष्णाष्टमी को हुआ था। आपके पूज्य पिता श्री ब्रजबिहारीलाल वकील थे। ये मोहान जिला उन्नाव में रहते थे। पं० कन्हैयालालजी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा कुछ विशेष न हो सकी और न इन्होंने कोई परीक्षा ही दी। फिर भी पंडितजी को संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, गुजराती और पंजाबी का पूर्ण ज्ञान है और अरबी, फारसी, मराठी का भी साधारण ज्ञान रखते हैं। आप सन् १९०७ ई० से लेकर सन् १९१६ ई० तक डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में धार्मिक शिक्षक का कार्य करते रहे। शिक्षक के कार्य और कालेज की सेवाओं से मुक्त हो आप काशी आए और पाँच हजार डोमों में जो क्रिश्चियन हो गए थे, सुधार का कार्य करने लगे और उन्हें पुनः हिन्दू बनाया। आप कट्टर आर्य-समाजी रहे हैं और सदैव धर्म का उपदेश देते रहे है। मिश्रजी ने देश-विदेश सभी स्थानों का बहुत अधिक भ्रमण किया है और सभी स्थानों की जनता को अपने उपदेशों से प्रभावित किया है। आज-कल आप भारतीय राष्ट्र-मण्डल, बम्बई के अध्यक्ष-पद पर सुशोभित हैं। पडितजी हिन्दी के प्रेमी और हिन्दू-धर्म के भक्त हैं। आर्य-समाज के उपदेशक होने के साथ-साथ आप कट्टर देश-सेवक भी है। देश-सेवा के कार्य आपने पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय के साथ किए हैं। मेध नामक हरिजनों मे ये सदैव सुधार करते रहे है। आज भी आप भारतीय राष्ट्रमण्डल की सेना के साथ-साथ धार्मिक कार्यों में पूर्ण रूप से सहायता करते है।[1]

कृतियाँ—साहित्यिक क्षेत्र में मिश्रजी ने अभी तक 'हमारी जापान-यात्रा' (१९३१), मेरी अबीसीनिया-यात्रा (१९३५) और ईराक की यात्रा (१९४०), नामक यात्रा-ग्रन्थ प्रकाशित किए है।[2] अन्य-स्थानों के यात्रा-विवरण ये प्रकाशित नहीं करा सके हैं।

हमारी जापान-यात्रा—पंडित कन्हैयालाल मिश्र की यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् १९३१ ई० में गोला दीनानाथ, वाराणसी से प्रकाशित हुई थी। १४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में मिश्रजी ने जापान की राजनीति, धर्मनीति एवं समाजनीति पर प्रकाश डालते हुए देशभक्ति, राजभक्ति एवं पारस्परिक प्रीति का चित्र अंकित किया है। इसके अतिरिक्त इसमें सुमात्रा, जावा, बाली, हांगकांग, अमोई, क्लांगशी, शंघाई और जापान के प्राचीन तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक समाचार और उक्त स्थानों में हिन्दू सभ्यता के उन चिह्नों पर जो अब तक मिलते हैं, पूर्णरूप से प्रकाश डाला है। इस यात्रा-वर्णन में जापान के सभी नगरों का सचित्र विवरण वर्णित किया गया है और साथ ही जापान का इतिहास, भूगोल भी दे दिया है। इस यात्रा-वर्णन की बहुत-सी पंक्तियाँ शिक्षाप्रद आदर्श-वाक्यों की भाँति व्यवहृत होने के योग्य हैं।

---

१. लेखक के नाम आए पं० कन्हैयालाल मिश्र के अनेकों व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. लेखक को ये सभी पुस्तकें सुश्री सुधा मिश्र (बाँदा) की कृपा से प्राप्त हो सकी हैं

मेरी अबीसीनियाँ-यात्रा—यह ७२ पृष्ठों की पुस्तक है, जो आर्य-विद्या-सभा काशी से सन् १६३५ ई० में प्रकाशित हुई थी। मिश्रजी ने इस पुस्तक में अन, फ्रेंच, शुमाली कोस्ट, ब्रिटिश शुमाली लैंड और अबीसीनिया की विस्तृत यात्रा का विवरण दिया है। यहाँ के ऐतिहासिक समाचारों और स्थानों पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। फ्रेंच शुमाली कोस्ट का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"*सध्या समय नगर के लोग इन वाटिकाओं में घूम-फिरकर* बबूलों के फूलों की सुगन्धि लेते और उन फूलों की सुन्दरता देखकर आह्लादित होते हैं।[1]

ईराक की यात्रा—यह २५४ पृष्ठों की पुस्तक है जो श्रीमती सुशीलादेवी मिश्र द्वारा अर्दली बाजार, बाँदा से सन् १६४० ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें ईराक की यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया गया है। विशेष रूप से पसनी बन्दर (बिलोचिस्तान), गवादर बन्दर, मसकत बन्दर, मथुरानगर, भूसना, सुरपुर या सूर, बेहरिन द्वीप, दबई बन्दर, बसरा बन्दर, बगदादनगर, करकुकनगर, मौसलनगर आदि स्थानों अर्थात् अरब और ईराक की यात्रा के सभी स्थानों पर पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया है। अदारी-स्त्रोत का वर्णन करते हुए मिश्रजी ने लिखा है—

"इस स्त्रोत को देख हम लोग आगे मोटर में बैठकर चल पड़े। मार्ग के दोनों ओर स्वाभाविक स्त्रोत की नहर बह रही थी और दोनों ओर खजूरों के वृक्ष वायु के साथ मिलन करते दिखाई पड़ते थे।"[2]

श्री शिवनन्दन सहाय

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८२ ई० में जिला मुजफ्फरपुर के धरहरवा नामक ग्राम में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा आपको उर्दू और फारसी में मिली। १२ वर्ष की आयु से ये दरभंगा आ गए और वहीं से हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् इनका विवाह डिप्टी-कलेक्टर श्री रामेश्वरप्रसादजी की सुपुत्री के साथ हो गया। फिर इन्होंने जी० बी० बी० कालेज (जो तब भूमिराय ब्राह्मण कालेज के नाम से प्रसिद्ध था) में अध्ययन प्रारम्भ किया। कुछ ही दिनों बाद ये चेचक से पीड़ित हुए और हजारीबाग के डबलिन विश्व-विद्यालय मिशन कालेज (जो अब सेण्ट कोलम्बस कालेज के नाम से प्रसिद्ध है) में पढ़ने के लिए भेज गए। इस विश्वविद्यालय से सहायजी ने बाइबिल की कई परीक्षाएँ अनेक पुरस्कारों-सहित उत्तीर्ण कीं। इण्टरमीडिएट भी हजारीबाग विश्वविद्यालय से पास किया। इसके पश्चात् टी० एन० जे० कालेज, भागलपुर से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १६०६-१० ई० के अकाली-युग में सरकार की ओर से आप सहायक अधीक्षक

---

१. मेरी अबीसीनिया-यात्रा—पं० कन्हैयालाल मिश्र, पृ० १७

२. ईराक की यात्रा—पं० कन्हैयालाल मिश्र, पृ० १५६

नियुक्त हुए। इसके बाद दरभंगा में जिला-जज के कार्यालय में हैडक्लर्क का स्थान मिला। इस नौकरी के बाद इनकम-टैक्स विभाग की ओर से रांची, चम्पारन और मुजफ्फरपुर गए। फिर ये कोर्ट-आफ-वार्ड के मैनेजर नियुक्त हुए। मैनेजरी छोड़कर आप असिसटेंट सेटिलमेण्ट आफिसर और फिर डिप्टी-कलेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। आपने सन् १६२०, २२, ३६, ४२ और ४४ में भारत के अनेक पर्वतीय स्थानों का पैदल भ्रमण किया। आप स्वभाव से भ्रमणशील हैं। पर्वतीय स्थानों के अतिरिक्त बर्मा, लंका, तिब्बत, अफगानिस्तान आदि का भी आपने पैदल भ्रमण किया है। इन स्थानों के अतिरिक्त नन्दन बन, कौरव बन, आदि पुण्य क्षेत्रों का भी धार्मिक दृष्टिकोण से भ्रमण किया है। आज-कल आप अपने ग्राम धरहरवा में ही रहते हैं।[1]

शिवनन्दन सहायजी को हिन्दी से विशेष प्रेम है। आप बहुत ही धार्मिक व्यक्ति हैं, इसका प्रमाण यही है कि आपने अनेक धार्मिक स्थानों का भ्रमण पैदल ही किया है और आज भी वर्ष में ६-७ माह धार्मिक स्थानों पर ही निवास करते हैं।

कृतियाँ **कैलाश-दर्शन**—२०८ पृष्ठों की इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १६४० ई० में लहेरियासराय, पटना से प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में सहायजी ने अपनी कैलाश-यात्रा का विस्तृत विवरण दिया है। रास्ते के मार्गों उन पर पड़नेवाली कठिनाइयों आदि का भी विवरण दे दिया गया है। अन्तिम पृष्ठों में कैलाश के धार्मिक महत्त्व पर भी लिखा गया है।

श्री शिवप्रसाद गुप्त

जीवनी—स्वर्गीय श्री शिवप्रसादजी गुप्त प्रतिष्ठित, कुलभूषण, दानवीर, अत्युदार स्वभाव, देशभक्त, लोकप्रिय सज्जन थे। वाराणसी की सीमा में पैर रखते ही उनके द्वारा संस्थापित और पोषित सुप्रसिद्ध संस्था काशी विद्यापीठ का नाम याद आ जाता है। इनका जन्म सन् १८८३ ई० के आषाढ़ मास की कृष्णाष्टमी बुधवार को काशी में हुआ था। इनके जन्म से पूर्व इनके माता-पिता की कई सन्तानें गत हो चुकी थीं। अपने कई पुत्र-पुत्रियों की अकाल-मृत्यु के कारण इनकी माताजी घर छोड़कर स्थानीय चौकाघाट पर राजा शिवलाल दुबेजी के बगीचे में वहाँ के प्रबन्धक की फूस की कुटिया में जा बसी थीं। इस सम्बन्ध में गुप्तजी ने स्वयं ही लिखा है : "मुझे जिलाने तथा स्वस्थ रखने के लिए मेरे माता-पिता ने नाना प्रकार के कष्ट उठाए व बन-बन की खाक छान डाली, जब मैं प्रायः तीन वर्ष का हुआ तब मेरी माताजी मुझे लेकर फैजाबाद चली गईं जहाँ मेरे पिताजी रहते थे। वहाँ भी वे एक जगह नहीं रह पाईं। पहले शायद हम लोग अयोध्याजी के मन्दिर में रहते थे। फिर हम लोग फैजाबाद के रेलघर के पास मुदहा नामक गाँव में रहने लगे।[2] उस समय

१. लेखक के नाम आए श्री शिवनन्दनसहायजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. देखिए : 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में दी हुई लेखक की संक्षिप्त जीवनी

की प्रचलित प्रथा के अनुसार इन्हें भी फारसी पढ़ना पड़ा था। लड़कपन में ये नटखट और शरीर थे। इनके पूज्य पिता प्रायः रुग्ण रहा करते थे। सन् १८६१ ई० के चैत्र मास में उनकी सांसारिक लीला समाप्त हो गई। उस समय शिवप्रसादजी केवल आठ वर्ष के थे। इतनी कम अवस्था में सिर पर से पूज्यपाद पिताजी का साया उठ जाने से गुप्तजी पिता के वात्सल्य-स्नेह तथा शासन के अनुभव से भी वंचित रह गए। उनकी स्मृति केवल मातृ-स्नेह से ही परिपूर्ण रह सकी। काशी में इनके बड़े चाचा मोतीचन्द जी० सी० आई० ई० थे, जो अवस्था में इनसे केवल सात वर्ष बड़े थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इनका जीवन एक प्रकार की स्वच्छन्दता से बीतने लगा। बचपन से ही इन्हें रामायण, शुकसागर व शिवपुराण की कथाओं को सुनने का शौक था। हिन्दी से उन्हें अनन्य प्रेम था, इसके विषय में उन्होंने स्वयं लिखा भी है : "अभी तक हमें नागरी अक्षरों का परिचय न था। महाजनी अक्षरों के सहारे कुछ टोय-टायकर दानलीला, हनुमान चालीसा आदि पढ़ लेते थे। १२-१३ वर्ष की अवस्था में मैंने 'वीरेन्द्रवीर' या 'कटोरा भर खून' पढ़ डाली थी। इसी की बदौलत मुझे हिन्दी पढ़ना आ गया।"[1] आजमगढ से गुप्तजी को अंग्रेजी की शिक्षा मिली। जयनारायण स्कूल से इन्होंने ऐण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। काशी से प्रयाग पढ़ने चले गए और वहाँ एफ० ए० पास कर बी० ए० में भरती भी हुए, पर कुछ विशेष कारणोंवश इन्हें सन् १६१० ई० में पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

आपने काशी के अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब की भी सेवा की, यहीं पर बहस-मुबाहिसों द्वारा भाषण करने की रीति व ढंग सीखा और अभ्यास किया। सन् १६०४-५ ई० से ही ये राजनीतिक आन्दोलनों में दिलचस्पी लेने लगे और १६०४ ई० की मुम्बईवाली कांग्रेस में प्रतिनिधि बन गए (वहाँ से वापस आने पर इन पर पचनद-केशरी लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल के राजनीतिक मत का प्रभाव पड़ा और वह दिन-दिन दृढ़ होता गया। इसके बाद इन्होंने अपनी शक्ति के अनुसार पूज्यवर मालवीयजी की सेवा का विचार करके उनके साथ कार्य करना आरम्भ किया। मालवीयजी के साथ गुप्तजी ने बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश, पंजाब व राजपूताना का भ्रमण किया। सन् १६१३ ई० में भाद्र कृष्ण ६ दधिकान्दव के दिन उनकी पूजनीय माता का देहान्त हो गया। विदेश-भ्रमण की उनकी प्रबल इच्छा बहुत पहले से ही थी, पर माताजी के जीवन-काल में वे इतना साहस न कर सके। ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। श्री श्रीप्रकाशजी ने इनके विषय में ठीक ही कहा है : "श्री शिवप्रसादजी गुप्त को बाल्यावस्था से ही देश की स्वतन्त्रता की खोज थी। उनके देश में अंग्रेजों का आधिपत्य और समाज में अंग्रेजी भाषा के प्रचार से जैसे मार्मिक कष्ट होता था और वे अपनी शक्ति-भर और अपनी बुद्धि-भर अपने सब साधन ऐसे कार्य में लगाने के लिए उपस्थित थे जिससे देश का राजनीतिक बन्धन

---

१. देखिए—'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में दी हुई लेखक की संक्षिप्त जीवनी

टूटे, देश का सांस्कृतिक उत्थान हो। अंग्रेजों का देश से बाहर जाना, अंग्रेजी भाषा में लिखना-पढ़ना-बोलना बन्द होना, वे अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए अनिवार्य समझते थे।"[१] गुप्तजी का हृदय विशाल था। पं० विश्वनाथ शर्मा के शब्दों में, गुप्तजी का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता दिखाई देता है। वे लिखते हैं: "गुप्तजी की दानशीलता की छाप काशी ही नहीं, सारे भारत की संस्थाओं पर रही है। वे सदा मुक्तहस्त होकर संस्थाओं तथा व्यक्तियों की सहायता किया करते थे। यदि यह कहा जाए कि 'दाहिना हाथ किसको देता है बायें हाथ को नहीं मालूम' तो यह उन्हीं पर घटित होता है। भारत माता का विशाल मन्दिर जिसकी एक-एक ईट उनके अपने रुपये से निर्मित है, इसका एक नमूना है।"[२] शिवप्रसादजी स्पष्टवादी और स्वतन्त्र विचार रखनेवाले व्यक्ति थे। इनकी इस विशेषता का वर्णन करते हुए शर्माजी ने लिखा है: "अखिल भारतीय कांग्रेस कार्य-समिति का सदस्य और कोषाध्यक्ष होते हुए भी उन्होंने महात्मा गान्धी से स्पष्ट कह दिया था, "मैं अहिंसा को नीति मानता हूँ, हृदय से तो मेरा हिंसा ही में विश्वास है। जो लोग आपके सामने मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक होने का दावा करते हैं वे पाखण्ड करते हैं।" ऐसा था उनका विचार-स्वातन्त्र्य और स्पष्टवादिता।[३]

कृतियाँ—गुप्तजी ने यात्रा-साहित्य पर केवल एक पुस्तक 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' नाम से लिखी है। साढे चारसौ पृष्ठों की यह पुस्तक ज्ञानमण्डल प्रकाशन, काशी से सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हुई थी। शिवप्रसादजी की यह विदेश-यात्रा काशी से अप्रैल सन् १९१४ ई० को आरम्भ हुई थी। उसके इक्कीस महीने यात्रा करके गुप्तजी स्वदेश लौटे। यह पुस्तक चार खण्डों मे विभक्त है। प्रथम खण्ड में मिस्र के, दूसरे मे अमेरिका के, तीसरे में जापान के और चौथे में पर्य्यटन का वर्णन दिया गया है। इस यात्रा में गुप्तजी के इक्कीस महीने किस प्रकार व्यतीत हुए, इसका वर्णन उन्होने पुस्तक में स्वयं ही दे दिया है। आप लिखते है: "जहाज व रेल के सफर को छोड़कर पन्द्रह दिन मिस्र मे, ६ मास इंगलिस्तान व आयरलैण्ड में, ६ मास अमेरिका में, ढाई मास जापान मे, दो मास कोरिया व चीन में, व तीन मास सिंगापुर की जेल में।"[४]

आपका विचार यूरोप के अन्य देशों में घूमने का भी था, परन्तु यूरोप का पिछला घोर युद्ध उसी बीच में छिड़ गया जब आप इंगलिस्तान में ही थे। इस कारण

१. देखिए: 'काशी विद्यापीठ रजत जयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ'—श्री श्रीप्रकाश, पृ० १९२, संवत् २००३

२. देखिए: 'आज' साप्ताहिक विशेषांक में पं० विश्वनाथ शर्मा का लेख—१७ फरवरी, १९५७, पृ० १९, कालम १

३. देखिए: 'आज' साप्ताहिक विशेषांक में पं० विश्वनाथ शर्मा का लेख—१७ फरवरी, १९५७, पृ० १९, कालम ३

४. 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा'—में स्वयं गुप्तजी द्वारा दी गई संक्षिप्त जीवनी से उद्धृत

आपका उन देशों में भ्रमण असम्भव हो गया। इस पुस्तक के लिखे जाने का कारण भी गुप्तजी ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में दे दिया है। उन्होंने लिखा है : "अपनी पत्नी के दुःख को कम करने के लिए मैंने उनसे वादा किया था कि मैं तुम्हें रोज-रोज का समाचार लिखा करूँगा, पर डाक तो रोज आती ही नहीं, इसलिए रोज पत्र भेजना असम्भव था। मैंने यह देखकर स्थिर किया कि रोज का वृत्तान्त सप्ताह में एक बार जब डाक आती है, घर भेजा करूँगा। यही इस पुस्तक के लिखे जाने का आदि कारण है।"[1] इस पुस्तक में गुप्तजी ने अपनी यात्रा का पूर्ण विवरण विस्तृत रूप से विभिन्न चित्रों के साथ दिया है। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है। इनका यह यात्रा-विवरण हिन्दी यात्रा-साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय योग है। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में बोस्टन नगर में जहाँ इंग्लैण्ड के आधिपत्य से छुटकारा पाने के लिए पहले-पहल स्वाधीनता की लहर उठी थी, इस स्थल पर पहुँचकर गुप्तजी के हृदय में जो विचारधारा उठी उसकी बानगी का एक उद्धरण देखिए :—

"गुलामी के पंजे में पड़े हुए देशों में स्वतन्त्रता की लड़ाई जब प्रारम्भ होती है तब तो वह प्रथम-प्रथम थोड़े ही मनुष्यों के द्वारा हुआ करती है। किन्तु यदि स्वतन्त्रता की विजय हुई तो यही छोटा दल देशभक्तों के नाम से इतिहास के पृष्ठों पर अंकित होता है और आनेवाली जातियाँ इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, इनका अनुसरण करती हैं और ये युवकों के हृदय-मन्दिर में स्थान पाते और पूजे जाते हैं। यदि गुलामी का जुआ हटाने की चेष्टा करनेवाले वीरों की हार हुई तो वे ही बागी पुकारे जाते हैं और भविष्य जाति जालिमों के डर के मारे उनके नाम से डरती है। अपने को प्रतिष्ठित समझनेवाले लोग इन्हीं देशभक्तों को दुष्ट, दुरात्मा, पापी कहकर पुकारते हैं और उनसे घृणा करते हैं। हाँ! काल की विचित्र गति है।"[2]

श्री कृष्णवंश सिंह बाघेल

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८५ ई० में रीवाँ के प्रसिद्ध बाघेल वंश में हुआ था। आपके पूज्य पिता का नाम लाल हरिवंश बहादुरसिंह और माता का नाम श्रीमती गुलाबकुमारी देवी था। आपको संस्कृत आदि की प्रारम्भिक शिक्षा घर ही पर पंडित रामेश्वरप्रसाद पाण्डेय द्वारा दी गई थी। रीवाँ के प्रसिद्ध विद्वान् जगन्नाथ शास्त्री से इन्होंने साहित्य का अध्ययन किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष पं० बालकृष्ण झा एवं काशी के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् गोस्वामी दामोदर शास्त्रीजी से इन्होंने संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की थी। वैदिक साहित्य एवं दर्शन का इन्होंने अपने-आप ही अध्ययन किया है। आपने कैलाश,

---

१. 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में स्वयं गुप्तजी द्वारा दीगई संक्षिप्त जीवनी से उद्धृत

२. 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा'—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ६३

काश्मीर, गंगोत्री-यमुनोत्री, बदरी-केदार और दक्षिण-भारत की सफल यात्राएँ की हैं। दर्शन, विज्ञान, साहित्य एवं देशाटन से आपको विशेष प्रेम रहा है। इस समय ७३ वर्ष की आयु होने पर भी सदा की भाँति आप प्रातः पर्वतीय घाटियों में २-३ मील का भ्रमण अवश्य करते हैं। आजकल आप रीवाँ में ही रहते हैं।[1] आप हिन्दी-प्रेमी हैं। पुस्तकों से आपको अत्यधिक प्रेम है। पूर्व, पश्चिम, भारत एव नैपाल-यात्रा की आपकी विशेष इच्छा है। साहित्य, धर्म, दर्शन के आप विशेष व्याख्याता हैं, अध्यापन-कार्य में विशेष रुचि है और भारतीयता के आप प्रबल समर्थकों में से हैं। अध्ययन और अनुभव-लेखन ही अब आपका कार्य है। आप युवावस्था से ही अश्वारोहण, साइकिल चलाने एव आखेट-भ्रमण में विशेष दक्ष रहे हैं। अपनी इसी दक्षता का परिचय आपने दो व्याघ्रों को मारकर दिया था। निरामिष भोजी होने के साथ-साथ पान, तम्बाकू और सिगरेट तक से आपको विशेष घृणा है।[2]

कृतियाँ—हिन्दी-यात्रा-साहित्य सम्बन्धी आपकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं[3] :

१. काश्मीर और सीमाप्रान्त
२. तिब्बत में २३ दिन
३. हिमालय के कुछ स्थान

काश्मीर और सीमाप्रान्त—बाघेलजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४४ ई० में भरतपुर, गोविन्दगढ़, रीवाँ (विन्ध्य-प्रदेश) से हुआ था। ११५ पृष्ठों की इस पुस्तक में बाघेलजी ने जम्बूनगर, अनन्तनाग, पहलगाँव, अमरनाथ, चन्दनवाड़ी, वायुजय-पंचतरणी की यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है। साथ ही काश्मीर के दुर्ग, रामबाग चश्माशाही, शालामार, हारवन, खीर भवानी, गन्धरबल, गुलमर्ग, बारामूला, कोहाला, रावलपिण्डी आदि का भी सक्षेप मे वर्णन किया है। पुस्तक वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है। प्रकृति के चित्रण बड़े सुन्दर बन सके है। देखिए एक उद्धरण :—

"वसुन्धरादेवी चारों ओर लहलहाते हुए धान के खेतों की हरी ओढ़नी-सी ओढ़ रही थी, जिसके कोर (किनारे) का काम अरुण वर्ण की पकी हुई धान की बालियाँ कर रही थी। इधर लम्बोदरी नदी की फैली हुई धारा मन को प्रसन्न कर रहा थी। जहाँ भर दृष्टि जाती थी, सब भूमि धान से हरी और बीच-बीच में सूर्य-रश्मियों से चमकता हुआ स्वच्छ चाँदी-सा पानी। माल-भूमि के गाँवो का दृश्य भी चित्ताकर्षक था।"[4]

---

१. लेखक के नाम आए श्री कृष्णवंशसिंह बाघेलजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर
२. वही
३. लेखक को ये सभी पुस्तकें बाघेलजी की व्यक्तिगत कृपा से प्राप्त हो सकी हैं
४. 'काश्मीर और सीमाप्रान्त'—कृष्णवंश सिंह बाघेल, पृ० ३७

तिब्बत में २३ दिन—बाघेलजी की इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९५३ ई० में भरतपुर, रीवाँ से हुआ था। १२७ पृष्ठों की इस पुस्तक में बाघेलजी ने अल्मोड़ा से लेकर तकलाकोट, खोंचरनाथ, कैलाश-पर्वत, मानसर, गुसुल-गुम्फा, दर्जिल, तीर्थपुरी एवं तिब्बत के अन्य प्राकृतिक मार्गों की पद-यात्रा का विस्तृत विवरण दिया है। यह विवरण डायरी-शैली में लिखा गया है। इस यात्रा-वर्णन में तिब्बत के स्त्री-पुरुषों की वेश-भूषा, भोजन-व्यवस्था और उनकी तपस्या पर भी प्रकाश डाला गया है। कैलाश के सुन्दर दृश्य का वर्णन करते हुए बाघेलजी ने लिखा है :—

"भगवान भुवन-भास्कर अपनी सुनहली किरणें बिखेर रहे थे, जिससे मानसर की प्रत्येक तरंगें सुनहरी हो रही थीं। इन लम्बी और शान्त तरंगों के बीच कैलाश-शिखर अपने रूपों से प्रतिबिम्बित हो रहा था और अपने रजत आवरण को उतारकर सुवर्णमय वस्त्र धारण कर रहा था।"[1]

हिमालय के कुछ स्थान—६५ पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन बाघेलजी द्वारा भरतपुर, रीवाँ से १९५४ ई० में हुआ था। इस पुस्तक में बाघेलजी ने हिमालय के कुछ पर्वतीय स्थान शिमला, गढ़वाल, अल्मोड़ा, केदारनाथ, बदरीपुरी, आदि की पद-यात्रा का सुन्दर वर्णन डायरी-शैली में दिया है। इस यात्रा-विवरण में प्रकृति की विचित्रता, दुर्गम और भयंकर मार्गों की कठिनाइयों एवं अद्भुत दृश्यावलियों का वर्णन भी किया गया है। एक रम्य दृश्य का वर्णन करते हुए बाघेलजी ने लिखा है :—

"सामने चमचमाता हुआ हमारे आगे ही से शनैः-शनैः ऊपर को उठता हुआ तुषार, दायें और बायें उत्तुंग गगन-भेदी शिखर की चोटी से गंगा का प्रपात जो ऊपर खुला और नीचे हिम से ढका था। इससे भी बढ़कर पास ही सरोवर की सुषमा ? इस सर का दृश्य अत्यन्त दिव्य था—प्रकृति की यह झाँकी सर्वत्र सुलभ नहीं।"[2]

श्री सन्तराम

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८६ ई० में फाल्गुन कृष्ण ४ को पंजाब-प्रान्त के होशियारपुर नगर से लगभग ढाई मील की दूरी पर पुरानी बसी नामक ग्राममें हुआ था। आपके पिता का नाम श्री रामदास तथा माता का श्रीमती मालिनीदेवी था। आप सात भाई और एक बहन थे। भाइयों में आपका नम्बर चौथा है। आपके पिता यारकन्द और लद्दाख के व्यापारी थे। पुरानी बसी में कोई स्कूल न होने के कारण आप गाँव से एक मील की दूरी पर बजवाड़ा के स्कूल में पढ़ने जाया करते थे। पंजाब के

---

१. तिब्बत में तेईस दिन—पृ० ७०

२. हिमालय के कुछ स्थान—कृष्णवंश सिंह बाघेल 'पृ० ५७

किसी भी सरकारी स्कूल में हिन्दी-शिक्षा का प्रबन्ध न होने के कारण आपको आरम्भ से ही उर्दू पढ़नी पड़ी। पाँचवीं कक्षा में आप प्रथम आए।[1] आपको छात्रवृत्ति भी मिली। जालन्धर से मैट्रिक पास करके आप गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर में भरती हुए और वहाँ से सन् १६०६ ई० में बी० ए० पास किया। बी० ए० में आपका एक विषय फारसी भी था, जिसमें आप प्रथम आए और कालेज से पारितोषिक प्राप्त किया। कालेज के तीसरे वर्ष तक आपको नागरी अक्षरों तक का ज्ञान न था। संस्कृत से एक प्रकार की घृणा तथा फारसी से प्रगाढ़ प्रेम था। आपके विचार से सबसे मधुर भाषा फारसी, सबसे सुन्दर देश ईरान तथा सबसे बड़े कवि सादी, उमर खय्याम और फिरदौसी आदि थे। आप स्वप्न देखा करते थे कि कब ईरान जाकर दजला और फरात के तट पर बैठकर खजूर खाएँगे और ब्याह करके वहीं बस जाएँगे। किन्तु संयोगवश रुचि ने ऐसा पलटा खाया कि संस्कृत भाषा की मधुरता और भारत की सुन्दरता के आगे फारसी तथा ईरान हवा हो गए।[2]

उस समय आर्यसमाज का प्रमुख पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू में निकला करता था। आप उस पत्र को बड़े चाव से पढ़ा करते थे। कुछ दिनों बाद संपादक ने यह घोषणा कर दी कि अमुक तिथि से यह पत्र हिन्दी में निकलेगा, अतः जो पाठक हिन्दी न जानते हों, वे नागरी अक्षर सीख लें। उसी पत्र को पढ़ने के लिए आपने नागरी अक्षर सीखना आरम्भ कर दिया। कठिनाई तो पड़ी, किन्तु वह कठिनाई अनुराग को दबा न सकी। हिन्दी में निकलनेवाले 'सद्धर्म-प्रचारक' को आप धीरे-धीरे पढ़ने लगे। अंग्रेजी से टूटी-फूटी हिन्दी में अनुवाद भी करने लगे। पत्र-व्यवहार भी हिन्दी में होने लगा। आर्य-भाषा हिन्दी का सीखना प्रत्येक आर्य-हिन्दू का कर्त्तव्य है, ऋषि दयानन्द के इस उपदेश का आप पर बहुत प्रभाव पड़ा और उसी प्रभाव से आपकी रुचि उर्दू से हटकर हिन्दी की ओर हुई।[3] बी० ए० पास करने के बाद आपने अमृतसर जिले के चमाल डी० बी० स्कूल को दो वर्ष तक हेडमास्टरी की। फिर डेढ़ वर्ष तक बजवाड़ा स्कूल में अध्यापकी की। उसके अनन्तर सतलज फारेस्ट कम्पनी के गोदाम-विभाग में नौकरी करके शिमला के आगे रामपुर शहर में चले गए। गोदाम का कार्य करते हुए आपने कोष की सहायता से कई हिन्दी-ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन किया। आपने जालंधर से निकलनेवाली पत्रिका 'पांचाल-पण्डिता' और लाहौर से निकलनेवाले 'चाँद' तथा 'सद्धर्म-प्रचारक' में पहले-पहल लेख लिखना आरम्भ किया। कुछ दिन पीछे आप द्विवेदीजी के पास 'सरस्वती' में छपने के लिए लेख भेजने लगे। द्विवेदीजी इनके लेखों को काट-छाँटकर तथा सुधार करके छाप दिया करते थे। आपने लिखने की शिक्षा द्विवेदीजी से ही पाई। वे पत्रों द्वारा आपको समझाते रहते

---

१. हिन्दी के निर्माता (भाग २)—डा० श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५८
३. वही, पृ० ५८-५९

थे। सन् १९१४ में आपने 'उषा' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली, जो डेढ़ वर्ष चलकर बन्द हो गई। इसके अनन्तर आपने बलरामपुर के आर्य स्कूल में हेडमास्टरी कर ली। उसे भी छोड़कर आपने एक मित्र के साथ लाहौर जिले के पट्टी नामक स्थान में कृषि-आश्रम खोला। वहाँ पर प्रायः सभी देशों से कृषि-सम्बन्धी ग्रन्थ मँगाकर आपने पढ़े। वहाँ दो वर्ष रहने के पश्चात् ये अपने ग्राम पुरानी बसी में आकर एक कृषक की भाँति बाटिका में सपरिवार रहने लगे। डेढ़ वर्ष बाद आप कन्या महाविद्यालय की मुख पत्रिका 'भारती' का संपादन करने जालंधर चले गए। केवल डेढ़ वर्ष तक चलकर 'भारती' बन्द हो गई।[1]

सन् १९२४ ई० में कालेज से आपका सम्बन्ध टूट गया। इसी वर्ष आपकी धर्मपत्नी श्रीमती गगादेवी का देहान्त हो गया। तब से आपने किसीकी नौकरी न करके स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का निश्चय कर लिया है। उस समय से पुस्तकों की रायल्टी, लेखों के पुरस्कार तथा पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की कापियाँ जाँचने के पारिश्रमिक से आपकी जीविका चल रही है।[2] अब तक आपने ४०-५० पुस्तकें लिखी हैं और सरस्वती, माधुरी, बाल-सखा, सुधा, विश्वमित्र, कर्मयोगी, चाँद आदि प्रमुख पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर सैकड़ों लेख लिखे हैं। पहले आप नाम के आगे 'गोहिल' लिखा करते थे, बाद में उसे त्याग दिया। जाति-पाँति तोड़क-मण्डल आपने स्थापित किया। मण्डल से 'क्रान्ति' उर्दू में और 'युगान्तर' पत्र हिन्दी मे आपने अपने सम्पादकत्व मे निकाला। स्त्री का देहान्त हो जाने पर आपने निश्चय किया था कि पुनर्विवाह नहीं करेंगे, किन्तु सोलह वर्ष के एकमात्र पुत्र वेदव्रत की मृत्यु से आपको महान् कष्ट हुआ और अन्त में मित्रो के आग्रह से १४ दिसम्बर सन् १९२९ ई० को अहमदाबाद के निकट बरोडानगर मे एक महाराष्ट्र-महिला श्रीमती सुन्दरबाई प्रधान से आपने विवाह कर लिया। उनकी सहायता से आपको मराठी तथा गुजराती का भी थोडा-बहुत ज्ञान हो गया। दोनों भाषाओं की कुछ पुस्तकों का अनुवाद भी आपने हिन्दी मे किया है।[3]

सन्तरामजी हिन्दी के अनन्य प्रेमी हैं। हिन्दी की इन्होंने बहुत सेवा की है और आज भी इसीमें लगे हुए है। हिन्दी की इसी सेवा के कारण आपको 'पद्म-भूषण' की उपाधि भी मिल चुकी है। आपका व्यक्तित्व आपके लेखों मे निखर उठता है। 'बालक' ऐसी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक इस बात का एक उदाहरण है जिस पर मेरठ के एक ट्रस्ट ने उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक समझकर एक 'स्वर्ण-पदक' प्रदान किया था। 'अलबरूनी का भारत' में भी आपका व्यक्तित्व

---

१. हिन्दी के निर्माता—(भाग २)—डा० श्यामसुन्दरदास—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ५९

२. वही, पृ० ६०

३. वही, पृ० ६०-६१।

झलक उठा है जिसके ऊपर आपको पंजाब सरकार की ओर से १२,०० रु० का पारितोषिक भी मिल चुका है।

हिन्दी यात्रा-साहित्य में इनकी एक पुस्तक 'स्वदेश विदेश यात्रा' नाम से है।

कृतियाँ—स्वदेश-विदेश-यात्रा—१७२ पृष्ठों की पुस्तक है, जो इण्डियन प्रेस, प्रयाग से सन् १९४० ई० में प्रकाशित हुई थी। सन्तरामजी ने इस पुस्तक में तीन यात्राएँ संगृहीत की हैं। इसमें काश्मीर और कुल्लू की यात्रा का वृत्तान्त तो सन्तरामजी का लिखा हुआ है और 'आस्ट्रेलिया-यात्रा' श्रीमती रामेश्वरी नेहरू का। इसमें आँखोंदेखी बातों का विवरण दिया गया है। इनकी यात्राओं का यह वर्णन बड़ा ही मनोरम है। इनकी दूसरी पुस्तक 'इत्सिंग की भारत-यात्रा' नाम से भी है। यह इनका अनुवादित ग्रन्थ है। ३४९ पृष्ठों का यह ग्रन्थ इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग से सन् १९२५ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ पर पंजाब सरकार की ओर से आपको ६०० रुपए का पुरस्कार भी मिला था। हिन्दी की सभी प्रमुख पत्रिकाओं में आपके यात्रा-सम्बन्धी अनेकों लेख निकले हैं। इस प्रकार सन्तरामजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य के प्रति की गई यह सेवा महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय है। कुल्लू यात्रा का एक उद्धरण देखिए—

"काँगड़ा उपत्यका के पहाड़ और घाटियाँ, नदियाँ और चट्टानें, हिमाच्छादित शैल-शिखर और बन-वैभव ये सब मिलकर यात्री के मन को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। यहाँ खेतियाँ केसरिया वस्त्र धारण किए पर्वतों की गोद में लहलहा रही हैं और अलबेली नदियाँ तथा मधुर कण्ठवाले पक्षी गान-नृत्य में लीन हो नवगत दर्शक को अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते हैं।[१]"

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

जीवनी—पण्डित जवाहरलाल नेहरू काश्मीरी ब्राह्मण हैं। आपका जन्म १४ नवम्बर, १८८९ ई० को प्रयाग में हुआ था।[२] अपने माता-पिता के आप इकलौते पुत्र हैं। आपके पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू को सारा भारतवर्ष ही नहीं, वरन् सारा विश्व जानता है। जिस समय पण्डित मोतीलालजी संयुक्त प्रान्त के प्रधान वकील थे, उनकी वकालत खूब चलती थी, महीने भर में कम-से-कम तीस-चालीस हज़ार रुपये की आमदनी थी, रुपया बरस रहा था और उनका निवास-स्थान 'आनन्द भवन' गवर्नर की कोठी को मात करता था। उन्हीं दिनों में पण्डित जवाहरलालजी ने जन्म लिया था। कहा जा सकता है कि वे फूलों में पैदा हुए और गंदेलों में पले।

१. स्वदेश-विदेश यात्रा—संतराम, पृ० ७२

२. राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू—पं० मातासेवक पाठक एवं पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा (पृ० २३, दिसम्बर १९४८)

अंग्रेजी में कहावत है कि योग्य पिता का पुत्र भी योग्य ही होता है (वर्दी सन ऑफ ए वर्दी फादर), इस उक्ति का पण्डित जवाहरलालजी ज्वलंत उदाहरण हैं।[1] पण्डित जी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। आगे की शिक्षा के लिए सन् १६०५ ई० में आप विलायत गए। वहाँ वे हैरो स्कूल[2] में पढ़ने लगे। यहाँ दो वर्ष पढ़ने के बाद सन् १६०७ ई० के अक्तूबर में उन्होंने कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में प्रवेश किया। तीन वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् सन् १६१० ई० में इन्होंने वहाँ से प्रकृति-विज्ञान में द्वितीय श्रेणी की ससम्मान डिग्री प्राप्त की। इसके बाद इनर टेम्पुल से सन् १६१२ ई० गरमी में बैरिस्टरी पास की और वर्ष के अन्त में भारत वापस आए।[3] आपका विद्यार्थी जीवन अधिकतर इंग्लैण्ड में ही बीता है। प्रारम्भ में आपने इलाहाबाद में (सन् १६१३-२०) आठ वर्ष तक बैरिस्टरी की। परन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था। शीघ्र ही सन् १६२० ई० में देश भर में महात्मा गांधी का जयकार गूँजने लगा और असहयोग-आन्दोलन की आँधी चल निकली। पण्डित नेहरू के देशभक्तिपूर्ण हृदय पर महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और कार्यक्रम का अपूर्व प्रभाव उत्पन्न हुआ। विलायती रंग में रँगे हुए पिता के पुत्र पं० जवाहरलालजी गांधीजी के पक्के शिष्य बन गए और चलती हुई बैरिस्टरी को लात मारकर त्याग दिया।

आपका विवाह फरवरी १६१६ ई० में लखनऊ के सुप्रसिद्ध वकील पण्डित जगतनारायणजी मुल्ला की कन्या श्रीमती कमला नेहरू के साथ हुआ था।[4] कमलाजी भी सच्ची देशसेविका थीं। वे अपने कर्मठ पति के राजनीतिक आन्दोलनों और कार्यों में अन्त तक सहयोग देती रहीं। सन् १६१७ ई० में होमरूल और १६१६ में किसान-आन्दोलन में नेहरूजी ने भाग लिया। इसी वर्ष प्रयाग से प्रकाशित होनेवाले राष्ट्रीय अंग्रेजी दैनिक 'इण्डिपेंडेण्ट' समाचार-पत्र के आप डाइरेक्टर भी चुने गए। आप १६२३ ई० में हिन्दुस्तानी सेवादल कान्फ्रेन्स, मद्रास के सभापति और दिसम्बर १६२७ ई० में रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स के सभापति और दिसम्बर १६२८ ई० में आल-इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सभापति बनाए गए थे। फरवरी १६२८ ई० में आप जिनेवा की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में होनेवाली साम्राज्य-विरोधिनी सभा में भारत कांग्रेस के प्रतिनिधि होकर गए थे। वहाँ से आप रूस में भी गए और बोल्शेविज़्म के अनुयायी होकर लौटे। जवाहरलालजी के वैवाहिक जीवन का अन्त २८ फरवरी, १६३६ ई० को हुआ जब कमलाजी ने स्विटजरलैण्ड के वाडेन वाइलर स्थान में शरीर छोड़ दिया।[5] वास्तव में यदि यह कहा जाय कि आपका शरीर तो

---

१. राष्ट्रपति जवाहर, प्रकाशक—गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, पृ० ११-१२, १६३० ई०
२. नोट—इस स्कूल में केवल धनवानों के बालक ही पढ़ते थे।
३. राष्ट्रपति जवाहर, पृ० १२-१३ के आधार पर
४. वही, पृ० १३-१४ के आधार पर
५. नेहरू-अभिनन्दन ग्रन्थ—आर्यावर्त प्रकाशन, पृ० २२०, कलकत्ता १६४६

ब्राह्मण का है, किन्तु मन क्षत्रिय का तो यह सत्य होगा। जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से आप भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री पद पर आसीन हैं और देश-सेवा में रत रहते हैं।

आप सच्चे देश-भक्त हैं। देश-भक्ति की अग्नि उनके हृदय में पहले से ही धकक रही थी। उसे जल उठने के लिए सिर्फ असहयोग-आन्दोलन ही यथेष्ट था। तभी से वे गांधीजी के पक्के शिष्य बनकर देश के एक प्रमुख नेता गिने जाने लगे थे। असहयोग-आन्दोलन सम्बन्धी पुत्र के विचारों ने पिता को भी बदल दिया। जवाहरलालजी के साथ पण्डित मोतीलाल भी असहयोग की ओर झुक गए। इसी देश-भक्ति के कारण १९२१ ई० के दिसम्बर में आपको ६ महीने के लिए पहली बार जेल जाना पड़ा। इसके बाद आपको कई बार जेल की यात्राएँ करनी पड़ीं। देश-भक्ति के परिणाम-स्वरूप ही पण्डितजी ने अपने आनन्द-भवन के सारे सांसारिक आनन्द छोड़कर—उस पर लात मारकर इधर-उधर लूक-धूप, आँधी-मेह और जाड़े-पाले में घूमते हुए राजनीतिक क्षेत्र की कठिनाइयों को झेला। उन्होंने इसके लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है। आपके जीवन का मूल-मन्त्र है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" आपका सिद्धान्त है :—

कर्म है अपना जीवन प्रान,
कर्म है मातृ-भूमि का मान।
कर्म में बसते हैं भगवान,
कर्म पर आओ हों बलिदान।

कृतियाँ—पण्डितजी की कई पुस्तकें हैं, पर यात्रा-साहित्य पर उनके केवल दो ग्रन्थ 'रूस की सैर' और 'आँखों-देखा रूस' ही प्रकाशित हैं। इन्होंने संसार के अनेक देशों की यात्राएँ की हैं परन्तु इसकी दोनों यात्राओं का वर्णन ही लिपि-बद्ध किया है। यह दोनों पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई हैं।

रूस की सैर—२०६ पृष्ठों का यह ग्रन्थ हिन्दुस्तान प्रेस से सन् १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में नेहरूजी ने अपनी यात्रा के साथ-साथ रूस की रमणीयता और मास्को के चमत्कार का विवरण पूर्णरूप से दिया है। यात्रा-विवरण के साथ ही अपने विचारों को भी व्यक्त किया गया है।

आँखोंदेखा रूस—१३५ पृष्ठों की यह पुस्तक नवयुग प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९५३ ई० में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में प्रकाशित (नेहरूजी के) इस पुस्तक में उनके द्वारा लिखित एवं हिन्दुस्तान के विभिन्न पत्रों में प्रकाशित यात्रा के लेखों का संग्रह है। इस संग्रह के बहुत-से लेख बहुधा मद्रास के पत्र 'हिन्दू' में निकले थे। इनमें से कुछ लेख रेलगाड़ियों में यात्रा करते हुए लिखे गए और कुछ वैसे। सच तो यह है कि सब-के-सब चलते-चलाते मेरी दूसरी प्रकार की सरगर्मियों के बहाव में

जिनमें मेरे समय का अधिक भाग व्यतीत हुआ, लिखे गए हैं।[1] इस ग्रन्थ में रूस की सभी चमत्कारी चीजों का आँखोंदेखा वर्णन लिखा गया है, विशेषकर मास्को की यात्रा का वर्णन बहुत विस्तृत है। मास्को की यात्रा में उन्होंने लिखा है—

"विदेशों के साथ क्रियात्मक और सांस्कृतिक सम्बन्धों की सभा ने १९२७ ई० के नवम्बर में रूस की स्वाधीनता की दसवीं वर्षगाँठ के उत्सव पर हमें मास्को में आमन्त्रित किया था। यह यात्रा नीरस, आनन्दशून्य और शुष्क थी।"[2]

श्री महेशप्रसाद मौलवी

जीवनी—मौलवी महेशप्रसादजी का जन्म १७ नवम्बर, १८९० ई० को इलाहाबाद जिले के फतेहपुर ग्राम मे हुआ था और मृत्यु २९ अगस्त, १९५१ ई० को रसूलाबाद (प्रयाग) में हुई, अर्थात् मृत्यु के समय वे लगभग ६१ वर्ष के थे। महेशप्रसादजी मुसाफिर विद्यालय, आगरा के मुख्य अध्यापक थे। इनके विषय में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो यहाँ तक लिखा है : "मुख्य अध्यापक क्या, वस्तुतः वे ही एकमात्र अध्यापक थे, जो अरबी पढ़ाने के साथ-साथ विद्यालय की सारी देखभाल करते थे। तरुणाई में भाई साहब को किसी समय शायरी का शौक भी हुआ था। उस वक्त उन्होंने अपना उपनाम 'साधु' रख लिया था। मैंने उनकी उर्दू की दो-एक कविताएँ ही छपी देखीं। लेकिन मालूम होता है यह जवानी की सनक-भर थी, जो जल्दी ही उतर गई। महेशप्रसादजी ने मैट्रिक पास किया था। साधनों के अभाव से आगे पढ़ने में कठिनाई थी। भाई साहब ओरियण्टल कालेज की मौलवी आलिम कक्षा में दाखिल हो गए। वे पहले हिन्दू थे, जिन्होंने मौलवी आलम कक्षा में नाम लिखाया था। वे पहले हिन्दू थे जिन्होंने अरबी की सर्वोच्च परीक्षा मौलवी फाजिल पंजाब विश्वविद्यालय से पास की। हिन्दू मौलवी फाजिल पाकर विश्वविद्यालय ने उन्हें तुरन्त अपना लिया, लेकिन उनकी जो कदर होनी चाहिए थी, वह आखिर तक नहीं हुई।"[3]

महेशप्रसादजी गांधी-युग के आरम्भ होने के पहले से ही स्वदेशी के भक्त थे और हाथ के कते या कर्घे से बुने मोटे-झोटे कपड़े पहनते थे। उनकी सादगी सदा अक्षुण्ण रही, लेकिन इस सादगी में दिखावे का नाम नहीं था। वे केवल हमारे भाषा के ही अध्यापक नहीं थे वरन् आदर्श के पथ-प्रदर्शक भी थे। उनकी मोटी चुटिया हमेशा खुली रहती थी, क्योंकि वे टोपी नहीं पहनते थे। इनके सम्बन्ध में राहुलजी ने तो यहाँ तक लिखा है : "अपने बारे में तो कह सकता हूँ कि मेरे जीवन को सबसे अधिक प्रेरणा जिस पुरुष से मिली, वह भाई महेशप्रसादजी थे। एक समय मैंने इस

---

१. आँखोंदेखा रूस—(भूमिका से) पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० ५

२. आँखोंदेखा रूस—पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० १५

३. विशेष विवरण के लिए देखिए, राहुल सांकृत्यायन-कृत 'अतीत से वर्तमान' ग्रन्थ, पृ० ७४-८१

कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए अपने 'कुरानसार' (इस्लाम धर्म की रूपरेखा) ग्रन्थ में मंगलाचरण के तौर पर दो अर्थोंवाला श्लोक रचा था। पीछे अनीश्वरवादी हो जाने पर ईश्वर की ध्वनि लानेवाले उस श्लोक को मैंने पुस्तक में नहीं रखा और न अब वह सारा श्लोक ही याद है। उसके कुछ अंश थे—

"...शुष्कं पर्णं तदिव संतत रवे पृथिव्यामरत,
प्रेणोत्थाय विदित विभवो—
...नौमितं श्री महेशं।"

सचमुच भाई साहब से मिलने से पहले मैं सूखे पत्ते की तरह निरुद्देश्य भटकता था। पीछे भी यद्यपि भटकना बन्द नहीं हुआ, किन्तु मेरे जीवन को सोद्देश्य बनाने का श्रेय मौलवी महेशप्रसाद को है।"[1] मौलवी साहब ने समय-समय पर अरबी और फारसी साहित्य के सम्बन्ध में सरस्वती में अनेक लेख लिखे हैं। आपको इन भाषाओं के साहित्य से इतना अधिक अनुराग था कि आपने अरब आदि देशों में जाकर तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। समुचित साधनों का अभाव होते हुए भी आप सन् १९२६ के मई महीने में ईरान गए और करीब दो महीने तक वहाँ का भ्रमण किया।

कृतियाँ—मौलवी महेशप्रसाद ने हिन्दी-यात्रा-साहित्य पर केवल दो पुस्तकें लिखी हैं। इन दो पुस्तकों में से 'मेरी ईरान-यात्रा' इनका मौलिक ग्रन्थ है और 'सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण' अनुवादित है।

मेरी ईरान-यात्रा—मौलवी-साहब की यह पुस्तक आलिम फाजिल बुकडिपो, बनारस से छपी थी। २६३ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने अपने ईरान-प्रवास का विस्तृत विवरण दिया है। मौलवी साहब करांची से जहाज द्वारा ईरान गए थे और करमान होते हुए स्थल मार्ग से क्वेटा होकर भारत लौटे थे। इस मार्ग का तथा मार्गगत भिन्न-भिन्न स्थानों का जो विशद विवरण आपने दिया है, वह रोचक तथा शिक्षाप्रद है। परन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो ईरान अपने से बहुत दूर तथा बहुत विचित्र जान पड़ता है वह इसके पढ़ने से अपने पास और अपना-सा जान पड़ने लगता है। पुस्तक बहुत ही मनोरंजक है।

सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण—यह मूल अरबी सुलेमान नामी एक मुसलमान सौदागर का यात्रा-विवरण है। महेशप्रसाद 'साधुजी' ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है। यह अनुवादित यात्रा-ग्रन्थ संवत् १९७८ में प्रथम वार नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व इस यात्रा-विवरण का अनुवाद हमारे देश की किसी भी भाषा में नहीं किया गया था। ऐतिहासिक यात्रा-विवरण की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। इसमें सुलेमान सौदागर की सारी यात्राओं का विवरण

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—राहुल सांकृत्यायन-कृत 'अतीत से वर्तमान' १९५५, पृ० ७४-८१

संगृहीत है। १२६ पृष्ठों में लिखा गया यह ग्रन्थ सबसे अधिक प्राचीन यात्रा-विवरण माना जाता है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

जीवनी—बौद्ध-साहित्य और दर्शन के विश्वविख्यात विद्वान् त्रिपिटकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का जन्म विक्रम संवत् १६५० की वैशाख कृष्ण अष्टमी को आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) जिले में हुआ था। आपने अपनी जीवनी के सम्बन्ध में स्वयं ही लिखा है : "मेरी कुलवन्ती अपने माँ-बाप की एकमात्र सन्तान थीं और वह भी नाना के १०-१२ वर्ष पल्टन की नौकरी से नाम कटाकर चले आने की के बाद की। ब्याह हो जाने पर भी माँ अक्सर अपने मायके पन्दहा ही रहती थीं, और वहीं मेरा जन्म (रविवार ६ अप्रैल, १८६३ ई०) हुआ।"[1] आपका बचपन का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। गाँव में आपने उर्दू के माध्यम से मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की और बाद में काशी में संस्कृत का अध्ययन किया। काशी से लौट आने के थोड़े ही दिनों बाद गृह-त्याग कर दिया और संस्कृत विद्या का सांगापांग अध्ययन किया। आपने तिब्बत, यूरोप और रूस आदि विभिन्न देशों की यात्राएँ की हैं।

राहुलजी आधुनिक साधुओं के ढोंग से ऊबकर आर्य-समाज में दीक्षित हुए थे। बाद में आपने एक आर्य-समाज विद्यालय में फारसी-साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया। उसके बाद आपने बौद्ध-संन्यासी होकर देश-विदेश में भ्रमण किया। आपके अपूर्व अनुसन्धानों से देश के इतिहास और हिन्दी-साहित्य को काफी लाभ हुआ है। अनेक धर्मों, आन्दोलनों आदि में सम्मिलित होकर आपने देश और हिन्दी की स्तुत्य सेवा की है। हिन्दी के लिए आप गणेश और व्यास दोनों के सम्मिलित प्रतिरूप हैं। आप अनेक भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित हैं। बौद्ध-साहित्य के आप विशेषज्ञ माने जाते है। बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने, सन् १६३८ ई० में अपने सोलहवें अधिवेशन (राँची) का अध्यक्ष चुनकर आपको सम्मानित किया। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन के अध्यक्ष भी आप सन् १६४७ ई० में हो चुके हैं।[2] राहुलजी का गद्य-साहित्य आलोचना, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, भाषा-विज्ञान, राजनीति, इतिहास, संस्कृति एवं यात्रा-साहित्य आदि अनेक विषयों को अपने में समेटने में समर्थ हो सका है। साहित्यिक व्यक्तित्व की इस विशालता के मूल में उनका विस्तृत जीवन-अनुभव गम्भीर अध्ययन एवं प्रखर बुद्धि कार्य करती रही है। निश्चय ही वह महाप्राण और महापण्डित हैं। राहुलजी के पाण्डित्य का पक्ष उनका विस्तृत अनुभव-ज्ञान है। वे एक सच्चे घुमक्कड़ हैं, उनके

---

१. मेरी जीवन यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १

२. बिहार का साहित्यिक प्रगति (द्वितीय खण्ड), पृ० ६५, बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का १६वाँ राँची अधिवेशन, अभिभाषण, १६३८

जीवन का अधिकांश घूमने में व्यतीत हुआ है। जीवन की अनेक यात्राओं से उन्होंने बहुत कुछ सीखा है; फलतः उनका स्वतन्त्र जीवन, दर्शन बन चुका है जो किसी भी मतवादों में घिरकर नहीं रह सकता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा भी है: "सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं में मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है।"[१] लोक-जीवन, लोक-भाषा और लोक-साहित्य के प्रति राहुलजी का अत्यधिक अनुराग है। आपका स्पष्ट मत है: "भाषा, साहित्य, कला, संगीत के मूल में अगर देखा जाए तो मालूम होता है कि इस सबकी सृष्टि जनगण ने की है और उसे प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जनगण की सृष्टि बड़ी मनमोहक, मधुर और गम्भीर होती है, यह आप आज भी जन-काव्य से समझ सकते हैं।"[२]

राहुलजी का व्यक्तित्व एकदम अनोखा और असाधारण है। इस सम्बन्ध में डा० भगवतशरण उपाध्याय का कथन पठनीय है: "इतनी जिज्ञासु मेधा, सजग सक्रियता, असीम साहस, आकर्षक, सरलता और उद्दाम-पौरुष के साथ इतनी नम्रता एकत्र मैंने अन्यत्र नहीं देखी।···श्री राहुल का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल और आकर्षक है, यद्यपि उनकी मेधा की गहराइयाँ बहुत हैं, उनका हृदय सर्वथा बाहरी तल पर है, जिसे समझने में किसीको कभी धोखा नहीं हो सकता।···इन मानों को हृदय में रखकर जब मैं जन-संसार पर दृष्टि करता हूँ तब व्यक्तित्व की ऊँचाई उसे रोक नहीं पाती, वह उनके ऊपर से निकल जाती है।"[३] राहुलजी उच्च कोटि के दार्शनिक भी हैं, इसका प्रमाण उनके दार्शनिक-ग्रन्थ हैं—दर्शन-दिग्दर्शन, कुरानसार, बुद्धचर्या, धम्मपद आदि।

कृतियाँ—राहुलजी की विभिन्न विषयों पर अनेकों पुस्तकें हैं। यात्रा-वर्णन सम्बन्धी निबन्ध लिखनेवाले साहित्यिकों में राहुलजी का नाम अग्रगण्य है। इन निबन्धों में उनकी भाषा तथा शैली अत्यन्त सीधी, सरल तथा सुबोध होने पर भी प्रभावोत्पादक रहती है। अपनी कृतियों में देश-विदेश के अनुभवों का जब यह वर्णन करते हैं तो उनकी शैली और भी रसात्मक हो जाती है। वास्तव में इस रसात्मकता का आधार उनका अपना अनुभव रहता है। हिन्दी-यात्रा-साहित्य को उन्होंने बहुत-कुछ सामग्री प्रदान की है।

राहुलजी के यात्रा-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ रचनाक्रम से निम्नलिखित हैं:—

तिब्बत में सवा बरस (१९३३ ई०), मेरी यूरोप यात्रा (१९३५ ई०), मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७ ई०), मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९ ई०), मेरी जीवन-यात्रा

१. किन्नर देश में—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ८४-८५
२. नया पथ—अगस्त, १९५३, पृ० २७
३. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—में उद्धृत, देवीशरण रस्तोगी, पृ० २८४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली १९५२

(१६४६ ई०), किन्नर-देश में (१६४८ ई०), राहुल-यात्रावली (१६४६ ई०), घुमक्कड़-शास्त्र (१६४६ ई०), दार्जिलिंग परिचय (१६५० ई०), यात्रा के पन्ने (१६५२ ई०), रूस में २५ मास (१६५२ ई०), हिमालय-परिचय (१६५३ ई०), कुमाऊँ-परिचय (१६५५ ई०), गढ़वाल-परिचय (१६५५ ई०)।

तिब्बत में सवा बरस—महापण्डित राहुलजी की यात्रा-साहित्य-सम्बन्धी यह पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १६३३ ई० में शारदा मन्दिर, दिल्ली से प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक को राहुलजी ने दस मन्जिल (अध्याय) में विभाजित किया है :

भारत के बौद्ध-खण्डहरों में, नैपाल, सरहद के पार, ब्रह्मपुत्र की गोद में, अतीत और वर्तमान तिब्बत की झाँकी, ल्हासा में, नववर्ष उत्सव, स्मयस की यात्रा, ग्रन्थों की तलाश एवं वापसी। इस प्रकार इस पुस्तक में राहुलजी ने अपनी तिब्बत यात्रा एवं ग्रन्थों की खोज का पूर्ण विवरण दिया है—

मेरी यूरोप-यात्रा—राहुल सांकृत्यायनजी की इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १६३५ ई० में साहित्य सेवक-संघ, छपरा से प्रकाशित हुआ था। दूसरे संस्करण का प्रकाशन सन् १६४५ ई० में किताब महल, इलाहाबाद से हुआ जिसमें १६८ के स्थान पर १४३ पृष्ठ ही रह गए। इस पुस्तक में राहुलजी ने कोलम्बो से प्रस्थान करके यूरोप-दर्शन, लन्दन-टावर, कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय, आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय, पेरिस, जर्मनी आदि की सैर का रोचक वर्णन लिपिबद्ध किया है। अपनी सागरीय यात्रा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"जब जहाज ऊँची लहरों पर उठता है, तब सिर में थोड़ा-सा चक्कर आता है, परन्तु जिस समय लहर नीचे से निकल जाती है उस समय जहाज के पतन के साथ दिल एकदम गिर ही नहीं पड़ता, बल्कि मालूम होता है एक ठण्डी हवा का झोंका कलेजे के एक-एक छिद्र में जल्दी से घुस गया।"[१]

मेरी तिब्बत यात्रा—राहुलजी की यह पुस्तक सन् १६३७ ई० में छात्र-हितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। १६८ पृष्ठों की इस यात्रा-पुस्तक में राहुलजी की तिब्बत के कई स्थानों जैसे ल्हासा, चाङ्, सक्य, जेनम्, नैपाल आदि की यात्राओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसके दो-तीन अध्याय सरस्वती पत्रिका में भी प्रकाशित हो चुके हैं। पुस्तक डायरी-शैली में लिखी गई है। चित्रों से अलंकृत है।

मेरी लद्दाख यात्रा—राहुलजी की यह पुस्तक सन् १६३६ ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। १४६ पृष्ठों की इस पुस्तक में राहुलजी ने

---

१. मेरी यूरोप यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५

अपनी लद्दाख की यात्रा का सुन्दर वर्णन अंकित किया है। काश्मीर और तिब्बत की पर्वतीय दृश्यावली का वर्णन बहुत अच्छा किया गया है। एक उद्धरण देखिए—

"जगह-जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भाँति कुटिल गति की जेलहम, दूर तक, शहर के बाहर भी सेव, बादाम आदि के बागों में बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर बँगले, हरी घासों से ढके लम्बे-लम्बे क्रीड़ाक्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शोंवाली सुभूमियाँ देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।"[1]

मेरी जीवन-यात्रा—५६४ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९४६ ई० में किताब महल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित हुई थी। राहुलजी ने इस पुस्तक में अपनी 'जीवनी' न लिखकर अपनी 'जीवन-यात्रा' लिखी है। १४ मार्च, १९४० ई० को जब राहुलजी हजारीबाग जेल में नज़रबन्द कर दिए गए तब २९ महीने के समय को काटने के लिए उनके पास कोई साधन न था, न पुस्तकें ही थी। उन्होंने लिखा भी है—"मैंने दिन काटने के लिए सोचा, चलो पुरानी स्मृतियाँ ही अंकित कर डालो। १६ अप्रैल, १९४० ई० से मेंने लिखना शुरू किया और १४ जून तक लिखता गया। इन दो महीनों में मैंने १८९३ से १९३४ तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा है।"[2] इस प्रकार राहुलजी ने अपनी इस पुस्तक में अपनी बाल्य और तारुण्य अवस्था में की गई दक्षिणी भारत, अयोध्या, लाहौर, आगरा, चित्रकूट, कुर्ग, छपरा, नेपाल, बक्सर एवं हिमालय आदि की यात्राओं का बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। इनकी जीवन-यात्रा पर पुस्तक पूर्ण प्रकाश डालती है। अपनी पहली यात्रा की अभिरुचि के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है: "दोनों ही वक्त या तो नाना की बगल में या उनकी गोद में, मैं बैठा रहता। कहानियों के सुनने में जितना रस आता, उससे कम नाना की शिकार और यात्रा की बातों में न था। भारत के भूगोल को पढ़ने का मुझे पीछे मौका मिला, किन्तु कामठी अकोला-बुल्डाना-औरंगाबाद, बम्बई-शिमला ही नहीं कोचीन बंदर और कौन-कौन पचासों नाम में सुन चुका था, सब मुझे याद थे।"[3]

किन्नर देश में—महापंडित राहुलजी की यह पुस्तक प्रथम बार इण्डिया पब्लिशर्स, प्रयाग द्वारा सन् १९४८ ई० मे प्रकाशित हुई थी। ४४६ पृष्ठों का यात्रा-सम्बन्धी यह बड़ा ग्रन्थ है। राहुलजी ने इसमें किन्नर देश की (मई-अगस्त, १९४८) यात्रा का विवरण देने के साथ ही हिमालय के इस उपेक्षित भाग का परिचय भी दे दिया है। इस यात्रा में उन्होंने नवीन भारत (स्वतन्त्रता के बाद) के नव निर्माण की दृष्टि से वस्तुओं का वर्णन किया है। हिमालय के इस अंचल की नवीन ज्ञातव्य बातें भी राहुलजी द्वारा प्रकाश में आ सकी हैं। इस पुस्तक में किन्नर प्रदेश की यात्रा के

---

१. मेरी लद्दाख यात्रा, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० ५३
२. मेरी जीवन यात्रा (प्राक्कथन से उद्धृत), राहुल सांस्कृत्यायन
३. मेरी जीवन-यात्रा, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० २६

वर्णन के अतिरिक्त राहुलजी ने वहाँ की भाषा पर भी प्रकाश डाला है, साथ ही अपनी यात्रा में कुछ किन्नर-गीतों का संकलन भी किया था जिन्हें पुस्तक में संगृहीत कर दिया है। यात्रा-साहित्य की यह उत्तम पुस्तक है। किन्नर देश के सम्बन्ध में आपने लिखा है—

"किन्नर देश के बारे में मेरा यही विचार है, यदि भारत पीछे नहीं हटा, और पीछे हटना असम्भव है, क्योंकि वहाँ मृत्यु घात लगाए हुए है, तो यह किन्नर देश इस शताब्दि के अन्त में देवलोक बन के रहेगा।"[1]

राहुल यात्रावली—राहुलजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४९ ई० में किताब महल, इलाहाबाद से हुआ था। ४३६ पृष्ठों की इस पुस्तक को तीन खण्डों में (मेरी लद्दाख-यात्रा, मेरी लंका-यात्रा, तिब्बत में सवा वर्ष—नामक शीर्षकों में) विभाजित किया गया है। मेरी लद्दाख-यात्रा खण्ड में मेरठ, पंजाब, मुलतान, सीमान्त राज्य, पुंछ राज्य एवं काश्मीर तथा जोजीला की यात्रा का वर्णन दिया गया है। लंका-यात्रा खण्ड में लंका की राजधानी अनुराधापुर, पुलस्त्यपुर, काण्डी आदि प्रसिद्ध नगरों की यात्रा के वर्णन, साथ ही वहाँ की जनता एवं भिक्षुओं का वर्णन भी लिपिबद्ध किया गया है। तीसरा यात्रा-खण्ड 'तिब्बत में सवा बरस' है। इसमें भारत के बौद्ध खण्डहरों, कन्नौज, कौशाम्बी, सारनाथ, वैशाली, लुम्बिनी से लेकर नेपाल, शीगर्ची, ग्यांची, ल्हासा का यात्रा-वर्णन दिया गया है। इसमें तिब्बत की यात्रा के साथ ही ग्रन्थों की खोज का विवरण दिया गया है। राहुलजी की यह यात्रा एक अलग पुस्तक के रूप में सन् १९३३ ई० छप चुकी है। इसका विवरण मैं इससे पूर्व दे चुका हूँ। कुती के प्रस्थान करते समय देखे गए दृश्य का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है—

"अब हम बड़े मनोहर स्थान में जा रहे थे। चारों ओर उत्तुंग शिखरवाले हरियाली से ढके पहाड़ थे जिनमें जहाँ-तहाँ झरनों का कल-कल सुनाई देता था। नीचे फेन उगलती कोसी की वेगवती धार जा रही थी। नाना प्रकार के पक्षियों के मनोहर शब्द सारी दून को जादू का मुल्क सिद्ध कर रहे थे।"[2]

घुमक्कड़-शास्त्र—राहुलजी की यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९४९ ई० में प्रकाशित हुई थी। १९० पृष्ठों की यह पुस्तक वास्तव में घुमक्कड़-शास्त्र ही है। इस शास्त्र का लक्ष्य घुमक्कड़ी का अंकुर पैदा करना ही नहीं, वरन जन्मजात अंकुरों की पुष्टि, परिवर्धन तथा घुमक्कड़ी के लिए मार्ग-प्रदर्शन करना भी है। घुमक्कड़ों के लिए उपयोगी सभी बातें इस शास्त्र में सूक्ष्म रूप से लाई गई हैं। इस यात्रा-ग्रन्थ में घुमक्कड़ी को ही दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु माना गया है। भ्रमण

---

१. किन्नर देश में—राहुल सांकृत्यायन
२. राहुल यात्रावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १२९

देश-दर्शन एवं यात्रा-प्रेमियों के लिए यह बहुत सुन्दर पुस्तक है। घुमक्कड़ी को अत्यधिक महत्त्व देते हुए वे लिखते हैं—

"घुमक्कड़ी एक रस है, जो काव्य के रस से किसी तरह भी कम नहीं है। कठिन मार्गों को तय करने के बाद नए स्थानों में पहुँचने पर हृदय में जो भावोद्रेक पैदा होता है, वह एक अनुपम चीज है। उसे कविता के रस से हम तुलना कर सकते हैं, और यदि कोई ब्रह्म पर विश्वास रखता हो, तो वह उसे ब्रह्म-रस समझेगा : "रसो वैसः रसंहि लब्ध्वा आनन्दी भवति।"[1]

दार्जिलिंग परिचय—यह पुस्तक सन् १६५० में आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। २५० पृष्ठों की इस पुस्तक में हिमालय के यात्रियों के सर्वांगीण पथ-प्रदर्शन के लिए एक बडे अभाव की पूर्ति की है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव था, जिस कमी की पूर्ति राहुलजी-जैसे साहित्यिक पर्यटक ने की है। इसमें राहुलजी ने स्थानीय इतिवृत्त, भूगोलादि और अपनी हिमालय एवं दार्जिलिंग की यात्राओं के साथ-ही-साथ यात्रा की अन्य आवश्यक बातें भी दी हैं।

यात्रा के पन्ने—राहुलजी का ४४० पृष्ठों का यह ग्रन्थ साहित्य सदन, देहरादून से प्रथम बार सन् १६५२ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में राहुलजी की तीसरी तिब्बत-यात्रा का वर्णन है। नेपाल, काठमांडू, तिब्बत की यात्राएँ इसमें संगृहीत हैं। इस पुस्तक में यात्राओं के साथ ही प्रवास-काल में लिखे हुए वे पत्र भी संकलित हैं, जो उन्होंने यूरोप से श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन को लिखे थे। इसमें आबू, अजमेर, मेवाड़ की भूमि, चित्तौड़, उज्जैन, दशार्ण, ग्यारसपुर, उदयगिरि, चैत्यगिरि (साँची), बीना, ढाका, मोतीहारी, बेतिया, छपरा, माझी की यात्राएँ भी वर्णित की गई हैं। तिब्बत का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"तिब्बत में तो हरियाली के लिए आँखें तरसती हैं। नदियों की विस्तृत उपत्यकाएँ कहीं-कहीं रेगिस्तान का स्मरण दिलाती हैं और किसी-किसी जगह तो उसी तरह बवण्डर लाखों मन बालू को एक जगह से दूसरी जगह रखते रहते हैं। उपत्यकाओं के किनारे पर छोटे-छोटे पहाड़ बिलकुल नगे-जैसे होते हैं।"[2]

रूस में २५ मास—यात्रा-साहित्य-सम्बन्धी ४१७ पृष्ठों की यह पुस्तक सितम्बर सन् १६५२ ई० में आलोक प्रकाशन, बीकानेर से प्रकाशित हुई थी। राहुलजी की यह यात्रा १७ अगस्त, १६४७ को समाप्त हो गई थी, पर इसका विवरण चार वर्ष बाद लिखा गया। राहुलजी की यह तीसरी रूस-यात्रा थी। इस पुस्तक में ईरान, तेहरान, रूस, लेनिनग्राद आदि की यात्राओं का पूर्ण विवरण दिया गया है।

---

१. घुमक्कड़ शास्त्र—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २६
२. यात्रा के पन्ने—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १३८

हिमालय परिचय—राहुलजी की ५६६ पृष्ठों की यह पुस्तक लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद से सन् १९५३ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में हिमालय के व्यापार एवं यातायात का वर्णन है। इस वर्णन के साथ-साथ प्रसिद्ध ग्रामों, नगरों जैसे केदारनाथ, बदरीनाथ, देवप्रयाग, श्रीनगर आदि स्थानों की यात्राओं का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यह यात्रा-साहित्य की सुन्दर पुस्तक है।

कुमाऊँ-परिचय—हिमालय-परिचय की भाँति ही राहुलजी ने कुमाऊँ-परिचय पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक में कुमाऊं और मानसरोवर के तीर्थों तथा दूसरी दर्जनों यात्राओं के अतिरिक्त इस भूभाग के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है।

गढ़वाल-परिचय—उपर्युक्त पुस्तक की भाँति ही इस पुस्तक में भी केदार-खण्ड की प्राचीन मही, उसके गिरिनाद सर, मार्ग-विश्राम स्थान, प्राकृतिक सुषमा का भी राहुलजी ने यात्रा के साथ-साथ वर्णन किया है।

राहुलजी का यात्रा-साहित्य प्रचुर है और हिन्दी में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सेठ गोविन्ददास

जीवनी—आपका जन्म आश्विन शुक्ल दशमी, सन् १८९६ ई० में दशहरे के दिन हुआ था। आपके पूज्य पिता सेठ जीवनदास थे। इनके जन्म के समय इनके पितामह जीवित थे, जिन्होंने पौत्रोत्सव बड़े समारोह से मनाया और एक लाख से अधिक रुपया खर्च किया। गोविन्ददासजी का जन्म अत्यन्त सुसम्मान्य एव धनी परिवार में हुआ था; अतएव महल के सगमरमर के फर्शो पर रखे हुए चाँदी के पालने की मखमली गद्दियो पर लिटा-लिटा और झुला-झुलाकर—पारे के कटोरे और सोने के चमचे से दूध पिला-पिलाकर गोविन्ददास राजा गोकुलदास महल मे बड़े किए जाने लगे। पाँच वर्ष की अवस्था से इनकी शिक्षा घर पर ही अध्यापको द्वारा हुई। साढे ग्यारह वर्ष की आयु मे ही जयपुर के अन्तर्गत सीकर राज्य के पोद्दार सेठ लक्ष्मीनारायणजी बिहानी की पुत्री गोदावरीदेवी से गोविन्ददासजी का विवाह हो गया। विवाह के उपरान्त युवावस्था मे सेठजी के पितामह राजा गोकुलदास का देहावसान हो गया। माता ने उन्हें धर्मनिष्ठ और सच्चरित्र तो अवश्य बनाया, किन्तु व्यवसाय मे दक्ष न कर सकीं। उधर अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन करने के कारण गोविन्ददास की प्रवृत्ति व्यवसाय से हटकर साहित्य की ओर बढ़ चली थी। अंग्रेजी वेशभूषा मे यह रहते थे और टेनिस, बिलियर्ड का इन्हे शौक था। सेठजी ने अंग्रेजी और हिन्दी भाषा के ग्रन्थों का अच्छा सग्रह किया और कुछ ही दिनों के उपरान्त शारदा भवन पुस्तकालय की स्थापना की। सन् १९१७ ई० से ये नाटक-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इसके साथ ही ये सन् १९१९ ई० में सागर में मध्य प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् और मध्य-प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गए। सन् १९२० ई० से इन्होंने असहयोग

आन्दोलन के कार्य का बीड़ा उठाया और अपने नगर के ही नहीं वरन् प्रान्त के एक सफल एवं सर्वमान्य नेता सिद्ध हुए। सन् १६२३ ई० में केन्द्रीय असेम्बली के लिए ये निर्विरोध चुन लिए गए और सन् १६२४ ई० से पण्डित मोतीलाल नेहरू के साथ असेम्बली में कार्य आरम्भ किया। कई बार जेल गए और जेल-जीवन का अधिकांश समय साहित्य-सेवा में ही लगाया। कर्त्तव्य, प्रकाश, नवरस, हर्षकुलीनता, विश्वास-घात, स्पर्धा, विकास, दलित कुसुस, बड़ा पापी कौन, सिद्धान्त, स्वातन्त्र्य और ईर्षा आदि नाटक सेठजी ने जेल में ही लिखे थे। परिवारवाले इनसे इतना असंतुष्ट थे कि इन्हें घर की सारी सम्पत्ति से त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। सन् १६३४ ई० में जेल से छूटने पर वे केन्द्रीय असेम्बली में पुनः निर्वाचित हुए।[1] आजकल भी आप केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य हैं।

सेठ गोविन्ददासजी का व्यक्तित्व त्याग और निष्ठा का व्यक्तित्व है। ऐसा व्यक्तित्व जो स्वार्थ, छल एवं क्रोध से परे है। इनका व्यक्तित्व कई रूपों में एक साथ ही निखर उठा। इनके व्यक्तित्व को दृढ़ लोकोपयोगी एवं मंगलमय बनाने में इनकी राजनैतिक, साहित्यिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक रुचि का विशेष हाथ रहा है। लखपति के घर में जन्म लेकर भी अहम् एवं दम्भ उन्हें छू नहीं गया है।[2] यही उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता का एकमात्र प्रतीक है। देश की स्वतन्त्रता के लिए एक साधारण व्यक्ति के रूप में आकर आज भी आप अज्ञानता, गरीबी, भुखमरी एवं अशिक्षा को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं। स्वतन्त्रता के युद्ध मे पाँच बार जेल जाकर आपने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया है, साथ ही जेल में रहकर हिन्दी-साहित्य का सृजन करते रहे। प्रेम, ईमानदारी, त्याग, पौरुष, शान्ति, सन्तोष, मित्रता को ये सदा अपनाए रहे। इन्हीं कारणों से इनका व्यक्तित्व खरे स्वर्ण की भाँति चमकता रहा है। खद्दर की धोती, कुर्त्ता और पैरों में साधारण पम्प-शू डाले सेठजी लक्ष्मी-पुत्र होकर भी सरस्वती के साधक बने रहे। आपकी रचनाओं में आपका व्यक्तित्व निखर उठा है। आदर्शों का मोह उन्हें आज भी है। इसी कारण आपकी रचनाओं में देश-भक्ति, अस्पृश्यता निवारण, ग्राम्य-जीवन, समाजवाद, शिक्षा, दार्शनिक चिन्तन आदि की ठोस भावना स्थल-स्थल पर मिलती है। आपका व्यक्तित्व गहन एवं गम्भीर है। हिन्दी के प्रति आपको प्रारम्भ से ही मोह रहा है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनवाने में इनका पूरा सहयोग रहा है, इसीलिए राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने कहा भी है: "हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने (सेठजी ने) जो-कुछ किया है, वह इतिहास में अमर रहेगा। न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मलाया, मिस्र, यूनान, इटली, स्विटज़रलैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड, कैनेडा, अमेरिका, हवाई द्वीप, चीन, जापान, श्याम, बर्मा आदि देशों की यात्रा इनकी शान्ति और सद्भावना यात्रा

---

१. सेठ गोविन्ददास—डा० रत्नकुमारीदेवी के ग्रन्थ के आधार पर
२. लेखक के व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर

थी। विदेश की इन यात्राओं को सेठजी ने तीन ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया है। इन यात्रा-ग्रन्थों में उनके व्यक्तित्व का निखार बराबर भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की मान्यताओं के प्रति विदेशियों को उत्साहित और आकर्षित करता है।[१]

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर सेठजी की तीन पुस्तकें हैं—हमारा प्रधान उपनिवेश, (१६३८), सुदूर दक्षिण-पूर्व (१६५१) और पृथ्वी-परिक्रमा (१६५४)।

१. **हमारा प्रधान उपनिवेश**—सन् १६३७-३८ ई० में पूर्व और दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर सेठजी ने अपनी प्रथम यात्रा-पुस्तक 'हमारा प्रधान उपनिवेश' नाम से लिखी थी। जहाजी यात्रा की इस पुस्तक में सेठजी ने दक्षिण अफ्रीका की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं और ऐसी खरी बातें कही हैं जिनका राजनैतिक जाग्रति पर काफी प्रभाव पड़ा है। वहाँ की अनेकों दिलचस्प घटनाओं का भी इसमे विवरण दिया गया है। पुस्तक के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समझ में न आनेवाली बात है उसका शीर्षक 'हमारा प्रधान उपनिवेश'। भारत का न तो कोई उपनिवेश है और न वह उपनिवेश में विश्वास रखता है। आज जब देश स्वतन्त्र है और उसकी मूलनीतियों का स्पष्टीकरण दृढ़ता-पूर्वक किया जा चुका है तो सेठजी का यह शीर्षक असगत-सा जान पड़ता है। उप-निवेश से सेठजी का मतलब उन्हीके शब्दों में देखिए : "हिन्दुस्तानियों का यदि कोई देश उसका प्रधान उपनिवेश बन सकता है तो पूर्वी अफ्रीका। इसके कारण हैं—यह देश भारतवर्ष के बहुत नज़दीक है, काफी जमीन यहाँ बसने और आज़ाद होने के लिए पड़ी हुई है तथा यहाँ की जलवायु भारतीयों के अनुकूल हैं।"[२] पुस्तक में जहाजी यात्रा का चित्र अंकित किया गया है।

२. **सुदूर दक्षिण-पूर्व**—१७१ पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन आदर्श प्रकाशन, जबलपुर से सन् १६५१ ई० में हुआ था। यह सेठजी की दूसरी यात्रा-पुस्तक है। इसमें सेठजो ने सन् १६५२ ई० मे की गई यात्रा का वर्णन किया है। न्यूज़ीलैण्ड में सन् १६५२ ई० में कामनवेल्थ पार्लमेण्टरी परिषद् की जो सभा हुई थी उसमें सेठजी भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के नेता थे। इस प्रतिनिधिमण्डल के अन्य सदस्य थे श्री चमनलालशाह, श्री वैंकटरमन, श्री बरुआ और श्री सिधवा। सुदूर दक्षिण-पूर्व में सेठजी सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और फीजी गए थे। लगभग पाँच सप्ताह के इस भ्रमण की उन पर गहरी छाप थी। इन पाँच देशों के भ्रमण के पश्चात् सेठजी की यह धारणा भी दृढ़ हो गई जो उनकी अफ्रीका यात्रा के समय बनी थी कि किसी भी देश का पूरा ज्ञान समाचार-पत्रों या वहाँ से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों के

१. लेखक के नाम आए सेठ गोविन्ददासजी के व्यक्तिगत पत्र, वार्तालाप एवं सम्पर्क के आधार पर
२. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २८६ (सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली से प्रकाशित), १६५६, संपादक, डॉ० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट०

अध्ययन से नहीं हो सकता। इस पुस्तक में सेठजी कोरे भावुक दर्शक नहीं हैं। उन्होंने इन देशों की समस्याओं का गहरा अध्ययन किया है और उनका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। विश्लेषण के साथ-ही-साथ उन्हें हल करने के उपाय भी दिए हैं। अपनी इस हवाई यात्रा का सेठजी ने चित्रों के साथ बड़ा सुन्दर विवरण दिया है। प्रकृति वैभव का एक चित्र देखिए—

"भगवान् सहस्रांशु अपनी समस्त अंशुओं को निर्मल नीलाकाश में फैलाए हुए चमक रहे थे परन्तु नीचे घने बादल थे। इन बादलों का एक बृहत् शामयाना-सा पृथ्वी पर तना हुआ था और ऐसा शामयाना जिसमें एक भी सिकुड़न, एक भी शल, कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता था।"[1]

पृथ्वी-परिक्रमा—सेठजी की यह नवीनतम कृति है। ३४४ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९५४ ई० में आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। इसमें सेठजी की मिस्र, यूनान, इटली, स्विटज़रलैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन, कैनाडा, अमरीका, हवाई जापान, चीन, स्याम और बर्मा आदि देशों की यात्राओं का विस्तृत एवं विशद वर्णन है। इस पुस्तक में सेठजी ने देश-विदेश की दर्शनीय वस्तुओं—वहाँ के इतिहास, वहाँ की राजनीतिक व सामाजिक स्थिति, वहाँ के उद्योग, कला आदि का ही वर्णन नहीं किया, वहाँ की आत्मा को भी चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'पृथ्वी-परिक्रमा' जिन देशों में लेखक गया उन देशों की इमारतों एवं स्मारकों का विवरण मात्र ही नहीं वरन् उन देशों का संक्षिप्त राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भी है। सेठजी ने अपनी अधिकांश यात्रा वायुयान द्वारा ही की है इसलिए अल्प समय में ही वे विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण कर सके। 'उस पुरातन भूमि में जहाँ कभी पानी नहीं बरसता' शीर्षक से लिखते हुए सेठजी ने मिस्र के पिरामिडों की रोमांचकारी गाथा पर प्रकाश डाला है। 'सुकरात की ज्ञानधारा पर' शीर्षक से उन्होने यूनान की महान् सांस्कृतिक परम्परा को पुनर्जीवित कर दिया है, सुकरात के प्राणदण्ड की करुण-कहानी भी उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से दोहरा डाली है। इटली उनके शब्दों में 'वह देश है जो सदा कलाकारों को प्रिय रहा है,' इसी प्रकार स्विटज़रलैण्ड को वह यूरोप का ऐसा देश मानते हैं जिसे प्रकृति ने सबसे अधिक रमणीयता दी है। फ्रांस को उन्होंने विलासिता के वैभव का केन्द्र माना है। ब्रिटेन को संसार के सबसे बड़े शहर-वाला देश माना है। कैनाडा के सम्बन्ध में सेठजी की धारणा है कि वह तो झीलों का देश है। अमरीका में उन्हें ऐसा जान पड़ा है कि वह गगनचुम्बी प्रासादों के प्रांगण में है। अमरीका को उन्होंने संसार का सर्वश्रेष्ठ देश पाया। इसके बाद पूर्व के सबसे उन्नत देश जापान, माओत्सेतुंग के नवचीन, संसार के सबसे अधिक धार्मिक वायुमण्डलोंवाले देश स्याम और पगोड़ों के देश बर्मा के उनके संस्मरण हैं। इस

१. सुदूर दक्षिण-पूर्व, सेठ गोविन्ददास, पृ० ४१

पृथ्वी-यात्रा में सेठजी की अनुभूति एक शुद्ध साहित्यकार की अनुभूति है, जैसा कि इन शीर्षकों से ही विदित है। पुस्तक में सेठजी ने जहाँ जो कुछ सराहनीय पाया वहाँ उसकी प्रशंसा की और जिसे उन्होंने आपत्तिजनक समझा उसकी उन्होंने कड़ी आलोचना की। दक्षिण भारत की मासिक पत्रिका 'कल्पना में पृथ्वी परिक्रमा' पुस्तक का परिचय निम्न शब्दों में दिया गया है : "लेखक (सेठजी) ने संसार के अनेक देशों का भ्रमण किया और उसे अत्यन्त रोचक ढंग से पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है, अपने कमरे में बैठे हुए भी इस पुस्तक की सहायता से पृथ्वी-परिक्रमा साकार हो उठती है।"[१] पुस्तक को चित्रों से खूब सजाया गया है जिससे स्थान-स्थान के दृश्यों की झाँकी भी मिलती है। स्थल-स्थल पर सेठजी ने अपने व्यक्तिगत कार्यक्रमों के वर्णन देकर इस यात्रा-ग्रन्थ को नीरस होने से बचा लिया है, किन्तु कहीं-कहीं उनमें अत्यधिक विस्तार और अनावश्यक विवरण का दोष भी विद्यमान है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय वासुदेव मावलंकरजी लिखते हैं : "पुस्तक में न केवल लेखक द्वारा विश्व के विभिन्न भागों की यात्रा का विवरण दिया गया है वरन् उन देशों के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर लेखक ने अपना मत भी सरल भाषा में व्यक्त किया है।......एक प्रकार से प्रस्तुत पुस्तक को विश्व-इतिहास का एक ठोस भाग कहा जा सकता है।......जिन-जिन देशों मे लेखक गया उनके लिए तो यह एक 'इनसाइक्लोपीडिया' ही है।......पुस्तक से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देश के इतिहास, धर्म, संस्कृति, कला इत्यादि का परिश्रमशील अध्ययन किया गया है।"[२] सेठजी का यह सुन्दर ग्रन्थ है। स्विटज़रलैण्ड की प्राकृतिक दृश्यावली के एक दृश्य को देखिए—

"ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों के हिमाच्छादित शिखर, मुस्कराती-खिलखिलाती झीलें, पुष्पों एवं हरियाली से लहलहाते चरागाह, घने छायादार जगल और नए-पुराने गाँव व शहर सचमुच ही स्विटज़रलैण्ड को इतना सुन्दर और आकर्षक बना देते हैं कि वह एक मृग-मरीचिका बनकर पर्यटक की स्मृति में सदा ही उलझा रहता है।"[३]

डा० धीरेन्द्र वर्मा

जीवनी—आपका जन्म ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपदा सोमवार सं० १९५४ (सन् १८९७ ई०) को बरेली में हुआ था। आप सक्सेना कायस्थ हैं। आपके पिता का नाम श्री खानचन्द तथा माता का नाम कमलादेवी है। इनका मूल निवास-स्थान शकरस जिला बरेली है। आपके पिता आर्यसमाजी विचार के थे, जिसका प्रभाव आपके

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २९४; संपादक—डॉ० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०
२. देखिए, 'पृथ्वी-परिक्रमा' की भूमिका
३. पृथ्वी-परिक्रमा—सेठ गोबिन्ददास, पृ० ९०

विचारों तथा शिक्षा आदि पर विशेष रूप से पड़ा। हिन्दी आपने अपनी माताजी से सीखी। आपकी शिक्षा संस्कृत से प्रारम्भ की गई थी।[1] कई वर्षों तक पुराने ढंग से आपको संस्कृत, व्याकरण पढ़नी पड़ी। स्कूली शिक्षा देहरादून के डी० ए० वी० स्कूल से आरम्भ हुई। सन् १६१४ ई० में आपने क्वीन्स हाई स्कूल, लखनऊ से हिन्दी में विशेष सम्मान के साथ हाई-स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे की शिक्षा के लिए आप प्रयाग गए और सन् १६१६ ई० में म्योर सेण्ट्रल कालेज से एफ० ए०, सन् १६१८ ई० में बी० ए० तथा सन १६२१ ई० में संस्कृत लेकर एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। एम० ए० करने के बाद दो वर्ष तक आपको डी० लिट्० के लिए सरकारी स्कालरशिप १०० रुपया प्रतिमास मिलती रही। यह समय आपने ब्रज-भाषा पर खोज करने के लिए सामग्री एकत्र करने तथा भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने में बिताया। सन् १६२२ ई० में आपका विवाह हुआ और सन् १६२४ ई० में आप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक नियुक्त हुए। कई वर्ष तक आप विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के संचालन करने में लगे रहे। साथ-ही-साथ खोज का कार्य भी चलता रहा। सन् १६३४ ई० में आप भाषा-शास्त्र तथा प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान (एक्सपेरीमेण्टल फोनेटिक्स) के अध्ययन के लिए यूरोप गए और सन् १६३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। तब से मार्च १६५६ तक आप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर सुशोभित थे परन्तु अब वहाँ से आपने अवकाश ग्रहण कर लिया है। आजकल आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित होनेवाले हिन्दी विश्वकोष के प्रधान सम्पादक हैं। हिन्दी-शोध कार्य में वर्माजी का व्यक्तित्व पूर्णरूप से निखर सका है। आपने इस क्षेत्र में हिन्दी के अनेक विद्वान् उत्पन्न किए हैं। आपको यदि 'हिन्दी रिसर्च का पितामह' कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। आप बड़े ही धीर, गम्भीर धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति हैं। जीवन में कर्तव्यशीलता को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।

कृतियाँ—आपने कई पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु हिन्दी-यात्रा साहित्य में आपकी एक पुस्तक 'यूरोप के पत्र' नाम से प्रकाशित हुई है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और आचार्य डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने सन् १६३४ ई० में यूरोप-यात्रा की थी। इस यात्रा में उनके साथ प्रयाग विश्वविद्यालय के दो अन्य अध्यापक भी गए थे। ये पत्र आपने अपने पिताजी को यूरोप के विभिन्न स्थानों जैसे—पेरिस, स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी आदि से लिखे थे। भारत में ये पत्र हिन्दी की प्रसिद्ध 'सुधा' मासिक पत्रिका में अक्तूबर १६३६ ई० से जनवरी १६३८ तक बराबर छपते रहे। इसके ६ वर्ष बाद इन पत्रों को संगृहीत करके डॉ० वर्मा ने इसका प्रकाशन साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से किया। पुस्तक के ६२ पृष्ठों में यूरोप-

१. हिन्दी के निर्माता, भाग २—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० १०८-६

यात्रा के ये सारे पत्र संकलित किए गए हैं। ये पत्र यात्रा-साहित्य के दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अपने लन्दन के पत्र में आपने लिखा है:—

लन्दन ईस्टर, अप्रैल, १९३५

"ईस्टर की छुट्टी में मैं लन्दन घूमने चला आया हूँ। सुबह साढ़े आठ बजे पेरिस से चलकर शाम को साढ़े चार बजे लन्दन पहुँचा।......चौड़ी सड़कों, सुन्दर चौराहों, रंग-बिरंगी रोशनी और शानदार इमारतों में पेरिस लन्दन से कहीं अधिक बढ़कर है। गौर से देखने से आदमी कुछ अवश्य भिन्न मालूम होते हैं, मानों काशी के गोल, मोटे, शौकीन आदमियों के स्थान पर मेरठ, मुजफ्फरपुर के जाट-गूजरोंवाले अक्खड़ देश में आप पहुँच गए हों। मौसम यहाँ भी पेरिस-सा ही है। कभी धूप, कभी बूँदा-बाँदी।"[1]

स्वामी सत्यभक्त

जीवनी—स्वामी सत्यभक्तजी का जन्म कार्तिक शुक्ला ७ वि० सं० १९५६ शुक्रवार, तदनुसार १० नवम्बर सन् १८९९ ई० को शाहपुर (सागर मध्य प्रदेश) में हुआ था। इनके पिता का नाम नन्हूलालजी था, जो स्वर्गवासी हो चुके है। शैशव-काल में ही मातृ-वियोग होने से इन्हें दमोह आना पड़ा। वहीं आपका प्रारम्भिक शिक्षण हुआ। संस्कृत की शिक्षा सागर तथा वाराणसी में हुई। जन्म से आप परवार जैन हैं, पर इस समय अपने को सत्य समाजी कहते हैं। न्यायतीर्थ की उपाधि प्राप्त करने के बाद २४ फरवरी १९१९ को वाराणसी के स्याद्वाद विद्यालय में आप अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ शास्त्री कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाया। सन् १९२० ई० के अन्त में इन्दौर में अध्यापक हुए और छः वर्ष तक वहाँ रहे।[2] ये प्रचण्ड-सुधारक हैं, जिसके प्रमाण में अन्तर्जातीय-विवाह किया है। इनकी पत्नी का नाम वीणादेवी है, जो जैन-धर्म विशारद होने के साथ-साथ संस्कृतज्ञा भी है। सन् १९१७ ई० में आपने जैन मध्यमा कलकत्ता विश्वविद्यालय से, और सन् १९१८ ई० में प्राचीन न्याय-मध्यमा बिहार विश्वविद्यालय से और सन् १९१९ में जैन न्यायतीर्थ की परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की थी।[3] सन् १९२४ ई० में आपने जाति-पाँति तोड़ने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में इन्दौर विद्यालय के संचालकों ने आपको जाति-पाँति का आन्दोलन बन्द करने या विद्यालय छोड़ने का नोटिस दिया। आपने त्याग-पत्र देकर सन् १९२६ ई० में विद्यालय छोड़ दिया। कुछ समय आर्थिक संकट रहा, फिर धीरे-धीरे कई पत्रों का सम्पादन भी आपने किया। आपने जाति-पाँति तोड़ने, समाज की हरएक कुप्रथा को नष्ट करने, विधवा-विवाह का प्रचार करने के

---

१. यूरोप के पत्र—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०, २७
२. लेखक के नाम आए स्वामी सत्यभक्तजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर
३. सम्मेलन के रत्न—सम्पादक सिद्धिनाथ दीक्षित 'सन्त', पृ० ४, प्रयाग

प्रचण्ड आन्दोलन किए। प्रतिवर्ष सैकड़ों रुपए खर्च करके गाँव-गाँव में प्रचार के लिए भ्रमण किया। लेखों, कहानियों, कविताओं और प्रवचनों का तूफान-सा ला दिया।[1]

आप धार्मिक व्यक्ति हैं। धार्मिक क्रान्ति के प्रयत्न में जो गम्भीर मनन-चिन्तन करना पड़ा उससे आप सर्वधर्म समभावी बन गए। तब आपने धर्म-समभाव, जाति समभाव विवेक और हर तरह के समाज-सुधार को आधार बनाकर सन् १९३४ ई० में सत्य-समाज की स्थापना की। १ मई सन् १९३६ ई० को जीविका के कार्य से निवृत्त होकर सत्याश्रम की स्थापना के लिए २ मई, १९३६ ई० को आप वर्धा आ गए।[2] आपने अपनी सम्पत्ति से सब धर्मों की मूर्तिवाला सर्वधर्म समभावी सत्य-मन्दिर, सत्येश्वर प्रेस, सत्य-सन्देश ग्रन्थमाला, ग्रन्थालय, रहने आदि के लिए सत्याश्रम का भवन बनवाया और सरकार से संस्था की रजिस्ट्री करवा दी। आपका सारा जीवन ज्ञानसाधना और सत्य-प्रचार की समस्या में बीता है, परन्तु १९३६ ई० से सत्याश्रम का जीवन तो घोर तपस्या का जीवन है। इनके व्यक्तित्व का पूर्ण विवरण लालजी भाई सत्यस्नेही ने दिया है। उन्होंने कहा है कि स्वामी सत्यभक्तजी के बारे में लिखा जाता है : "सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली विद्वान्, महान विचारक, तार्किक और अनुभवी, सफल सम्पादक, प्रचण्ड आलोचक, सुलेखक, सुकवि, कथाकार, नाटककार, मर्मस्पर्शी चुटकियों के लेखक, प्रखरवक्ता, वादवीर, सामाजिक और धार्मिक क्रान्तिकारी, महान् दार्शनिक और दर्शन-निर्माता, राजनीति और विश्व की अर्थ-व्यवस्था के मर्मवेत्ता, योजनापटु, विज्ञान और धर्म के······विज्ञानवेत्ता, अन्ध श्रद्धा के नाशक, विश्व की एकता के लिए बिलकुल नवीन, मानव-भाषा के आविष्कारक, लिपि और टेलीग्राफी के संशोधक, विश्व-प्रेमी, परम साधु, दृढ़ निश्चयी, मानसिक, वाचनिक और शारीरिक श्रम की मूर्त्ति, सत्येश्वर के पैगम्बर, स्वयं बुद्ध, एक नूतन धर्मतीर्थ के प्रवर्तक और युग-मानव हैं स्वामी-सत्यभक्त।"[3] इसी आधार पर उन्हें युगपैगम्बर की उपाधि से भूषित किया जाता है।

कृतियाँ—स्वामीजी ने जैन-धर्म पर भी एक लेखमाला लिखी है। आपने 'नई दुनियाँ' एवं 'संगम' पत्र भी निकाले है। इनके अतिरिक्ति हिन्दी यात्रा-साहित्य पर स्वामीजी के दो ग्रन्थ 'मेरी अफ्रीका यात्रा' एवं 'सत्यलोक-यात्रा' प्रकाशित हो चुके हैं।

मेरी अफ्रीका-यात्रा—स्वामीजी की यह पुस्तक सत्याश्रम, वर्धा से जुलाई सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुई थी। ३३३ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने अपनी अफ्रीका-यात्रा के सूक्ष्म और मनोरंजक वर्णनों के साथ-ही-साथ जीवन की

१. लेखक के नाम आप स्वामी सत्यभक्तजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर
२. वही—लेखक
३. स्वामी सत्यभक्त—लालजी भाई सत्यस्नेही, पृ० ७-८, सत्याश्रम वर्धा—१९५६

विभिन्न समस्याओं पर हुई चर्चाओं को भी मर्मस्पर्शी शैली में संगृहीत कर दिया है। सत्य प्रचार के लिए सन् १९५१ ई० के अन्त में आप अफ्रीका गए थे। वहाँ चार मास रहे। युगांडा और केन्या में आपके सौ से अधिक प्रवचन हुए। बेलजियम राज्य के रुहेंगिरि, नील नदी के उद्गम के पास जिंजा भी आप गए थे। उनकी यह यात्रा सत्य-प्रचारार्थ ही हुई थी। विविध स्थानों पर स्वामीजी ने जो चर्चा आदि की उसका विवरण भी इस यात्रा-पुस्तक में ही सम्मिलित है। इस प्रकार यह पुस्तक स्वामीजी के प्रवास-वर्णन से ही पूर्ण नहीं वरन् ज्ञान-चर्चा की दृष्टि से भी महत्त्व की है। स्वामीजी की यह यात्रा जल-मार्ग से हुई थी। वास्तव में स्वामीजी की यह पुस्तक न तो यात्रा की ही सर्वांगपूर्ण पुस्तक हो सकी है और न सत्य-समाज के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रतिफलन कर सकी है। फिर भी इस ग्रन्थ में अफ्रीका की यात्राओं का जो वर्णन दिया गया है वह मनोरंजक एवं विचारोत्तेजक है। नील नदी की जन्म-भूमि का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यह विक्टोरिया झील से निकलकर युगांडा में बहती है; फिर सूदान में प्रवेश करती है। सूदान के इस किनारे से उस किनारे तक उसके अन्तस्तल को प्लावित करती हुई सैकड़ों मील बहकर मिस्र में प्रवेश करती है। मिस्र में तो यह देवी की तरह पूजी जाती है। इसे मिस्र की ही नहीं अफ्रीका की गंगा कहना चाहिए।"[1]

सत्यलोक-यात्रा[2]—स्वामी सत्यभक्तजी की यह पुस्तक भी सत्याश्रम, वर्धा से नवम्बर, १९५२ ई० में प्रकाशित हुई थी। १४३ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने आध्यात्मिक जगत की धर्म समभावपूर्ण और निराशा में भी आशा तथा उल्लास पैदा करनेवाली मनोहर यात्रा का विवरण दिया है। यह स्वामीजी की मर्यादित भावुकता का परिणाम है। इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने स्वयं ही लिखा भी है—

"यह सत्यलोक यात्रा भावना को ईश्वरवाद के गुणों का सहारा देनेवाली, बुद्धि को अनीश्वरवाद के गुणों का स्वाद चखानेवाली और दोनों वादों के दोषों से जीवन को मुक्त रखनेवाली है।"[3] एक अन्य उद्धरण देखिए—

"स्फटिक की सीढ़ियाँ, गम्भीर होने पर भी जल-तल के नीचे चमकदार पृथ्वी तल के दर्शन, चारों तरफ से निकलनेवाली किरणें, और किरणों के द्वारा पदार्थों का अन्तर्बाह्य विश्लेषण, आदि बातें चकित करनेवाली थीं। मैं चकित होकर कुण्ड के सौन्दर्य और प्रभाव को देखता रह गया।"[4]

---

१. मेरी अफ्रीका यात्रा—स्वामी सत्यभक्त, पृ० ८४-८५

२. लेखक को यह पुस्तक स्वामीजी की व्यक्तिगत कृपा से प्राप्त हुई है।

३. सत्यलोक यात्रा (प्रस्तावना से), स्वामी सत्यभक्त, पृ० ७

४. सत्यलोक यात्रा—स्वामी सत्यभक्त, पृ० २५

कर्नल सज्जनसिंह

जीवनी—आपका जन्म नवम्बर सन् १६०० ई० में हुआ था। डेली कालेज, इन्दौर में रहकर सन् १६१२ ई० तक शिक्षा प्राप्त की। सन् १६१८ में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण होकर १ जुलाई, १६१६ से १ मार्च, १६४५ ई० तक ओरछा राज्य की सेवा करते रहे। मार्च १६५० में स्वर्गीय महाराज वीरसिंहदेव गद्दी पर बैठे और ये उनके प्राइवेट सेक्रेटरी बने। १६३० ई० में कन्ज़रवेटर बन-विभाग और १६३२ से माल मन्त्री तथा अगस्त सन् १६३६ ई० से १ मार्च १६४५ तक मुख्य मन्त्री के पद पर रहे। पेंशन हो जाने के पश्चात् ४ वर्ष नीमच में रहे और नवम्बर, १६४६ ई० से मंडसौर में ही रहते हैं। घर पर रहकर अपनी ४० एकड़ भूमि का कार्य देखते हैं। यात्रा की प्रेरणा ठाकुर साहब को अंग्रेजी की पुस्तकों से मिली। स्वर्गीय ओरछेश की कृपा से आपको यात्रा करने में बहुत सहायता मिली थी।"[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य में कर्नल सज्जनसिंहजी की एक पुस्तक 'लद्दाख यात्रा की डायरी' नाम से है। १८० पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १६५५ ई० में सस्ता-साहित्य-मण्डल, नई दिल्ली से हुआ था। इस पुस्तक की एक लम्बी कहानी है—सन् १६३६ ई० के जून की बात है। ठाकुर साहब उन दिनों ओरछा राज्य के दीवान थे। एक दिन शिकार से लौटे तो एक महिला ने उन पर चुटकी ली: "और सब ट्राफी आप हिन्दुस्तानियों के बस की है, पर लद्दाख का शिकार और उसमें भी योविस अमोन (जंगली भेड़न्यान) को मारने का बूता आपका नहीं है।" बस, उसी क्षण ठाकुर साहब ने ठान लिया कि ओविस अमोन का शिकार जरूर करना है, और उनका यह संकल्प १६३६ ई० में चरितार्थ हुआ। 'लद्दाख-यात्रा की डायरी' को हिन्दी यात्रा-साहित्य मे एक विशिष्ट स्थान मिलेगा। विशिष्ट इसलिए कि एक तो वह एक शिकारी की यात्रा-डायरी है, और इसमें १८,००० फुट की ऊँचाई पर शिकार खेलते समय के सब दाव-पेच वर्णित हैं, और दूसरे इसमें वह सब सामाजिक सूझ-बूझ मौजूद है जो कि एक साहित्यिक कृति में अपेक्षित है। कभी सिंहजी की न्यान, शापू तथा भरल का अजोट बांधते उनको ढूंकते और फिर उनके खून के चिह्न तथा खाद ढूंढते पाते हैं और कभी वह लद्दाख के गोम्बा और उनमें रहनेवाले लामा और चोमी एवं वहाँ के विकट आर्थिक जीवन की चर्चा कर रहे हैं। पुस्तक में कभी ठाकुर साहब तिब्बत की सबसे बड़ी झील पंगुगरसी (१६० मील लम्बी) के सौंदर्य का बखान करते हैं और दूसरे ही क्षण वह उन हठधर्मी आर्यसमाजियों को आड़े हाथों लेते हैं जिन्हें वहाँ की गरीबी से कोई सरोकार नहीं और जो उनकी उस दीन अवस्था की उपेक्षा करते हुए उनको हिन्दू बनाने की फिराक में रहते हैं। पुस्तक में यह सब इतने सरल सुगम ढंग से कहा गया है कि कृत्रिमता लेशमात्र भी न आ पाई

---

१. लेखक के नाम आए कर्नल सज्जनसिंह के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

है। इस पुस्तक का सर्वोपरि गुण इसकी ऋजुता है। लेखक ने जो देखा-सुना उसको बिना तोड़े-मरोड़े यहाँ वर्णन कर दिया है। पुस्तक पढ़ने में एक अच्छे-खासे रोमांचक उपन्यास का आनन्द देती है। इसमें उन्होने अपनी शिकारी यात्रा का विशद विवरण दे दिया है। यह पुस्तक लद्दाख प्रदेश की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत कर देती है। प्रभावशाली शैली में लेखक के वर्णन बहुत ही रोचक बन पड़े हैं। १६ वर्ष पूर्व की यात्रा को लेखक ने पुस्तक का आकार दिया है। इससे पूर्व लद्दाख-यात्रा की यह डायरी श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् (टीकमगढ़) से निकलनेवाले पाक्षिक पत्र 'मधुकर' में जून सन् १९४३ से १९४७ ई० तक लगातार निकलती रहती थी।

ठाकुर सज्जनसिंहजी की इस पुस्तक के अतिरिक्त एक दूसरी शिकार-सम्बन्धी यात्रा की पाण्डुलिपि भी तैयार है, पर अभी प्रकाशित नहीं हो सकी है।[1] लद्दाख-यात्रा की डायरी का एक उद्धरण देखिए—

"सामान के तम्बू लग चुके थे और आग का धुआँ हो रहा था। वह छोल तक का तालाब अब सुन्दर दिखाई दे रहा था। किनारे पर याक (सुरागाय) चर रही थीं। लगभग चार बजे हम भी तालाब के किनारे डेरों पर पहुँच गए। हमने सुरागायें पहले-ही-पहले देखी थी। फोटो लिए। जल का रंग गहरा नीला दिखाई दे रहा था और चारों ओर की जल के सहारे की छोटी-छोटी वनस्पति के रंग-बिरंगे फूल ऐसे मालूम दे रहे थे मानो अच्छा कालीन बिछा था।"[2]

प्रोफेसर मनोरंजन

जीवनी—हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रो० मनोरंजन का पूरा नाम मनोरंजन-प्रसाद सिंह है। आपका जन्म शाहाबाद जिले के प्रसिद्ध गाँव डुमराँव में विक्रम संवत् १९५७ (सन् १९०० ई०) में कार्तिक कृष्ण द्वितीया को हुआ था। आप सन् १९२८ ई० में एम० ए० उत्तीर्ण कर कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में अध्यापक नियुक्त हुए। एक ही वर्ष बाद सन् १९२९ में काशी विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर होकर चले गए। काशी विश्वविद्यालय में आपने सन् १९३९ ई० तक अध्यापन कार्य किया। उसी वर्ष राजेन्द्र कालेज (छपरा) में प्रिंसिपल हुए और तब से आप उसी पद पर हैं।"[3] आप हिन्दी के अनन्य प्रेमी और देशभक्त हैं। राष्ट्रीयता से पूर्ण होने के कारण असहयोग-आन्दोलन के समय आपकी लिखी कविताएँ लोगों का कण्ठहार बन गई थीं। अध्यापन कार्य में रहकर आप और भी अधिक सरल प्रकृति के हो गए हैं। व्यंग्य

१. लेखक के नाम आए कर्नल सज्जनसिंहजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर
२. लद्दाख-यात्रा की डायरी—कर्नल सज्जनसिंह, पृ० ७२
३. देखिए—बिहार की साहित्यिक प्रगति—बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, १८वें अधिवेशन का अभिभाषण, १२ अप्रैल, १९४२, द्वि० सं०, पृ० १२१, पटना—१९५६

और विनोदप्रियता में आप निपुण हैं। साहित्य में आपने बहुत कार्य किया है। मधुर कण्ठ-स्वर ने आपके व्यक्तित्व को और भी ऊँचा पद प्रदान किया है। आप सन् १९४२ ई० में बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अठारहवें अधिवेशन (मोतीहारी) के अध्यक्ष हुए। उक्त सम्मेलन के पूर्णियाँ अधिवेशन में आप कवि-सम्मेलन के भी सभापति हो चुके हैं। भोजपुरी कवि के रूप में आप बहुत प्रसिद्ध हैं। आप बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की सामान्य समिति के भी मान्य सदस्य हैं।

कृतियाँ—आपकी लिखी हुई कई पुस्तकें हैं। पहली रचना सन् १९१० ई० में साप्ताहिक 'शिक्षा' में छपी। देश के असहयोग-आन्दोलन के समय आपकी लिखी 'फिरंगियों' शीर्षक भोजपुरी कविता जन-जन के कण्ठ में बस गई और उससे आपकी ख्याति खूब हुई। फिरंगियों के बाद आपकी दूसरी रचना 'कुँअरसिंह' प्रकाशित हुई। इसका एक छन्द ही उदाहरण के लिए यथेष्ट है—

सब कहते हैं कुँअरसिंह भी बड़ा वीर मर्दाना था,
अस्सी वर्षों की हड्डी में जागा जोश पुराना था।

इसके प्रकाशन से आपकी स्थिति हिन्दी संसार में और भी अधिक फैल गई। आपके साहित्यिक निबन्ध और संस्मरण जो बड़े सरस और मनोरंजक हैं, पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हैं। आपकी कविता की भाषा बहुत सरल और मुहावरेदार होती है, किन्तु उसमें व्यंजित भाव बड़े सरल एवं अनूठे होते हैं। आपके विडम्बना-काव्य हिन्दी में हास्य रस के बड़े रोचक नमूने हैं। आप अपनी कविताओं को बहुत ही मधुर स्वर में हृदयग्राही ढंग से सुनाते हैं।

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर प्रोफेसर मनोरंजनजी की केवल एक पुस्तक प्रकाशित है। 'उत्तरा खण्ड के पथ पर' नामक यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३६ ई० में पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना से हुआ था। यह सुन्दर साहित्यमाला का २३वाँ पुष्प है। जब यह पुस्तक लिखी गई थी, तब हिन्दी में पर्वत-यात्रा पर कुछ इनी-गिनी यात्रा-पुस्तकें ही प्राप्य थीं। यह पुस्तक यात्री की दिनचर्या के रूप में लिखी गई है। सहृदय लेखक कवि होने के कारण अपनी कविता की बानगी भी यत्र-तत्र प्रसंगानुकूल देते चलते हैं। कविताओं के कारण यह पुस्तक बड़ी ही मनोरंजक एवं सरस हो गई है। इसमें मनोरंजनजी की सन् १९३३ ई० की ग्रीष्मावकाश की बदरी-केदार की पद-यात्रा का सुन्दर वर्णन निहित है। मनोरंजनजी की इस पुस्तक के कुछ अंश काशी के साप्ताहिक 'सनातनधर्म' और कलकत्ता के मासिक 'विशाल-भारत' में भी प्रकाशित हुए थे। इस पुस्तक के लिए एक वाक्य में यह कहा जा सकता है: "यह उपन्यास की तरह मनोरंजक और कोश की भाँति उपयोगी है।" एक उद्धरण देखिए—

"मैंने एक बार बाहर आकर देखा। चाँदनी खिली हुई थी। रजनी नीरव

थी, निस्तब्ध। पहाड़ की ऊँची चोटी पर चाँद के प्रकाश में पेड़ों के पत्ते हिल रहे थे। पास की गंगा की चपल तरंगों पर चन्द्रमा की किरणें नाच रही थीं और सामने जा रहा था धुँधला-सा अस्पष्ट उत्तराखण्ड का पथ।[1]

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

जीवनी—आपका जन्म कार्तिक कृष्ण ८ अष्टमी सं० १९५९ (सन् १९०२ ई०) में अलीगढ़ जिले की इगलास तहसील के अन्तर्गत अहिवासी नगला गाँव में हुआ था।[2] ब्रह्मचारीजी बहुत छोटी अवस्था में ही अपने घर-बार को छोड़कर विरागी बन गए थे। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल तथा बुलन्दशहर जिले के खुर्जा नामक नगर में अध्ययन करने के उपरान्त आपने राजनीति मे प्रवेश किया। सन् १९२०-२१ ई० में जब असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हुआ तो ब्रह्मचारीजी ने गाँव-गाँव घूमकर प्रचार कार्य किया। उसी आन्दोलन मे आप सर्वप्रथम जेल भी गए। वहाँ आपका प्रान्त के राजनैतिक नेताओं से पूर्ण परिचय हुआ। जेल-यात्रा से मुक्त होकर आप अपनी शास्त्रों की योग्यता बढाने काशी चले आए और वही आप साहित्य-सेवा करते रहे। कुछ दिन आप काशी के दैनिक 'आज' मे भी रहे। आपको साहित्य-क्षेत्र में सन्तोष नहीं हुआ। भगवत-प्राप्ति की तीव्र इच्छा से आप सब-कुछ छोड़कर हिमालय में तपस्या करने और सम्पूर्ण जीवन वही बिताने के उद्देश्य से गंगा के किनारे-किनारे पैदल चल दिए। ऋषिकेश तक पैदल ही गए। फिर नर्मदा तट पर कुछ दिन बिताकर अन्त मे तीर्थराज प्रयाग मे आ गए और सन् १९२६-२७ ई० से अब तक वहीं विराजमान है। सन् १९३१ ई० में झूसी में आपने एक 'युद्धवीर आश्रम' की स्थापना की। वही से आपने 'युद्धवीर' पत्र निकाला, जो पहले अर्द्ध साप्ताहिक था, पीछे दैनिक हो गया। सन् १९३२ ई० में आप पहाड़ों मे वास करने के लिए गंगा किनारे-किनारे प्रयाग से बदरीनाथ तक पैदल ही गए। वहाँ आपने पाँच खण्डों में 'श्री चैतन्य-चरितावली' पुस्तक लिखी जिससे आपकी बड़ी ख्याति हुई। सन् १९३६-३७ मे ई० में झूसी में आपने एक अखिल भारतवर्षीय विराट महासंकीर्तन यज्ञ कराया। झूसी मे आपका बड़ा ही रमणीक आश्रम है, वह हरा-भरा तथा लता-वृक्षों से परिपूर्ण है। अभी तक आपने कई बार कैलाश से मानसरोवर तक की यात्राएँ की हैं। आजकल भी आप झूसी में ही रहते हैं।[3]

जीवन के ध्येय के लिए ब्रह्मचारीजी कहा करते हैं : "जीवन अग्निमय होना

---

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० २७

२. लेखक के नाम आए व्यवस्थापक, संकीर्तन भवन झूसी, इलाहाबाद के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. लेखक के नाम आए श्री ब्रह्मचारीजी के संक्षिप्त परिचय के आधार पर—इस संक्षिप्त परिचय पत्रिका के लेखक प्रो० राजेन्द्रसिंह एवं श्री कृष्णानन्द जी मिश्र हैं

चाहिए, जिस जीवन में उत्साह नहीं, साहस नहीं, निर्भयता नहीं, धर्म के लिए सर्वस्व त्यागने की शक्ति नहीं वह जीवन, जीवन नहीं कहा जा सकता। जीवन तो वह है जिसमें दृढ़ता हो, कर्त्तव्य की भावना हो और अपने को निछावर करने का, मर-मिटने का अदम्य उत्साह भरा हो। वास्तव में उनका जीवन अग्निमय है, वे निरन्तर अपने साधन, भजन और लोक-सेवा के कार्यों में संलग्न रहते हैं। वे बार-बार कहा करते : "मामनुस्मर युद्धाय च" भगवान् का स्मरण भी करो और साथ ही युद्ध भी करते रहो। संक्षेप में वे एक कुशल सम्पादक, सिद्धहस्त लेखक, राष्ट्रकवि, मँजे हुए देशसेवक, गम्भीर राजनीतिज्ञ, सर्वमान्य धार्मिक नेता, परम भावुक भक्त, सरल सरस संत, व्यवहार-कुशल और अथक परिश्रम करनेवाले महान् व्यक्ति हैं।[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर ब्रह्मचारीजी की एक पुस्तक 'बदरीनाथ-दर्शन'[2] नाम से है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण शान्तानन्दनाथ, ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार से प्रकाशित हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण संवत् २०११ में संकीर्तन-भवन, झूसी प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में ब्रह्मचारीजी ने श्री बदरीनाथ-यात्रा का विवरण बड़े विस्तार और पूरे ब्यौरे के साथ दिया है। पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में बदरीनाथ तथा तत्सम्बन्धी तीर्थों का माहात्म्य पौराणिक आख्यानों के आधार पर बताया गया है। ४०६ पृष्ठों की इस पुस्तक में यह खण्ड १६५ पृष्ठों का है। इससे इसके विस्तार का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पौराणिक कथाएँ यों भी रोचक होती हैं, और उस पर श्री ब्रह्मचारीजी के वर्णन की शैली भी आकर्षक है। दूसरे खण्ड में इन तीर्थों का परिचय कराया गया है। इसका आधार भी भौगोलिक एवं पौराणिक है। साथ ही रावलों के कार्यकाल एवं वहाँ के वर्तमान प्रबन्ध पर भी दृष्टिपात किया गया है। पुस्तक के अन्तिम खण्ड में ब्रह्मचारीजी की बदरीनाथ आदि उत्तराखण्ड के तीर्थों की यात्रा का सविस्तर विवरण दिया है। इस प्रकार इस पुस्तक से न केवल तीर्थयात्रियों को ही विशेष जानकारी प्राप्त होगी, वरन् धार्मिक जिज्ञासुओं को भी लाभ होगा। ब्रह्मचारीजी ने यात्रा-सम्बन्धी सभी बातें अधिकतर विस्तार और प्रामाणिक ब्यौरे के साथ दी हैं। इस ग्रन्थ से यात्रियों का पथ-प्रदर्शन हो सकता है। लोकपाल-यात्रा में प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मचारीजी ने लिखा है—

"यह स्थान अत्यन्त शीतल है। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। इतने ऊँचे चढ़ने पर भी ऊँचे पहाड़ों का अन्त नहीं। श्री बदरीनाथ के पर्वत, कागभुशुण्ड की चोटी, यहाँ से सब दिखाई देते हैं। यहाँ खड़े होकर जब मनुष्य चारों ओर बर्फ से ढके हुए पहाड़-ही-पहाड़ देखता है तो उसकी दृष्टि चकाचौंध हो जाती है।"[3]

---

१. प्रो० राजेन्द्रसिंह एवं श्रीकृष्णानन्द मिश्र

२. लेखक को यह पुस्तक श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी की कृपा से ही प्राप्त हो सकी है

३. श्री बदरीनाथ दर्शन—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ० १७७

श्री केदाररूप राय

जीवनी—आपका जन्म ६ अक्तूबर, १६०२ ई० को जोधपुर के एक कुलीन-वंश में हुआ था। आपके पिता स्वर्गीय विजयरूपजी माथुर तत्कालीन जोधपुर-राज्य के कोषाध्यक्ष थे। श्री केदाररूपजी के शिशुकाल में ही इनके पूज्य पिताजी ने सांसारिक जीवन से विरक्त होकर संन्यास ले लिया था। आपकी माता अत्यन्त धर्मनिष्ठ थीं। इस तरह पिता के वरद् हस्त के अभाव में माता के निर्देशन में ही आपने शिक्षा प्राप्त की। आपकी आरम्भिक शिक्षा स्थानीय 'सर प्रताप हाई स्कूल' में हुई। बाद में आपने 'दरबार हाई स्कूल' में शिक्षा ग्रहण की। अपनी हाई-स्कूल तक की शेष शिक्षा आपने क्रमशः 'रामजस हाई स्कूल, दिल्ली' और 'अंजुमन हाई स्कूल, बम्बई' में पूरी की। इसके बाद आर्थिक स्थिति के प्रतिकूल प्रभाव के कारण आपको सरकारी नौकरी का आश्रय लेने को बाध्य होना पड़ा। १ अक्तूबर १६२१ ई० को आपने जोधपुर राज्य की सेवा आरम्भ की। आरम्भ में आपने निम्नलिखित विभागों में उल्लेखनीय कार्य किया—

१. कन्ट्रोलर, हिज़ हाइनेस—जोधपुर (हाउसहोल्ड)
२. प्राइवेट सेक्रेटरी—टू हिज़ हाइनेस—जोधपुर
३. मिनिस्टर—इन वेटिंग टू हिज़ हाइनेस—जोधपुर

उक्त विभागों में कार्य करने के पश्चात् आपने जोधपुर राज्य के अन्य दायित्वपूर्ण पदों का कार्य-भार सँभाला। सन् १६३१ ई० में आप जोधपुर अतिथि-गृह के अधीक्षक बना दिए गए। कालान्तर में आपने 'स्टेट होटल' और 'स्टेट गैरेज' के अधीक्षक के पद पर भी कार्य किया। सन् १६४३ ई० में आप जोधपुर नगर-पालिका के मन्त्री नियुक्त किए गए। बाद में स्थानीय संस्थान (लोकल बाडीज़) के निर्देशक (डाइरेक्टर) के रूप में भी आपने कार्य किया। सन् १६४७ ई० में जोधपुर राज्य के मुख्य चुनाव-अधिकारी पद पर भी रहे। आपने राजस्थान में सर्व-प्रथम वयस्क मताधिकार के आधार पर जोधपुर नगरपालिका के प्रथम चुनाव में भी आफिसर इन्चार्ज के रूप में कार्य किया। बाद में आप जोधपुर रेडियो-स्टेशन के डाइ-रेक्टर बना दिए गए। आपके कार्य-कौशल से प्रसन्न होकर जयपुर महाराजा ने १६३६-३७ ई० में अपना उपसैनिक सचिव नियुक्त कर दिया। सन् १६४७ ई० में आपको जयपुर महाराजा की रजत जयन्ती के अवसर पर आफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी नियुक्त किया गया। यही पद आपको मार्च, '५६ में राजस्थान के निर्माण के अवसर पर भी मिला।

राजस्थान प्रान्त के बनने के बाद आपने जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही आदि राज्य के उपचुनाव अधिकारी का कार्य भी किया। सन् १६५३ ई० में आप उदयपुर डिवीजन के सिविल सप्लाइज़ विभाग, राजस्थान के डिप्टी-कमिश्नर बनाए गए। दिसम्बर १६५३ ई० में आपको इसी विभाग में इसी पद के अधीन हैडक्वार्टर

जयपुर भेज दिया गया। जनवरी १६५६ ई० में आपको सिविल सप्लाइज़ का प्रशासकीय अधिकारी बना दिया गया। वर्तमान समय में अप्रैल, '५७ से आप राजस्थान के राज्यपाल के उपसचिव हैं।[1]

आप आरम्भ से ही व्यवहार-कुशल और कार्य-प्रवीण रहे हैं और आपका वर्तमान पद आपमें विद्यमान इसी योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिन संघर्षों में से होकर आपकी प्रतिभा निखर सकी है, वह आपकी उत्कट लगन और निःस्वार्थता का श्रेष्ठ निदर्शन है। विकास और उन्नति के जिन संघर्षों में से होकर आपको गुजरना पड़ा है उसका एकमात्र श्रेय आपके प्रतिभावान व्यक्तित्व और व्यवहार-कुशलता को है। आपके इसी प्रतिभावान व्यक्तित्व और कार्यक्षमता की योग्यता के कारण स्वयं महाराजा साहब ने आपको विलायत-यात्रा के लिए भेजा था।

कृतियाँ—केदाररूप रायजी द्वारा लिखित हिन्दी-यात्रा साहित्य पर 'हमारी विलायत-यात्रा' नामक एक पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १६२६ ई० में प्रभाकर प्रिण्टिंग प्रेस, जोधपुर (मारवाड़) में मुद्रित हुई थी। इसको लेखक ने स्वयं ही प्रकाशित कराया है। विलायत-यात्रा सम्बन्धी २५६ पृष्ठों की इस पुस्तक का सम्पादन श्री प्रतापचन्द्र माथुर ने किया है। इसमें लन्दन-यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया गया है; साथ ही लन्दन शहर और वहाँ के प्रायः सभी दर्शनीय स्थानों पर प्रकाश डाला गया है। यह यात्रा २१ मार्च, १६२५ ई० से प्रारम्भ हुई थी और १० अक्तूबर १६२५ को समाप्त। वर्णनात्मक शैली में लिखी गई यह यात्रा सुन्दर बन पड़ी है। इसमें बम्बई से जहाज द्वारा यात्रा प्रारम्भ करने से लेकर एडन, लाल सागर, स्वेज़, सय्यद बन्दर, इटली की पर्वतश्रेणी, मार्सेल्स, केले, इंगलिश चैनल, बिम्बलडन तक का विस्तृत वर्णन दिया गया है। फिर लन्दन के दृश्यों में—बाजार, सड़कें, ब्रोम्पटन, पिकेडली, स्ट्रीट्स, ब्रिज, सभा, बकिंघम पैलेस, गिरजाघर, पार्क, चिड़ियाखाना, म्यूज़ियम, होटल तथा चाय की दुकानें, सवारियाँ, रेलवे, खेल-तमाशे, नाटक-सिनेमा, समुद्र शोभा, भोजन और आमोद-प्रमोद आदि सभी दृश्यों का आनन्द-लाभ कर इन वर्णनों को अलग-अलग लिपिबद्ध किया गया है। लेखक स्काटलैण्ड भी घूमा है और उसका वर्णन भी कुछ पृष्ठों में दे दिया गया है। चित्रों से पुस्तक और भी महत्त्वपूर्ण बन गई है। समुद्र-शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"आकाश और समुद्र के पाट जुड़े हुए-से मालूम होते थे जिनके बीच, समुद्र जल के भीतर, छिपते हुए सूर्य का प्रतिबिम्ब और फिर अरुण अस्ताचल की परछाईं बहुत ही भली मालूम होती थी। यों तो शाम का समय प्राकृतिक शोभायुक्त ही होता है, परन्तु समुद्रगत शाम की शोभा कुछ निराली ही होती है। वह लहरों का

---

१. लेखक के नाम आए (जोधपुर के) रामचन्द्र पवार के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

उठना और विलीन हो जाना, वह गगनमण्डित लालिमा का पानी में क्रीड़ा करना और ठण्डी-ठण्डी वायु का चलना व जिधर दृष्टि डालिए उधर ही उसी नीलवर्ण समुद्र-ही-समुद्र का दिखाई देना, अनुपम शोभा व आनन्द दे रहा था।"[1]

पण्डित सूर्यनारायण व्यास

जीवनी—पद्मभूषण ज्योतिर्विज्ञानाचार्य पण्डित सूर्यनारायण व्यास, उज्जयिनी नगरी के सिद्धान्तवागीश विद्वद्वर महामहोपाध्याय (स्व०) पं० नारायणजी व्यास के ज्येष्ठ पुत्र हैं। पं० नारायणजी व्यास का नाम ही इस प्रदेश के प्रत्येक व्यक्ति को असीम श्रद्धा और समादर से पूर्ण कर देता है और प्रखर प्रतिभा एवं विद्वत्ता का प्रतीक बना हुआ है। इन महर्षि प्रतिम मनीषी के यहाँ पण्डित सूर्य-नारायणजी का जन्म ११ फरवरी, १९०२ ई० को प्रकृति की सुकुमार देन के रूप में हुआ था। शैशव-काल से ही अपने अभिजात कुल की परम्परा के अनुरूप इनकी प्रतिभा प्रकाश में आई है। व्यासजी को देश के (विलीन) विशिष्ट राजा-महाराजाओं से (जिनमें काश्मीर, बड़ौदा, ग्वालियर, होल्कर, जामनगर, उदयपुर, प्रतापगढ़, धार, भोपाल, रतलाम आदि प्रमुख है) सदैव स्नेह और सम्मान मिला है। इस पर भी सम्मान और वैभव की विशिष्टता ने आपको दिग्भ्रान्त नहीं किया। जनसाधारण के सभी वर्गों से समान रूप से आपका सम्पर्क रहता आया है। पण्डितजी देश-प्रसिद्ध विद्वान्, विख्यात लेखक, संशोधक और विविध भाषाओं के मर्मज्ञ हैं। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आपने बहुत सेवाएँ की हैं। सन् १९४१ ई० में आपको मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सर्वप्रथम अध्यक्ष निर्वाचित होने का सम्मान सुलभ हुआ था और सन् १९४३ ई० में आप अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के हरिद्वार अधिवेशन में विज्ञान-परिषद् के अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। सन् १९३० ई० के साहित्यिक जागरण में भी समस्त प्रान्त में कार्य किया। १९३४ ई० के सत्याग्रह में आपने निर्भीकता से कार्य किया। आजकल व्यासजी साहित्य-साधना में अपना समय उज्जैन-स्थित अपने भारती-भवन में व्यतीत करते हैं, जो उज्जैन के आगन्तुकों के लिए एक तीर्थ-स्थान बना हुआ है।[2] व्यासजी व्यापक अध्ययन तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के साथ ही मनोमोहक व्यक्तित्व रखते हैं। प्रकाश-स्तम्भ की भाँति पुरुषार्थ और स्वाभिमान ही व्यासजी के अवलम्ब रहे हैं। उनमें मानवता और कला का विकास भी उच्चस्तर पर हुआ है। आरम्भ से ही ये राष्ट्रीय-भावना से प्रभावित रहे हैं। इतिहासप्रिय हैं और ऐतिहासिक साहित्य से मोह है। ज्योतिष

---

१. हमारी विलायत यात्रा—केदाररूपराय, पृ० १०

२. लेखक के नाम आए पं० सूर्यनारायण व्यासजी के व्यक्तिगत पत्रों से एवं व्यासजी द्वारा लेखक के नाम भेजे गए ५५वीं वर्ष-ग्रन्थि के उपलक्ष में अभिनन्दन-समिति, उज्जयिनी द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त परिचय के आधार पर

पर पूर्ण अधिकार है और इससे सम्बन्धित अनेकों लेख भी लिखे हैं। मार्च १९४३ से जनवरी १९५५ ई० तक 'विक्रम' पत्रिका का लगातार सम्पादन किया जिसमें १६ पृष्ठों का सम्पादकीय लेख सदैव निकलता रहा। आज भी आपके पास अप्रकाशित बहुत-सा साहित्य लिपिबद्ध पड़ा हुआ है। परन्तु छपाने का मोह न होने के कारण वह अप्रकाशित है।"[1] आप में मौलिक चिन्तन है, और पुरातन और अभिनव साहित्य में समान अभिरुचि है। आप देश के गौरव को बढ़ानेवाली प्रवृत्तियों में सदैव अग्रणी रहे हैं, विख्यात विद्वान् स्वर्गीय जायसवाल की भाँति प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री ज० स० करन्दीकरजी ने 'टाइम्स आफ इण्डिया' में बहुत सही कहा था : "व्यासजी जीवित विश्वकोष हैं।" इसी प्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में आपके द्वारा सम्पादित तथा संचालित 'विक्रम' (मासिक) ने जो यश, प्रतिष्ठा और मौलिक प्रतिभा का वर्चस्व प्रतिष्ठित किया वह अविस्मरणीय है। साहित्य-क्षेत्र के सभी मनीषियों, पत्रकारिता के आचार्यों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। विक्रम और कालिदास आपके प्रिय विषय हैं, इन पर आप अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं। इतिहास-प्रथित नगरी अवन्ति में उत्पन्न होने तथा ऐतिहासिक वंश से सम्बन्धित होने के कारण आपका मालव-भूमि के प्रति विशेष अनुराग स्वाभाविक ही है। आप उज्जैन में स्थापित 'विक्रम विश्वविद्यालय' के मूल प्रेरक तथा प्रतिष्ठापक हैं। साथ ही विक्रम कीर्ति मन्दिर और कालिदास स्मृति मन्दिर की स्थापना में भी पण्डितजी का प्रयत्न रहा है। व्यासजी मालव लोक-साहित्य परिषद् के अध्यक्ष हैं, नागरी प्रचारिणी सभा के स्थायी सदस्य हैं। लगभग ४० वर्षों से लेखन-कार्य कर रहे हैं। लगभग २,५०० लेख और अन्य ग्रन्थ लिखकर साहित्य-क्षेत्र में व्यासजी ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। अपने कार्य की सच्चाई, विद्वत्ता, निर्भीकता, निर्लिप्तता, स्वाभिमान आदि के कारण व्यासजी का नगर और प्रदेश में प्रमुख स्थान है। यश और प्रतिष्ठा विस्तृत हैं। उज्जयिनी अतीत काल से विद्वानों, कवि-कोविदों और महापुरुषों को जन्म देती रही है, उस यश की परम्परा को व्यासजी आज भी अक्षुण्य बनाए हुए हैं।[2]

कृतियाँ—व्यासजी ने कई पुस्तकें लिखी है, परन्तु हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी केवल एक पुस्तक 'सागर-प्रवास' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४० ई० में पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना से हुआ था। पुस्तक में व्यासजी ने सन् १९३७ ई० में किए गए स्विटज़रलैण्ड, आस्ट्रिया, जर्मनी, हालैण्ड, फ्रान्स, इटली सारे यूरोप का भ्रमण जिसको उन्होंने स्वयं देखा है, वर्णित किया है। इसके साथ ही व्यासजी ने एडन, पोर्ट सूडान, स्वेज कैनाल, पोर्ट सईद, भूमध्य सागर, मार्सेल्स, जिनेवा, भूरिक, सेल्सबर्ग, लूसर्न, बन और लूजान के सौन्दर्य के जीते-जागते

---

१. लेखक द्वारा लिए गए व्यक्तिगत इन्टरव्यू के आधार पर—३ मार्च, १९५९—उज्जैन

२. पं० सूर्यनारायण व्यास के व्यक्तिगत सम्पर्क एवं वार्तालाप के आधार पर—
उज्जैन ३ मार्च, १९५९

चित्र भी अपने ग्रन्थ में लिपिबद्ध कर दिए हैं। पण्डितजी का व्यक्तित्व पुस्तक में बड़े सुन्दर रूप से विकसित हुआ है। आपमें आत्म-गौरव है, स्वत्व-प्रेम है, सादगी है, सरलता है और है कुत्सित मनोवृत्तियों के प्रति घृणा। आपकी भ्रमण-सम्बन्धी प्रत्येक बात से सूक्ष्म निरीक्षण की योग्यता झलकती है। आपने 'सागर-प्रवास' में भारतीय आत्माभिमानी रूप को सिद्ध कर दिया है। यूरोप जाकर भी स्वतन्त्र विचारधारा का व्यक्ति धोती, कुर्त्ता, टोपी और शाकाहार का प्रयोग वे रोक-टोक कर सकता है। प्रकृति के आप परम उपासक हैं। समुद्र पर तरंग-विहार, आकाश में राकेश की सुषमा तथा तारों की झिलमिल, गगनचुम्बी पर्वतों पर हिम अथवा हरीतिमा का रम्य आलोक, स्रोतों का निरन्तर मधुर संगीत ऐसे ही अनेक वर्णनों से पुस्तक ओत-प्रोत है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में कर्नल सर कैलाशनारायण हक्सर, सी० आई० ई० ने कहा है: "पण्डितजी की यूरोप-यात्रा के समय (सन् १९३७ ई०) की राजनीतिक परिस्थिति पुस्तक के महत्त्व को विशेष रूप से बढ़ाती है। इटली एबीसीनिया को हड़प चुका है। पुस्तक एक ऐसे यूरोप का चित्र है जो उस रूप में देखने में कभी न आएगा।"[१] महाराजकुमार मानसिंह ने पुस्तक की विशेषता का वर्णन करते हुए पुस्तक में लिखा है: "सागर-प्रवास जैसा सुन्दर नाम है वैसी ही सुन्दर यह पुस्तक भी है और जैसी इसकी भाषा मधुरता से भरी हुई है वैसी ही यह सुन्दर चित्रों से भी परिपूर्ण है। अलावा इसके जिस प्रकार सागर में अनेक लहरें देखने में आती हैं, उसी प्रकार यह पुस्तक भी विचाररूपी रंगों का समुद्र है। आश्चर्य यह होता है कि लेखक महोदय ने तीन-चार मास की यात्रा में इतना देख डाला और केवल देखने का ही नहीं किस बारीक दृष्टि से देखा जो पढ़ते समय पाठक के सामने ज्यों-के-त्यों आ जाते है।"[२]

पुस्तक के सम्बन्ध में व्यासजी ने स्वयं ही लिखा है: "पहले मैंने यात्रा के अनुभवों को 'स्वराज्य' में लिखना शुरू कर दिया था। यह वर्णन अब भी अधूरा है, केवल आस्ट्रिया से स्विटज़रलैण्ड तक का ही। स्वराज्य के अतिरिक्त कुछ लेख 'सुधा' और 'सरस्वती' में भी निकले थे। इस पुस्तक में उन्हींको संगृहीत कर चार-पाँच नए लेखों के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।"[३] व्यासजी के कुछ अन्य लेख मसूरी-यात्रा पर भी निकल चुके हैं। आल्प्स पर्वतमालिका का प्राकृतिक दृश्य उपस्थित करते हुए व्यासजी ने लिखा है:

"उन पर्वतमालाओं पर भी वही प्रकृति की अभिरामता का स्वर्गीय दृश्य उपस्थित था। लक्षावधि बिजलियाँ, सुन्दर घनी हरियाली और विविध रग के बड़े-

---

१. सागर-प्रवास की भूमिका से उद्धृत—ले० सूर्यनारायण व्यास

२. वही

३. वही

छोटे भवन बने हुए थे। यह हिममण्डित मुकुटधारिणी आल्प्स पर्वतमालिका हरित वनराजि में ऊपर से नीचे तक सहस्रशः वास-भवनों को अपने हृदय-प्रदेश में नगीनों की तरह जड़े हुए है। और रात में तो आकाश का समस्त नक्षत्रसमूह मानों इनसे होड़ लगाने इस जगह उतर आता है।"[१]

श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी'

जीवनी—बेनीपुरीजी का जन्म मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले के बेनीपुर गाँव में पौष कृष्ण पंचमी शनिवार, विक्रम संवत् १९५८, जनवरी १९०२ ई० में हुआ था। आपके पिता श्री फूलवन्तसिंह और पितामह श्री यदुनन्दनसिंह साधारण किसान थे। इनके माता-पिता का बचपन में ही स्वर्गवास हो गया था। इनकी शिक्षा का आरम्भ बेनीपुर से ही हुआ। बेनीपुरीजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी ननिहाल वंशीपचरा में हुई थी। आप भिन्न-भिन्न स्कूलों में अध्ययन करते हुए जब मैट्रिक में पहुँचे तो असहयोग-आन्दोलन छिड़ जाने के कारण सन् १९२० ई० में पढ़ाई छोड़ बैठे। आप प्रारम्भ से ही तुलसीदास-कृत रामचरितमानस का पारायण करते थे और उसीके फलस्वरूप आपकी रुचि साहित्य की ओर हुई। प्रारम्भिक प्रवृत्ति कविता की ओर ही हुई। आपने प्राचीन काव्यों का अध्ययन स्वतः किया। आपका रचनाकाल संवत् १९८० से आरम्भ होता है। १५ वर्ष की आयु में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन से विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और इसके पूर्व से ही अपनी कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करा रहे थे।[२] बेनीपुरीजी हिन्दी-साहित्य के प्रेमी और देश-भक्त हैं। आपका साहित्यिक कार्यक्षेत्र विशाल है। आप सफल सम्पादक, सिद्धहस्त लेखक और प्रसिद्ध समाज-सेवक हैं। गौरांग-प्रभुओं के समय में आपने बारह बार जेल-यात्राएँ कीं। साढ़े-सात वर्ष जेल में बिताए।[३] तरुण भारत, किसान-मित्र, गोलमाल, बालक, युवक, कैदी, लोक-सग्रह, कर्मवीर, योगी, जनता, तूफान, हिमालय, जनवाणी, चुन्नू-मुन्नू आदि पत्र-पत्रिकाओं का आपने सम्पादन किया है। आप बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जन्म से ही, उसके प्रधान संचालकों में रहे हैं। पाँच वर्ष तक सम्मेलन के प्रधान मन्त्री पद पर रहे और सन् १९५१ ई० में इसके बाईसवें अधिवेशन (आरा) के अध्यक्ष हुए थे। आपके मन्त्रित्व काल में ही सम्मेलन-भवन का सर्वांगपूर्ण निर्माण हुआ और सम्मेलन की ओर से छोटा नागपुर में हिन्दी का प्रचार और प्रचार-कार्य संगठित रूप से सम्पन्न हुआ था। भारतीय सांस्कृतिक मण्डल के सदस्य के रूप में आपने दो बार यूरोप की यात्रा की

१. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १३०-३१
२. बेनीपुरी ग्रन्थावली—भाग १ के आधार पर
३. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण १९५१, पृ० २४२

है।[1] इसके अतिरिक्त बेनीपुरीजी अनेकों सम्मेलनों के सहकारी मन्त्री, संयुक्त मन्त्री और प्रधान भी रह चुके हैं। सन् १६२६ ई० में ये अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेल के प्रचार मन्त्री पद पर थे। सन् १६२० ई० से १६४६ ई० तक आप पटना शहर कांग्रेस कमेटी के सभापति रहे। साथ ही सन् १६५० ई० में सोशलिस्ट पार्टी (बिहार के पालियामैण्टरी बोर्ड) के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।[2] आप कांग्रेस के कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं देश-सेवी हैं। आजकल आप पटना की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'नई धारा' का सम्पादन कर रहे हैं।

कृतियाँ—बेनीपुरीजी की साहित्यिक कृतियाँ बहुत-सी हैं। हिन्दी-साहित्य को इन्होंने बहुत-कुछ दिया है। इधर आप अपनी सभी रचनाओं का सुसज्जित संस्करण 'बेनीपुरी ग्रन्थावली' के नाम से निकाल रहे हैं, जिसके दस खण्ड सज-धज के साथ क्रमशः प्रकाशित होंगे। इस ग्रन्थावली के अब तक दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। बेनीपुरीजी ने कहानी, उपन्यास, नाटक (एकांकी-रूपक), संस्मरण, निबन्ध, भाषण, जीवनियाँ, टीकाएँ, बाल-साहित्य तथा यात्रा-भ्रमण सम्बन्धी सभी प्रकार का साहित्य लिखा है। हिन्दी यात्रा-सम्बन्धी साहित्य में उनकी केवल दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं: 'पैरों में पंख बाँधकर' एवं 'उड़ते चलो उड़ते चलो'। दो पुस्तकें और भी है 'पेरिस नहीं भूलती' एवं 'मेरे तीर्थ' परन्तु अभी तक ये दोनों पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो सकी हैं।[3] यात्रा-साहित्य के प्रकाशित दोनों ग्रन्थों की शैली भी इनकी अपनी निजी है। वह अधिकांश प्रतीकात्मक है। इसमें नवीनता की ओर झुकाव अधिक जान पड़ता है। प्रमुखतया ये प्रयोगवादी या प्रतीकवादी शैली का प्रयोग करते हैं। इनके यात्रा-साहित्य सम्बन्धी निबन्धों में विषय का प्रतिपादन मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर हुआ है। ये अधिकतर संस्मरणात्मक गद्य-शैली में है, उनमें कहानी की-सी रोचकता है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संचालकमण्डल के आप प्रमुख सदस्यों में से हैं। आपकी 'माटी की मूरतें' भारत सरकार की साहित्यिक अकादमी द्वारा भारत की सभी भाषाओं में अनूदित हो रही हैं। भारत सरकार ने इस पुस्तक पर २००० रु० और 'बेटे हों तो ऐसे' नामक बालोपयोगी पुस्तक पर ५०० रु० के पुरस्कार देकर आपको सम्मानित किया है।[4]

पैरों में पंख बाँधकर—२७० पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन लोकसेवक प्रकाशन, वाराणसी से सन् १६५२ ई० में हुआ था। बेनीपुरीजी ने इस पुस्तक में

---

१. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण, १६५१, पृ० २४२
२. बेनीपुरी ग्रन्थावली—भाग १ के आधार पर
३. लेखक के नाम आए श्री रामवृक्ष बेनीपुरीजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर
४. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हि० सा० सम्मेलन के अभिभाषण १६५१, पृ० २४२

अपनी इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, स्विटज़रलैण्ड एवं पेरिस की हवाई-यात्रा का सुन्दर वर्णन दिया है। यह सम्पूर्ण यात्रा डायरी-शैली में लिखी गई है। झील के दृश्य को देखकर वे लिखते हैं :—

"तो सामने झील लहरा रही है—हाँ, लहरा रही है, देखिए न सामने लहर-ही-लहर तो है और उन लहरों को चीरती हुई वह अग्निबोट तो दूर निकल गई है, किन्तु आस-पास कितनी नावें दौड़ रही हैं। रंग-बिरंगे गन्दोले, मानों चिड़ियाँ रंगीन पंखों को फैलाये लहरों पर चक्कर काट रहीं। झील के उस पार पहाड़ियाँ। पहाड़ों पर बर्फ की धारियाँ—मानों शिवशंकर धारीवाल की धारीदार की कम्बल ओढ़कर बैठे हों। चोटियो के ऊपर बादल उड़ रहे, कभी चोटियों को ढँक देते। कभी चमका देते। पहाड़ियों की कई पाँतें मानों, स्वर्ग की सीढ़ियाँ हों।"[१]

उड़ते चलो, उड़ते चलो—श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी की यह पुस्तक १५ अगस्त, सन् १९५४ ई० को प्रभात प्रेस, पटना से प्रकाशित हुई थी। २९९ पृष्ठों की इस पुस्तक में बेनीपुरीजी ने अपनी हवाई-यात्रा को डायरी-रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें विशेषकर फ्रान्स, इंग्लैण्ड, स्विटज़रलैण्ड और इटली का यात्रा-वर्णन दिया गया है। अपनी यात्रा में देखे गए विदेशी दूतावास और रंगभूमि, चिड़ियाखाना, फूलवाड़ी, रंगमंच, वेनिस का देहात आदि सभी स्थानों का सुन्दर और विस्तृत वर्णन बेनीपुरी-जी ने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। बादलों का वर्णन करते हुए ये लिखते हैं:—

"ये बादल, भूरे बादल, एक-पर-एक लदे बादल, रुई के समुद्र-से, गाले के समुद्र-से लग रहे हैं। और, यह लालिमा क्षण-क्षण, पल-पल रंग बदल रही है। क्या कोई कैमरा भी उसके इस परिवर्तनशील सौन्दर्य को पकड़ सकता है—फिर कलम क्या करे।"[२]

श्री योगेन्द्रनाथ सिनहा

जीवनी—श्री योगेन्द्रनाथ सिनहा का जन्म सन् १९०३ ई० में बिहार के शाहाबाद जिले में हुआ था। सन् १९२० ई० में इन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रीकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर १५ रुपए मासिक की डिवीजनल छात्रवृत्ति पाई। ये आई०एस० सी० भी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण हुए और सम्पूर्ण पटना विश्वविद्यालय में तृतीय होने के कारण इन्हें २५ रु० मासिक छात्रवृत्ति दी गई। इन्होंने भौतिक-विज्ञान में बी० एस-सी० (आनर्स) की डिग्री प्राप्त की। इन्हें द्वितीय श्रेणी की विशेषता मिली (उस वर्ष प्रथम श्रेणी किसीको नहीं मिली थी)[३] और विश्वविद्यालय-भर

---

१. पैरों में पंख बाधकर—श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० २५८

२. उड़ते चलो, उड़ते चलो—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० १०

३. दुनिया की सैर—प्राक्कथन से उद्धृत—ले० डा० सच्चिदानन्द सिंह, बैरिस्टर, डी० लिट०, पृ० ६, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना—सन् १९४१ ई०

में ये द्वितीय थे। सन् १९२५ ई० में ये एम० एस-सी० की पढ़ाई पूरी कर चले थे, पर उसी वर्ष इन्होंने बिहार-उड़ीसा के वन-विभाग की प्रतियोगिता परीक्षा दी, और उसमें उत्तीर्ण होनेवालों में सर्वप्रथम रहे। नौकरी मिल जाने के कारण इन्हें कालेज की पढ़ाई छोड़नी पड़ी।[1]

सिनहाजी को यात्राओं से विशेष रुचि रही। देहरादून के जंगल कालेज में दो वर्ष शिक्षा पाने के बाद ये सन् १९२८ ई० में फारेस्ट आफिसर नियुक्त हुए। तब इनकी यात्रा की इच्छा ने विशेष जोर मारा। विदेश यात्रा की इनमें विशेष आकांक्षा थी। हिन्दुस्तान ये अच्छी तरह से घूम चुके थे।[2]

कृतियाँ—हिन्दी के यात्रा-साहित्य पर इनकी 'दुनियाँ की सैर' नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक है जो लहेरिया सराय, पटना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित हुई थी। ३१४ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने सारी दुनिया की सैर का विवरण दिया है। यह पुस्तक लेखक ने पहले अंग्रेजी में 'राउण्ड दी वर्ल्ड' के नाम से प्रकाशित कराई थी। पुस्तक का अधिकांश भाग लेखक द्वारा अपने मित्रों को विदेश से भेजे गए पत्रों का सग्रह है, जो बड़े सुसंगठित रूप में लिखा गया है। क्योंकि पुस्तक की भूमिका में सिनहाजी ने स्वयं ही लिख दिया है : "इन दोस्तों का आग्रह था कि मैं जिस-जिस देश में जाऊँ वहाँ का पूरा वर्णन इनको लिखता रहूँ।"[3] पत्रों की स्वाभाविक भाषा में इग्लैण्ड, फिनलैण्ड, स्वीडन, बर्लिन, अमेरिका, जापान, सिंगापुर आदि देशों की यात्रा का वर्णन और लेखक पर उसका प्रभाव विदित होता है। समयाभाव के रहते हुए भी लेखक ने संसार की परिक्रमा करके अपनी बहुत बड़ी आकांक्षा की पूर्ति की है। स्विटज़रलैण्ड का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"दक्षिण की ओर गगनचुम्बी अनन्त हिमाच्छादित आल्पस पर्वत और शेष सभी जगह पहाड़ियाँ, जिनके बीच-बीच घाटियाँ और झीलें हैं। इन घाटियों में जहाँ-तहाँ गाँव या अलग-अलग मकान बिखरे हुए हैं।"[4]

श्री यशपाल

जीवनी—यशपालजी हिन्दी के जाने-माने प्रगतिशील कथाकार हैं। आपका जन्म सन् १९०४ ई० में कांगड़ा नामक पर्वतीय प्रदेश में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल-कांगड़ी मे हुई थी। वहाँ उन्होंने सातवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। गरीबी के वातावरण में उन्हें उसी जीवन में तिरस्कार मिला जिसकी प्रतिहिंसा उनके मन में हुई। पुनः डी० ए० वी० स्कूल, लाहौर में भरती हुए और १९१९ में रौलट

१-२. दुनिया की सैर—योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० १०

३. वही, भूमिका से—लेखक योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० ५

४. दुनिया की सैर—योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० ६४

ऐक्ट आन्दोलन के बाद फीरोज़पुर अपनी माताजी के पास चले गए। वह वहाँ पर आर्यकन्या पाठशाला में अध्यापिका थीं। लाला लाजपतराय द्वारा संस्थापित नेशनल कालेज, लाहौर से उन्होंने बी० ए० और प्रभाकर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। पं० उदयशंकर भट्ट आपको प्रारम्भ से ही लिखने के लिए प्रोत्साहन देते रहते थे। इसी कारण सन् १९२० से वे बराबर लिखने लगे। प्रारम्भ में उन्हें नाटक खेलने की बड़ी रुचि रहती थी। पहले ये सरदार भगतसिंह और सुखदेव-जैसे क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में थे, क्योंकि ये दोनों ही इनके सहपाठी थे। ये कांग्रेस के अनुयायी कार्यकर्ता थे परन्तु १९१९ में गांधीजी द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन के स्थगित किए जाने पर कांग्रेस के प्रति इनमें विरक्ति की भावना जागी। आप अपनी राजनीतिक और साहित्यिक प्रवृत्ति को एक ही समझनेवाले हमारे विशिष्ट कलाकार हैं। आपने राजनीतिक आन्दोलनों के कारण जेल-यात्रा भी की है। यशपालजी को बंगला, फ्रेंच, इटैलियन, रशियन और उर्दू का भी पूर्ण ज्ञान है। आपने 'विप्लव' नामक पत्र भी निकाला परन्तु १९४१ में पुनः गिरफ्तार हो जाने के कारण विप्लव बन्द हो गया। १९४७ ई० में विप्लव का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ।

यशपालजी हिन्दी के उन लेखकों में है जो साहित्य को साधन मानते हैं तथा साहित्य के द्वारा क्रान्ति की भूमिका तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दी के गौरवशाली कथाकारों में वे एक हैं। इनके लेखन का अपना ढंग है। वे विदेशी क्रान्तिकारी लेखकों की परम्परा में भारतीय अग्रदूत हैं। उनके लेखन का दृष्टिकोण व्यापकता तथा अनुभूति की सत्यता बड़े-बड़े लेखकों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। ये बहुत ही सरल स्वभाव के मिष्टभाषी व्यक्ति हैं। आजकल आप अपने विप्लव कार्यालय, शिवाजी मार्ग, लखनऊ मे ही रहते हैं।

कृतियाँ—हिन्दी के यात्रा-सहित्य पर यशपालजी की दो पुस्तकें हैं : 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' और 'राहबीती'।

लोहे की दीवार के दोनों ओर—३४५ पृष्ठों की यह पुस्तक जुलाई १९५३ ई० में विप्लव कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में अपनी राजनीतिक यात्रा के साथ ही यशपालजी ने सोवियत देश और पूँजीवादी देशों के जीवन और व्यवस्था का आँखोंदेखा तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। यूरोप-यात्रा में लोहे की दीवार के उस ओर के वर्णन में मास्को के स्टेडियम, स्कूल, थियेटर, बाजार, लेनिन पुस्तकालय, प्रवदा प्रेस, कला-भवन, अस्पताल, मास्को विश्वविद्यालय एवं अन्य सांस्कृतिक प्रासादों का वर्णन किया। लोहे की दीवार के इस ओर के वर्णन में वियना और लन्दन को विशेष महत्त्व दिया गया है। विदेश-यात्रा में देखे गए सारे देशों के वर्णनों को अपनी प्रतिभा और विशुद्ध कला के द्वारा राजनैतिक निबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गुर्जी देश के दृश्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सभी चोटियाँ बर्फ से ढकी हुई थीं। भाग्य से सूर्य भी निकला हुआ था। छोटी-बड़ी अनेकों बर्फीली चोटियों के जमघट में चोटियों के कुछ भाग सूर्य के सम्मुख

होने के कारण उज्ज्वल और कुछ विमुख होने के कारण श्यामल जान पड़ रहे थे। कुछ चोटियों से सुनहरी, कुछ से गुलाबी और कुछ से नीली आभा झलक रही थी और कुछ श्वेत थीं। दर्शक को निर्वाक कर देनेवाला एक अद्‌भुत सौन्दर्य।"[१]

राहबीती—यशपालजी की यह पुस्तक दिसम्बर, १९५६ में विप्लव कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। १७९ पृष्ठों की इस पुस्तक में यशपालजी ने अपनी पूर्वी यूरोप की यात्रा का वर्णन किया है। चैकोस्लोवेकिया की राजधानी प्राग से लेखक को कांग्रेस में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला था। इस निमन्त्रण को पाने के बाद ही यशपालजी ने आकाश-यात्रा की तैयारी की। इस यात्रा में वे रोम, रूमानिया, काबुल आदि स्थानों को गए थे। इसका विवरण भी पुस्तक में दिया गया है। पोस्टडाम का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"नाजियों को पराजित करती हुई पोस्टडाम के मार्ग से ही बर्लिन की ओर बढ़ी थी। इस नगर पर घनघोर बम-वर्षा हुई थी। नगर के चौक में पुराने विशाल, प्रशस्त, गगनचुम्बी गिर्जे आज भग्न और झुलसे हुए कंकालों की भाँति दिखाई देते हैं। किसी गुम्बद का एक पार्श्व गोलों की मार से उड़ जाने के कारण कंकाल के खुले टूटे हुए जबड़े के समान जान पड़ता है। राजप्रासाद की छतें उड़ गई हैं। स्थान-स्थान पर टूटी हुई दीवारें मात्र खड़ी हैं। उन प्रकाण्ड कंकालों से मूक रोदन आकाश की ओर उठता जान पड़ता है। उस प्रकाण्डता में दैन्य कितना हृदय द्रावक था!"[२]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

जीवनी—राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक उत्थान के कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सन् १९०८ ई० में मुंगेर जिलान्तर्गत सिमरिया गाँव में हुआ था। १९३२ ई० में आपने पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० (ऑनर्स) परीक्षा पास की। आप विभिन्न सरकारी कार्यों के अतिरिक्त अध्यापक का भी कार्य कर चुके हैं और सम्प्रति राज्यपरिषद् के सदस्य हैं। सन् १९३५ ई० तक आपकी ख्याति हिन्दी जगत् में हो चुकी थी। बिहार प्रान्तीय कवि-सम्मेलन, छपरा के ये सभापति भी हुए। इन्हें राजनीति, इतिहास एवं दर्शन से विशेष प्रेम है। दिनकरजी हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और उर्दू का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। आप सन् १९५२ ई० से केन्द्रीय संसद् के सदस्य हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संचालकमण्डल, केन्द्रीय सरकार द्वारा संगठित राजभाषा आयोग, सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सेन्सर (बम्बई), प्रोग्राम एडवाइजरी कमेटी (आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली) और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के भी मान्य सदस्य हैं। आपकी रचना 'कुरुक्षेत्र' पर साहित्यकार संसद्

---

१. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० २२२

२. राहबीती—यशपाल, पृ० ११८

(प्रयाग) ने एक हजार रुपये, उत्तर प्रदेश सरकार ने बारह सौ रुपये, भारत सरकार ने दो हजार रुपये के पुरस्कार प्रदान किए हैं, और नागरी प्रचारिणी सभा ने द्विवेदी पदक प्रदान किया है।[१] दिनकरजी कवि-हृदय व्यक्ति हैं। भारतीय संस्कृति से इन्हें विशेष प्रेम है और इसी कारण इन्होंने गहरा अध्ययन भी किया है। सन् १९२१ ई० से ही राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति आपकी ममता थी तथा आपकी रचनाओं में सहज ही राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। इनका व्यक्तित्व इनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से झलकता है।

कृतियाँ—दिनकरजी के काव्य एवं निबन्ध सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हैं परन्तु हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी केवल एक पुस्तक 'देश-विदेश' नाम से प्रकाशित हुई है। १२८ पृष्ठों की यह पुस्तक उदयाचल प्रकाशन, पटना से सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुई थी। दिनकरजी ने इस पुस्तक में अपनी देश और विदेश दोनों प्रकार की यात्राएँ संगृहीत कर दी हैं। देशीय यात्राओं में काश्मीर की सैर और सौराष्ट्र का भ्रमण वर्णित है तथा विदेशीय स्थानों की यात्राओं में यूरोप-यात्रा, पोलैण्ड-यात्रा आदि का विवरण दिया गया है। इस यात्रा में वहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन, भाषा और साहित्य एवं वहाँ के मनोरंजन सम्बन्धी आयोजनों पर भी प्रकाश डाला गया है तथा अपनी यूरोप-यात्रा का सम्पूर्ण विवरण दिया गया है। काश्मीर के कमल की शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"कमलों की जैसी शोभा काश्मीर में है, वैसी देश में अन्यत्र, शायद ही कहीं होगी। मानसबल के किनारे बैठे-बैठे मन में अनायास यह भाव उठा कि, हो-न-हो, कालिदास ने काश्मीर में ही कमल की पूरी महिमा समझी होगी और यहीं उनके भीतर यह अनुभूति उत्पन्न हुई होगी कि कमल भारतवर्ष का राष्ट्रीय पुष्प है।[२]

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१० ई० में अपनी माता के घर गाजीपुर के दुबिदा ग्राम में हुआ था। जन्म-काल की सही तिथि माता-पिता को भी ज्ञात नहीं थी, अतः इन्होंने स्वयं ही अपना जन्म-काल ३ जून सन् १९१० ई० निर्मित कर लिया। पैतृक वंश जिला बलिया के अंजियार ग्राम का है। वहीं आपकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। इनके पूज्य पिता पण्डित रघुनन्दन उपाध्याय वैदिक संस्कृति और दर्शन के प्रसिद्ध वेत्ता और कट्टर आर्यसमाजी थे। बलिया में ही उन्होने वकालत आरम्भ की थी, बाद में प्रयाग हाईकोर्ट में बहुत दिन रहे और वहीं सुप्रीम कोर्ट के एडवोकेट होकर जीवन-यात्रा समाप्त की।

---

१. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण, १९५९

२. देश-विदेश—रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० २५

भगवतशरणजी अपने पिता की अकेली सन्तान हैं। गांधीजी के बुलाने पर आप सन् १९२२ ई० में स्कूल छोड़कर असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। देश की पुकार के कारण गिरफ्तार भी हुए और सरकार की आज्ञाओं तथा कानूनों के उल्लंघन-फलस्वरूप इन्हें डेढ़ वर्ष का कारावास भी हुआ। उस समय इनकी आयु १३ वर्ष की थी, शायद भारत के सबसे अधिक नवयुवक कैदी यही थे। जेल से छूटकर इन्होंने संस्कृत का गूढ़ अध्ययन किया। संस्कृत के व्याकरणिक सूत्रों के साथ ही गीता और उपनिषद् का भी खूब अध्ययन किया। उपनिषद् के अध्ययन के बाद से मानव की नश्वरता और शक्ति पर विश्वास करने लगे। बाद में इन्होंने वाराणसी, प्रयाग और लखनऊ की शिक्षा-पद्धति पर आन्दोलन उठाया। भारत-भ्रमण करने के साथ ही कला, म्यूज़ियम तथा ऐतिहासिक स्थानों का दर्शन किया। २४ जनवरी सन् १९४४ ई० को पटना में पत्नी का देहान्त हो गया। उसी समय से वाराणसी विश्वविद्यालय के शिक्षकों के सहयोग से 'रिसर्च जनरल' का सम्पादन किया। साथ ही हिन्दी, अंग्रेजी और अमरीकन पत्रिकाओं में लिखना आरम्भ किया। तीन वर्ष पश्चात् वाराणसी विश्वविद्यालय छोड़कर १९४० ई० में उत्तर प्रदेश सरकार की सेवा के लिए आप प्रान्तीय म्यूज़ियम के आरक्योलाजिकल विभाग के आफिस-इंचार्ज के पद पर आए। फरवरी १९४४ ई० में सरकारी नौकरी छोड़कर बिड़ला कालेज, पिलानी में इतिहास के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए और ३ वर्ष बाद कालेज छोड़ दिया, इसके बाद मालाबार की एक नैयरवंशीय अम्बेरडर ए० सी० नुम्बियर की पुत्री देवकी अम्मा (जो कि अब बिड़ला आर्ट कालेज, पिलानी की प्रिंसिपल हैं) से विवाह किया। इनकी पत्नी भारतीय ऐतिहासिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम महिला हैं जिन्होंने लड़कों के कालेज का सम्पूर्ण भार ग्रहण किया। फिर उपाध्यायजी फ्रांस की एक प्रसिद्ध ऐटामिक वैज्ञानिक संस्था द्वारा पेरिस में भाषण के लिए बुलाए गए। इसके पश्चात् अमरीका एवं यूरोप में इतिहास, भारती संस्कृति तथा कला पर भाषण दिए। विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं के मेहमान के रूप में इन्होंने विदेश का भ्रमण किया और ऑनरेरी डिगरियाँ प्राप्त कीं। एक बार सम्पूर्ण संसार और अमरीका का तथा दो बार यूरोप का, तीन बार मिडिल ईस्ट आदि का भ्रमण किया। हैदराबाद में रहकर ऐशियन स्टडीज़ इन्स्टीच्यूट का निर्माण और कुछ वर्षों तक उनका संचालन किया। एशिया में अपने ढंग का यह एक ही इंस्टीच्यूट है, जो ईजिप्ट, बेवीलोन और असीरिया के इतिहास और संस्कृति तथा भारत की संस्कृति पर शोध-कार्य के लिए निर्मित हुआ है। जनवरी १९५७ ई० से आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में भारत सरकार की द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में तैयार किए जानेवाले हिन्दी विश्वकोष के सम्पादन का कार्य कर रहे हैं। आप हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रेंच, ईजिप्शियन तथा असीरियन, बंगला, मराठी, गुजराती को पूर्ण अधिकार से लिखनेवाले एवं अच्छे वक्ता हैं।*

---

*लेखक के नाम आए डा० भगवतशरण उपाध्याय के व्यक्तिगत पत्रों एवं सम्पर्क के आधार पर.

कृतियाँ—डा० भगवतशरणजी की अब तक हिन्दी और अंग्रेजी में ७५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ अब भी अप्रकाशित हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य पर आपकी ६ पुस्तकें हैं—

१. विश्वयात्री
२. वह दुनियाँ
३. लाल चीन
४. कलकत्ता से पेकिंग
५. भारत-भ्रमण[1]
६. सागर की लहरों पर (६ भागों में)[2]

विश्वयात्री—उपाध्यायजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४७ ई० में ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना से हुआ था। यह पुस्तक ऐतिहासिक आधारों से अधिक पूर्ण होने के कारण यात्रा-साहित्य के विशेष महत्त्व की नहीं है।

वह दुनियाँ· डा० भगवतशरण उपाध्याय की यात्रा-साहित्य पर यह दूसरी पुस्तक है। सन् १९५२ ई० में यह आलोक प्रकाशन, बीकानेर से प्रकाशित हुई थी। २३८ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने इसराइल, कनाडा, संयुक्त-राष्ट्र अमरीका, इंग्लैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड, बेलिजयम, फ्रांस, स्विटज़रलैण्ड, ग्रीस, मिस्र आदि देशों के रेखाचित्र दिए हैं। इन यात्रा-स्थलों के रेखाचित्रों में सांकेतिक स्कैच का रूप अधिक है, यात्रा-विवरण सम्बन्धी वृत्तान्त कम। इन यात्रा-सम्बन्धी स्मरणात्मक रेखाचित्रों के शीर्षक बड़े ही आकर्षक हैं। यूरोप और अमरीका की दुनियाँ के रात और दिन और सन्ध्याएँ, लेक सक्सेस, फशिंग मेडो, न्यूयार्क की कालोनी, नई दुनिया की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, रोम और ग्रीस तथा पाशाओं के देश, पिरामिडों की छाया आदि के रेखाचित्र बड़े सुन्दर और कलात्मक बन पड़े हैं।

लालचीन—उपाध्यायजी की इस पुस्तक का प्रकाशन १९५३ ई० में दीनानाथ भार्गव तीरथराज प्रेस, इलाहाबाद से हुआ था। इसमें लालचीन की संक्षिप्त यात्रा वर्णित की गई है। पुस्तक यात्रा-साहित्य के अधिक महत्त्व की नहीं है, इसलिए विस्तृत विवरण नहीं दिया जा रहा है।

कलकत्ता से पेकिंग—भगवतशरणजी की यात्रा-सम्बन्धी इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५५ ई० में राजपाल एण्ड संस, दिल्ली से हुआ था। १७३ पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी पेकिंग-यात्रा के रोचक संस्मरणों को लिपिबद्ध किया है। यह पत्रात्मक शैली में लिखी गई है। इसमें हांगकांग, कान्तोन, पेकिंग, शंघाई, कलकत्ता आदि विभिन्न स्थानों से लिखे गए पत्र संगृहीत हैं। इस सम्बन्ध में पुस्तक

---

१. यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है—लेखक
२. यह पुस्तक आजकल प्रेस में है—लेखक

के 'दो शब्दों' में उन्होंने लिखा है : "सन् १९५२ ई० में मैं भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से शान्ति-सम्मेलन में शामिल होने चीन गया था। वहाँ से मैंने अपने मित्रों, स्वजनों को कुछ पत्र लिखे थे। पत्र पानेवाले सभी प्रकार के व्यक्ति थे—अपने परिवार के लोग, मित्र, सम्बन्धी, सरकारी अफसर, कवि, लेखक, उपन्यासकार। कुछ पत्र डाक से डाले गए, कुछ लिखकर पास रख लिए गए। यह 'कलकत्ता से पेकिंग' उन्हीं पत्रों का संग्रह है, उन सभी पत्रों का जो उस काल लिखे गए।[1] पुस्तक सुन्दर है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त को लिखे गए एक पत्र का उद्धरण देखिए—

पेकिंग
२ अक्तूबर, १९५२

कविवर,

कई दिन पहले लिखना चाहता था, पर पेकिंग का समारोह कुछ ऐसे बवण्डर-सा है कि एक बार उससे छू जाने से फिर उसीमे खो जाना पड़ा है। पर आज, जो कई दिनों से गुनता आया था, लिखना ही पड़ा। उचित तो यह था कि कुछ नरम-तरल लिखता, कुछ मर्म की बात, जिससे आपके स्निग्ध आर्द्र मन को ठेस न लगे। पर वह काम मेरा नहीं आपका है—कल्पनाओं की दोला जिसका आधार है, मलय का स्पर्श जिसकी रज्जु है, मकरन्द की सुरभि जिसकी हिलोर है। मैं तो आज की बात लिखने जा रहा हूँ। आज के इस पेकिंग की जिसके आँगन में दूर देशों के तपस्वी, साधक और जनसेवक, कवि और चिंतक एक चित्त से विश्व में युद्ध का विरोध और शान्ति का आह्वान करने आए हैं। जानता हूँ कवि, आपको भी शान्ति की यह अर्चना अभिमत है।[2]

आपका ही
भगवतशरण

डॉ० सत्यनारायण

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१० ई० में हुआ था। १९२१-२२ ई० में आपने एक चर्खा प्रतियोगी के रूप में भारत-भ्रमण किया। ६ मास तक आप साबरमती आश्रम में भी रहे। बेलगाँव-कांग्रेस में स्वयं महात्मा गांधी ने आपको अच्छा कातने की प्रतियोगिता के इनाम-स्वरूप एक स्वर्ण पदक प्रदान किया। डा० पट्टाभि सीतारमैया के साथ आपने गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास (तेलगू प्रान्त) का

---

१. कलकत्ता से पेकिंग (दो शब्द से)—डा० भगवतशरण उपाध्याय
२. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ११९

और फिर कोलम्बो तथा पांडिचेरी का भ्रमण किया। सन् १९२५ से १९२९ ई० तक आपने काशी विद्यापीठ में अध्ययन किया। सन् १९३० में आपने साइकिल पर कोलम्बो और मिस्र होते हुए नेपल्स (इटली), आस्ट्रिया और जर्मनी (जहाँ आपने अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट प्राप्त की) और रूस की यात्रा की।[1] सन् १९२५ से १९२९ ई० में जब आप काशी विद्यापीठ के विद्यार्थी थे, आपने अपनी पहली पुस्तक 'एशिया की क्रान्ति' लिखी थी जो बाद में जब्त हो गई थी। सन् १९३५ ई० में आप आस्ट्रिया, हंगरी और कई स्विस न्यूज़ एजेन्सियों के प्रतिनिधि की हैसियत से नूरेनबर्ग की नरसी पार्टी कांग्रेस में सम्मिलित हुए। अबीसीनिया पर हुए इटली के आक्रमण के समय आप वहाँ शाही मेहमान और एक पत्रकार के रूप में उपस्थित थे। सन् १९३६ ई० में आप भारत लौटे। आपको हिन्दी से अनन्य प्रेम है। आप घुमक्कड़ स्वभाव के हैं।

कृतियाँ—सत्यनारायणजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर भी कई पुस्तकें लिखी हैं। यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों में अब तक आपकी यूरोप के झकोरे में, रोमांचक रूस में, युद्ध यात्रा तथा अजाने रास्ते प्रकाशित हो चुकी हैं। 'रोमांचक रूस में' नामक पुस्तक का प्रकाशन बँगला में भी हो चुका है तथा अन्य यात्रा-वर्णन जर्मनी में भी प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त टेंकयुद्ध, हवाई युद्ध, चढ़ाई के मोर्चे पर, जीवन-संघर्ष तथा अपराजित अबीसीनिया नामक अन्य पुस्तकें भी आपने लिखी हैं परन्तु इनमें यात्रा-वृत्तान्त नहीं है। इनके यात्रा-ग्रन्थों का परिचयात्मक वर्णन निम्न प्रकार का है।

यूरोप के झकोरे में—इस पुस्तक का प्रथम संस्करण वर्तमान संसार कार्यालय, चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता से सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ था। दूसरा संस्करण हिन्दी विश्वभारती कार्यालय, चारबाग, लखनऊ से १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह वास्तविक रूप में न उपन्यास है, न भ्रमण-वृत्तान्त ही। इसका नाम केवल चित्र दिया जा सकता है—यह पुस्तक स्मृति-पट का चित्र है। यह 'आवारे की यूरोप यात्रा' के नाम से भी प्रकाशित हुई। इसमें उसीका रूपान्तर है तथा कई अंश बिलकुल ही नए जोड़ दिए गए हैं। राइन, हाइडिलबर्ग, डेनमार्क आदि की यात्राओं एवं अन्य भ्रमण-वृत्तान्तों को इसमें संगृहीत किया गया है। ३११ पृष्ठों की यह सुन्दर पुस्तक है, जो पाँच खण्डों में विभाजित है।

रोमांचक रूस में—सत्यनारायणजी की यह पुस्तक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई में नाथूराम प्रेमी द्वारा प्रथम बार सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह एक भ्रमण कहानी के रूप में लिखी गई है। इनकी यूरोप यात्रा नेपल्स में समाप्त होती है। दोनों यात्राओं की वर्णन-शैली भी कुछ एकसी है।

---

१. विशालभारत—जनवरी, १९४१

युद्ध-यात्रा—यह पुस्तक सन् १९४० ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। ४०८ पृष्ठों की इस यात्रा-पुस्तक में सत्यनारायणजी ने अपनी युद्ध-यात्रा वर्णित की है। डॉ० साहब अबीसीनिया युद्ध के समय एक पत्रकार की हैसियत से अबीसीनिया गए थे। अफ्रीका की जंगली जातियों के बीच, जो प्रतिक्षण अजनबियों को मार डालने को तैयार रहती थी, सत्यनारायणजी ने टट्टू पर चढ़कर युद्ध-क्षेत्र की यात्रा की थी। इस यात्रा-ग्रन्थ में उसीका मनोरंजक वर्णन है। इस सचित्र पुस्तक में युद्ध का जो रोमांचकारी चित्रण किया गया है वह बड़ा ही सच्चा है।

अजाने रास्ते—यह पुस्तक जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। इसमें कीर्तिलब्ध लेखक और उत्साही पर्यटक ने यात्रा की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है। यह एक अल्हड़ पर्यटक की जीती-जागती रोमांसमयी भ्रमण-कहानी है। यात्रा-सम्बन्धी इस पुस्तक में युद्धोत्तर यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की आँखोंदेखी घटनाओं को लेखक ने एक कथानक का रूप देकर पुस्तक को उपन्यास से भी अधिक आकर्षक एवं मनोरंजक बना दिया है। नारवे का वर्णन करते हुए सत्यनारायणजी ने लिखा है—

"नारवे का यह अंचल हमें एक विराट चित्रालय सरीखा दीखता है। समुद्र का नील वक्षस्थल पटभूमि बनाता है। कलाकारों की-सी नीरवता धारण किए पहाड़, उस पर वृक्ष और जंगलों की कूची फेरा करते हैं।[1]

श्री अज्ञेय

जीवनी—आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। पिता डॉ० हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० पुरातत्व विभाग में हैं तथा कर्त्तारपुर (पंजाब) के निवासी हैं। वे कसिया, गोरखपुर में जब खुदाई का काम करा रहे थे तब वहीं ७ मार्च, १९११ ई० को अज्ञेयजी का जन्म हुआ था। अज्ञेयजी अपने पिताजी के साथ अनेक प्रान्तों मे रह चुके हैं और वहाँ के स्कूलों में पढ़ चुके हैं। सन् १९२५ ई० में एक मद्रासी मास्टर से पढ़कर प्राइवेट मैट्रिक पास किया, तदनन्तर इण्टर की परीक्षा भी मद्रास से पास की। बी० एस-सी० की परीक्षा सन् १९२९ ई० में लाहौर से पास की। एम० ए० में अंग्रेजी लेकर डेढ़ वर्ष तक पढ़ चुके थे कि जब नवम्बर, १९३० ई० में क्रान्तिकारी आन्दोलन में गिरफ्तार हो गए। लिखने की रुचि तभी से है जब से विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। सन् १९२४ ई० में प्रथम कहानी इलाहाबाद की स्काउटिंग पत्रिका 'सेवा' में छपी थी। जेल में बहुत-सी कहानियाँ तथा कविताएँ लिखीं जो क्रमशः १९३२ से पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं।[2]

---

१. अजाने रास्ते—डा० सत्यनारायण, पृ० ३

२. इक्कीस कहानियाँ—सम्पादक राय कृष्णदास एवं वाचस्पति पाठक, पृ० ३११, पंचम संस्करण—सं० २००५, प्रयाग

वह हमारे समक्ष कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक, आलोचक, निबन्ध-लेखक, गद्यगीत-लेखक, पत्रकार, यात्रा-साहित्य लेखक एवं उच्चकोटि के मनोविश्लेषक के रूप में आते हैं। हिन्दी मासिक पत्रिका 'विशाल भारत' के भूतपूर्व सम्पादक भी आप रह चुके हैं। केवल 'विशाल भारत' ही नहीं वरन् सैनिक, भारती तथा प्रतीक जैसे पत्रों का सम्पादन भी आपने किया है। आज भी आप 'प्रतीक' का सम्पादन कर रहे हैं। अज्ञेयजी ने हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों में रचनाएँ की हैं, विशेषकर उपन्यास तथा काव्य की। अज्ञेयजी प्रधानतया प्रतीकवादी हैं। प्रयोगवाद के प्रवर्तक हैं और अपने प्रयोग सम्बन्धी विचारों और उस परम्परा की कविताओं को प्रकट करनेवाले प्रतीक नामक साहित्यिक पत्र निकालते रहे हैं। आप लाक्षणिक कलाकार हैं। इनकी व्यंजना लक्षणा पर आरूढ़ रहती है। प्रकृति की उड़ती हुई चित्रावली में ये नवीन शैली के चित्रकार के समान चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। उनकी शक्ति व्यापकता में नहीं, निगूढ़ता में है। अज्ञेयजी का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है, उन्होंने हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य की नवीनतम चेतना की अवतारणा की है। अपने युग के महान कलाकारों से प्रेरणा लेना निन्द्य नहीं है। स्वयं प्रेमचन्द ने तालस्ताय, गोर्की, डिकेन्स आदि कलाकारों से प्रेरणा ग्रहण की थी। विचारणीय है कि प्रेरणा का यह स्रोत भारतीय जन-चेतना का परिष्कार करने में सहायक सिद्ध होगा या नहीं। अज्ञेयजी की प्रेरणा के स्रोत टी० एस० इलियट, जेम्स ज्वायस, बोदलेयर, मलार्मे, प्रस्त, इजरा पाउण्ड, जीनपाल साजे आदि कलाकार है।[1]

कृतियाँ—अज्ञेयजी की हिन्दी-साहित्य में बहुत-सी कृतियाँ हैं। आपकी रचनाओं में कल्पना की संकेतात्मकता और बौद्धिकता अधिक रहती है, भावात्मक प्रवाह एवं अनुभूति की सर्वसुलभ अभिव्यक्ति कम। शैली के निखार की दृष्टि से 'अज्ञेय' का कृतित्व महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी गद्य को बौद्धिक सूक्ष्मता प्रदान की है। हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अरे यायावर रहेगा याद' नाम से है। २२८ पृष्ठों का यह ग्रन्थ सन् १९५३ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। इसमें अज्ञेयजी ने अपने जीवन को यायावर का चिरन्तन पथ स्वीकार किया है। अपनी विभिन्न यात्राओं को रेखाचित्र, स्केच और अलंकृतियों का रूप देकर प्रस्तुत किया है। मार्ग के दृश्यों के चित्रों से पुस्तक अलंकृत है। कोंसर-नाग का दृश्यविधान चित्रित करते हुए वे लिखते हैं—

"कोंसरनाग की जिस ढाल पर हम चढ़े थे, उसकी शिरोरेखा वह मर्यादा-रेखा थी। सौन्दर्य को, रंगमय रूप को, हम पीछे छोड़ आए थे, सामने था विराट् और उसके साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया केवल आलोक और निरालोक। यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर जहाँ-

---

१. आलोचना—अंक २, पृ० ७

तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्रलोहित रंगत थी ही, जल में दूध-धुली नीलिमा भी थी ही और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को शिम-शीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बर्फ की चादर में सन्य सोचित गैरिक भाव भी था ही, किन्तु बोध को जो चीज पकड़ती थी, वह दृश्य रंग नहीं, रंगों की अनुपस्थिति में केवल रेखाओं और तलों का बहाव, अन्योन्य-संवर्धक कोणों का रखाव, ऊँचाई, निचाई और गहराई, निराडम्बर महानता···।[1]

श्री लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी'

जीवनी—प्रेमीजी का जन्म वैशाख शुक्ल द्वादशी, २० मई सन् १६१० ई० को लखनऊ में हुआ था। आप स्वर्गीय लाला सुन्दरलाल टण्डनजी के पौत्र तथा स्वर्गीय लाला सरयूप्रसाद टण्डनजी के पुत्र हैं।[2] इनके पूज्य पिता रामायण के बड़े भक्त थे। इन्हें काव्य और संगीत मे उनसे ही बहुत प्रोत्साहन मिला।[3] आपने सन् १६३३ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से बी० ए० एवं सन् १६३४ ई० में साहित्य-सम्मेलन से विशारद की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वकालत की शिक्षा आरम्भ की परन्तु सन् १६३५ ई० में एल-एल० बी० फाइनल में अनुत्तीर्ण होने के कारण इन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। आपने सन् १६३८ ई० में हिन्दी-साहित्य विषय में प्रयाग केन्द्र से सम्मेलन की रत्न परीक्षा एव सन् १६३६ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद आप कालीचरण इण्टर कालेज, लखनऊ में हिन्दी के प्रधानाध्यापक हो गए। प्रेमीजी को हिन्दी-साहित्य से विशेष प्रेम है। स्वभाव से घुमक्कड़ कवि एवं चित्रकार हैं। यात्रा एवं संगीत इनकी प्रधान रुचि है।[4] धार्मिक भावना से आप पूर्ण हैं, इसका प्रमाण 'सयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान' नामक पुस्तक है। आजकल आप अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण कर पंजाबी टोला, लखनऊ मे ही रहते हैं और बहुत दिनों से अस्वस्थ है। अस्वस्थ होते हुए भी आप साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं। छरहरे बदन के साथ ही आप बड़े ही मिष्टभाषी और सरल स्वभाव के हैं।

कृतियाँ—टण्डनजी 'प्रकाश' एवं 'खत्री हितैषी' मासिक पत्रों तथा 'पंच-परमेश्वर' और 'होनहार' पाक्षिक पत्रों के भूतपूर्व सम्पादक हैं। हिन्दी में साहित्यिक और आलोचनात्मक बहुत-सी पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं, परन्तु यात्रा-साहित्य पर आपकी तीन पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं। इन पुस्तकों में प्रेमीजी ने अपनी विभिन्न यात्राओं के लेखों को संगृहीत किया है। इसमें से कुछ लेख सन् १६४०-४१ ई० की

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ० ११२
२. लेखक के व्यक्तिगत वार्तालाप के आधार पर
३. सम्मेलन के रत्न—सिद्धिनाथ दीक्षित 'सन्त', पृ० २०६
४. लेखक द्वारा लिए गए व्यक्तिगत इण्टरव्यू के आधार पर

'सुधा' पत्रिका में भी निकले थे। इनके यात्रा-साहित्य सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं : संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ (१६४३), संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान (१६४५) तथा प्रमुख भारतीय तीर्थ-स्थान (१६५०)।

संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ—ठण्डजी की यह पुस्तक सन् १६४३ ई० में गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। एक वर्ष बाद ही इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हुआ था। २४२ पृष्ठों की इस यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक में टण्डनजी ने वस्तुतः भिन्न-भिन्न समय में छपे हुए १२ लेखों को संगृहीत किया है। यह एक प्रकार से उनकी आपबीती सुखद घटनाओं का वर्णन है। इसमें उन्होंने हरिद्वार, यमुनोत्तरी-गंगोत्तरी, केदारनाथ, बदरीनाथ, देहरादून, मसूरी, नैनीताल, अल्मोड़ा, विन्ध्याचल, चुनारगढ़ एव चित्रकूट का यात्रा-विवरण दिया है। यात्रा-प्रेमी होने के साथ-साथ आप एक कुशल कवि और चित्रकार भी हैं, अतः कोई भी मर्मस्पर्शी दृश्य आपकी दृष्टि से बच नही सका है। जहाँ शब्दचित्र पर्याप्त नहीं समझा गया है, वहाँ कैमरे से काम लिया गया है, जो पाठकों के सम्मुख दृश्यों को प्रत्यक्ष कर देता है। पर्वतीय स्थानों का विवरण बहुत ही सुचारु रूप से दिया गया है। सरल और रोचक भाषा-शैली में उनके वर्णन बहुत ही सुन्दर हैं।

संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान—टण्डनजी की यात्रा-साहित्य सम्बन्धी यह पुस्तक भी गंगा ग्रन्थागार से सन् १६४५ ई० में प्रकाशित हुई थी। १७० पृष्ठों की इस पुस्तक में टण्डनजी ने संयुक्त प्रान्त के विभिन्न तीर्थ-स्थानों का विस्तृत वर्णन किया है। विशेषतः काशी, सारनाथ, अयोध्या, प्रयाग, नैमिषारण्य, मिश्रिख, मथुरा, गोला गोकर्णनाथ, देवीपाटन, गढमुक्तेश्वर और रामघाट आदि तीर्थ-स्थानों की यात्राओं का वर्णन है। पुस्तक की भूमिका डॉ० दीनदयालुजी गुप्त (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) द्वारा लिखी गई है। पुस्तक की विशेषता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : "प्रस्तुत पुस्तक में टण्डनजी ने संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थानों का विवरण दिया है, जो रोचक, सूचनात्मक और ज्ञानप्रद है।"[1] बिठूर के दीपदान का मनोरम दृश्यविधान अंकित करते हुए टण्डनजी ने लिखा है :

"खासकर सायंकाल के पश्चात् जब लोग दीपक जलाकर तथा फूल के दोने सजाकर गंगाजी में बहाते हैं, तो एक अपूर्व सुन्दरता उत्पन्न होती है। उस रंग-बिरंगे दृश्य को लोग घाट से बैठकर या नौका-विहार करते समय देखते हैं। रात के समय उस पार के जलते हुए दिए तथा अग्नि बहुत सुन्दर लगते हैं।"[2]

प्रमुख भारतीय तीर्थ-स्थान—टण्डनजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १६५० ई० में जी०आर०भार्गव एण्ड संस, चन्दौसी से हुआ था। ४८ पृष्ठों की इस पुस्तक में

---

१. संयुक्त प्रान्त के तीर्थ स्थान की भूमिका से उद्धृत—डॉ० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट०

२. संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान—लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी', पृ० १२०